

मुद्रक तथा प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके
कागजपर मुद्रित]

संवत् २०३५ प्रथम संस्करण १५,०००

संवत् २०३७ द्वितीय संस्करण २०,०००

(संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

मूल्य दो रुपये

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रथम संस्करणका निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञानका असीम भण्डार है। इसका आशय पूर्णरूपेण समझनेमें मूर्धन्य विद्वानोंकी बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है। इसे समझानेमें अच्छे-अच्छे तत्वालोचक भी अपने आपको असमर्थ पाते हैं; क्योंकि यह स्वयं श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे निःसृत अति रहस्यमयी दिव्य वाणी है।

हमारे श्रद्धेय एवं अधिकांश पाठकोंके लिये सुपरिचित स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा लिखित यह 'गीताका ज्ञानयोग' छोटी-छोटी कड़ियोंके रूपमें 'कल्याण' के ३३ अङ्कोंमें (वर्ष ४८ अङ्क ७ से वर्ष ५१ अङ्क १२ तक) प्रकाशित होता रहा। इसके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें एवं चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्याका प्रस्तुतीकरण अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य भाषा-शैलीमें हुआ है। अनेक परमार्थ-पथपथिक भाई-बहनोंके विशेष आग्रहवश आज वही 'गीताका ज्ञानयोग' पुस्तकके रूपमें आपके हाथोंमें है। यह पुस्तक केवल साधकोंके लाभकी दृष्टिसे लिखी गयी है।

गीताप्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे मेरा यह विनम्र निवेदन है कि ज्ञानयोगद्वारा परमात्म-प्राप्तिकी अनेक सहज एवं अनुभूत युक्तियोंसे युक्त इस ग्रन्थमें वर्णित विषयोंको गहराईसे समझनेका सत्प्रयत्न करें और तदनुसार जीवन बनायें।



श्रीहरि०

विषय-सूची

भीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंका मूल पाठ०० जन्त
भीमद्भगवद्गीताका सक्षिप्त परिचय १-१६

तेरहवाँ अध्याय

श्लोक-संख्या	प्रधान विषय	पृष्ठ
१-१८	क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) ज्ञान और ज्ञेय (परमात्मा)का भक्तिसहित विवेचन ...	१७-१९५
१९-३४	ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुषका विवेचन ..	१९६-२९६
	सूक्ष्म विषय	
१-२	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपका कथन और क्षेत्रज्ञकी परमात्माके साथ एकता तथा ज्ञानका लक्षण .	१७-५५
	(विशेष ध्यान देनेकी बात ३३)	
३	विकारसहित क्षेत्र और प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपको सुननेकी आज्ञा ..	५६-६१
	(विशेषार्थ ५९)	
४	क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विषयमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रका प्रमाण ..	६२-६३
५	क्षेत्रके स्वरूपका कथन .	६३-७२
	(विशेषार्थ ७०)	
६	क्षेत्रके विकारोंका कथन .	७२-८६
	(विशेषार्थ ८२)	

७-२१

ज्ञान (बोध) प्राप्तिके २० उपायोंका कथन

८६-

(विशेषार्थ ८७, अमानित्व ८९ और अमानी होनेका उपाय ९०; अदम्भित्व ९२ और दम्भसे बचनेका उपाय ९४, अहिंसा ९६ व हिंसाके भेद ९६ तथा अहिंसाव्रतके पालनके उपाय ९७, ध्वान्ति ९९ और उसका उपाय ९९, आर्जव १०१ और उसका उपाय १०१, आचार्योपासना १०३, विशेष वात १०५, शुचि १०६, स्थैर्य १०८ और उसका उपाय १०८, आत्म-विनिग्रह १०८ और उसका उपाय १०९, विषयोंसे विरक्ति ११० और उसका उपाय १११, अनहंकारिता ११३ एवं उसके सम्बन्धमें विशेष वात ११४ तथा अहंकाररहित होनेके उपाय ११६, जन्म-मृत्यु-जरादिमें दुःखरूपदोषका दर्शन १२४ और उसका उपाय १२८, पुत्र-दार-गृहादिमें आसक्तिरहित होना १२९ और उसका उपाय १३०, पुत्र-दार-गृहादिमें सम्बन्ध न होना १३२ और उसका उपाय १३३, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सम रहना १३३ और उसका उपाय १३४, भगवान्में अनन्य योगसे भक्ति १३५ और उसका उपाय १४१, एकान्तसेवन १४१ और उसका उपाय १४२, विषयासक्त मनुष्योंसे प्रेम न करनी १४३ और उसके उपाय १४४, अध्यात्मजीनमें नित्यता १४५ और उसमें नित्यस्थितिके उपाय १४७, तत्त्व

[च]

श्लोक-संख्या

सूक्ष्म विषय

पृष्ठ

ज्ञानको सर्वत्र परिपूर्ण देखना १८८ और उस

तत्त्वज्ञानदर्शनके उपाय १४९, विशेषार्थ १५३)

१२ प्रतिज्ञापूर्वक ज्ञेयके निर्गुणस्वरूपका वर्णन • १५४-१६०

१३ ज्ञेयके सगुण निराकारस्वरूपका वर्णन ... १६०-१६४
(विशेषार्थ १६३)

१४ ज्ञेयके सगुण-निर्गुण स्वरूपकी एकता ... १६४-१६७

१५ ज्ञेयकी व्यापकताका विवेचन ... १६७-१७३
(विशेषार्थ १६७, अविज्ञेयको जाननेका
उपाय १७२)

१६ ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरी ज्ञेय तत्त्वके साथ अभिन्नता १७३-१७६

१७ ज्ञेयके परमप्रकाशमय स्वरूपका कथन ... १७६-१८९
(परमात्मस्वरूपसम्बन्धी विशेष बात १८६)

१८ क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके तत्त्वको जाननेका फल • १८९-१९५

१९ प्रकृति-पुरुषकी अनादिता एवं प्रकृतिसे विकारों
एवं गुणोंकी उत्पत्ति ... १९६-१९९

२० कर्तृत्वमें प्रकृतिकी और भोक्तृत्वमें पुरुषकी
हेतुताका कथन ... १९९-२१३
(विशेष बात २०८, 'मैं' पदको मिटानेका
सर्वोत्तम उपाय २११)

२१ पुरुषका प्रकृति एवं गुणोंके साथ सङ्ग
होनेका फल ... २१३-२१९

२२ परमपुरुषके स्वरूपका निरूपण ... २१९-२२४

२३ प्रकृति और पुरुषको तत्त्वमें जाननेका फल ... २२४-२३८
(विशेष बात २३१, नार्मिक बात २३२)

२४-२५ परमा-मात्री ग्रानिये निमित्त चार विभिन्न
शान्तियोंका कथन ... २३८-२५३

[छ]

श्लोक-सख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
२६	चराचर जगत्की उत्पत्तिका हेतु	२५३-२५६
२७	समभावसे परिपूर्ण परमात्माको जाननेवालेकी महिमा	... २५६-२६०
२८	परमात्माके समदर्शनका फल (विशेष बात २६३)	... २६०-२६४
२९	आत्माको अकर्ता देखनेवालेकी प्रशंसा	.. २६४-२६८
३०	ब्रह्मप्राप्तिके उपाय	... २६८-२७४
	(विशेष बात २७१)	
३१	परमात्माके अकर्तृत्व और निर्लेपत्वमे हेतु	. २७४-२८०
	(विशेष बात २७८)	
३२	दृष्टान्तसहित आत्माकी निर्लिप्तता	.. २८०-२८४
३३	दृष्टान्तसहित आत्माका अकर्तृत्व	.. २८४-२८७
३४	क्षेत्रके साथ अपने माने हुए सम्बन्धको तोड़नेका फलकथन	... २८७-२९५
	तेरहवें अध्यायके पद, अक्षर, उवाच एवं छन्दोंपर विचार	... २९६

चौदहवाँ अध्याय

श्लोक-सख्या	प्रधान विषय	पृष्ठ
१-४	ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्की उत्पत्ति	.. २९८-३२१
५-१८	सत्त्व-रज-तम—इन तीनों गुणोंका विवेचन	... ३२१-३८७
१९-२७	भगवत्प्राप्तिका उपाय एवं गुणातीत पुरुषके लक्षण	.. ३८७-४३२

सूक्ष्म विषय

१-२	परमज्ञानके कथनकी प्रतिज्ञा एवं उसकी महिमा	२९८-३११
-----	---	---------

('मम साधर्म्यमागता.' पर विशेष
टिप्पणी ३०५)

- ३-४ सर्वभूतोंकी उत्पत्तिका कथन ... ३११-३२१
('महत् ब्रह्म'का अभिप्राय ३१३)
- ५ तीनों गुणोंद्वारा बन्धन ... ३२१-३२९
(मार्मिक बात ३२५)
- ६-८ सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंद्वारा अलग-अलग बँधे
जानेका प्रकार ... ३२९-३४७
(विशेष बात ३४७, कर्मोंमें राग ही बाँधता है
(टिप्पणीमें) ३३६)
- ९ तीनों गुणोंद्वारा पुरुषपर विजय प्राप्त करनेका प्रकार ३४७-३५०
- १० दो गुणोंको द्वाकर क्रमशः प्रत्येक गुणका उत्कर्ष
कथन ... ३५०-३५२
- ११-१३ 'सत्त्व, रज, तम' तीनों गुणोंकी वृद्धिके अलग-
अलग लक्षण ... ३५२-३६४
(विशेष बात ३६१)
- १४-१५ तीनों गुणोंकी वृद्धिके समय मरनेवालोंकी अलग-
अलग गतिका वर्णन ... ३६४-३७१
(विशेष बात ३६८ एवं ३६९)
- १६ सात्त्विक-राजस-तामस कर्मोंका फल ... ३७२-३७९
(विशेष बात ३७७)
- १७ तीनों गुणोंकी मुख्य वृत्तियोंका विवेचन ... ३७९-३८१
- १८ तीनों गुणोंमें स्थित पुरुषोंकी अलग-अलग
गतिका विवेचन ... ३८१-
(ऊर्ध्वगतिके दो भेद (टिप्पणीमें) ३८१,)

- (विशेष बात ३८५)
- १९-२० गुणातीत होनेका उपाय एव फल ... ३८७-४०३
(विशेष बात ३९४)
(गुणोंके विषयमें ज्ञातव्य बातें ३९७, १४ वें
अध्यायके क्रमके विषयमें विशेष शङ्का-
समाधान ३९९)
- २१ गुणातीत पुरुषके विषयमें तीन प्रश्न ... ४०३-४०५
- २२-२३ गुणातीत पुरुषके लक्षण ... ४०५-४१२
- २४-२५ गुणातीत पुरुषके आचरण ... ४१२-४२०
(गुणातीत होनेका सुगम उपाय (टिप्पणीमें)
४१७, गुणातीतके विषयमें महत्त्वपूर्ण बात ४१९)
- २६ गुणातीत होनेका सुगम उपाय ... ४२०-४२९
(मार्मिक बात ४२४)
- २७ भगवत्स्वरूपकी महिमा ... ४२९-४३२
(सनातन-धर्म (टिप्पणीमें) ४३०)
चौदहवें अध्यायके पद, अक्षर, उच्चार
एव छन्दोंपर विचार ... ४३१-४३२



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिराजर्वम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वद्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्वि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
 पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
 पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
 कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
 उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
 परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥
 य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
 सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥
 ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
 अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
 अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
 तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥
 यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
 क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥
 समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
 विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
 समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
 न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥
 प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
 यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
 तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥
 अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
 शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
 यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
 सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
 यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
 क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥
 क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
 भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥
 ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम
 त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः.

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

रजस्तमश्वाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
 रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥
 सर्वद्वारेषु देहेऽसिन्प्रकाश उपजायते ।
 ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
 लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
 रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
 अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
 तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
 यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
 तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
 रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
 तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥
 कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
 रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥
 सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
 प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
 ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
 जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥
 नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
 गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
 गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।

अर्जुन उवाच

कैलिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ॐ तत्सदिति भीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो

नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १८ ॥



श्रीहरिः

श्रीमद्भगवद्गीताका संक्षिप्त परिचय

श्रीमद्भगवद्गीता एक अत्यन्त अलौकिक एवं विचित्र ग्रन्थ है । इसमें मनुष्यमात्रके कल्याणकी बात कही गयी है । इस ग्रन्थकी अनेक विलक्षणताओंमें एक विलक्षणता यह भी है कि यह मनुष्य मात्रके अनुभवपर आधारित है ।

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रारम्भमें धृतराष्ट्र और संजयका संवाद है । धृतराष्ट्रने पूछा कि युद्धके लिये एकत्रित मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? उत्तरमें संजयने दुर्योधनके द्वारा द्रोणाचार्यको कही गयी युद्धभूमिमें एकत्रित दोनों सेनाओंके प्रधान शूरवीरोंकी महिमाका वर्णन किया । दुर्योधनने द्रोणाचार्यसे बहुत चतुराईके साथ बात की, जिसे सुनकर द्रोणाचार्य कुछ बोले नहीं, चुप ही रहे । इस बातका दुर्योधनपर प्रभाव पड़ा और वह दुःखी हो गया । तब दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये पितामह भीष्मने सिंहके समान गरजकर शङ्ख बजाया* । फिर कौरव और पाण्डव सेनाके शङ्ख और बाजे बजे, जिसकी बहुत भयंकर ध्वनि हुई । इस भयंकर ध्वनिसे धृतराष्ट्रके सम्बन्धियों (कौरवों)के हृदय विदीर्ण हो गये (१।१९); क्योंकि वे अन्यायके पक्षमें थे । परन्तु पाण्डवोंके हृदय बिल्कुल अचल रहे; क्योंकि वे न्यायके पक्षमें थे । ग्यारह अक्षौहिणी

* भीष्मने दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए (तस्य सजनयन्हर्ष) सिंहके समान गरजकर शङ्ख बजाया (१।१२) इस बातसे यही सिद्ध होता है कि दुर्योधन दुःखी था ।

सेना होते हुए भी कौरव भयभीत हो गये और केवल सात
अक्षौहिणी सेना होते हुए भी पाण्डव भयभीत नहीं हुए ।

इसके बाद संजय 'अथ' शब्दसे गीताका प्रारम्भ करते हैं—
'अथ व्यवस्थितान्दष्टा' (१ । २०) । ऐसे ही संजय 'इति' शब्दसे
गीताकी समाप्ति भी करते हैं—'इत्यहं वासुदेवस्य' (१८ । ७४) ।

गीताके उपदेशका प्रारम्भ दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे
होता है । यहाँसे तीसवें श्लोक (२ । ११-३०) तक एक प्रकरण
है, जिसे टीकाकार प्रायः आत्मा-अनात्माके विवेचनका प्रकरण कहते
हैं । परंतु ध्यान देनेकी बात यह है कि इस प्रकरणमें भगवान् ने
आत्मा, अनात्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, पुरुष, अविद्या, माया
आदि कोई दार्शनिक शब्द दिया ही नहीं । केवल शरीर-शरीरी,
देह-देही-जैसे सर्वसाधारणकी समझमें आनेवाले शब्द ही दिये हैं ।
इस प्रकरणमें मुख्य बात है—शरीर और शरीरी दोनो अलग-अलग
हैं । शरीरीके साथ शरीर नहीं जाता और शरीरके साथ शरीरी नहीं
रहता । इसे समझ लेनेपर फिर शोक हो ही नहीं सकता । शरीर
नाशवान् है और नाशवान् का नाश अवश्यम्भावी है; अतः इसके
नाशके विषयमें शोक कैसा ! इसके विपरीत शरीरी अविनाशी है
और अविनाशीका नाश कभी सम्भव ही नहीं; अतः उसके लिये
शोक करनेका प्रश्न ही नहीं है । इस प्रकार शरीर-शरीरीके भेदका
अनुभव करनेको भगवान् ने सांख्ययोग कहा है । शरीर और शरीरी
दोनो भिन्न-भिन्न हैं—यह मनुष्यमात्रके अपने अनुभवकी बात है ।
इसलिये गीताका उपदेश मनुष्यमात्रके अनुभवपर आधारित है ।

सांख्ययोगका वर्णन करके भगवान् (२ । ३९से) 'कर्मयोग' का वर्णन प्रारम्भ करते हैं । संसार अंशी है और शरीर उसका अंश । इसलिये शरीरकी संसारसे एकता है । अतः इसे संसारकी ही वस्तु समझने हुए (जो वास्तवमें संसारकी ही है) संसारकी सेवामें लगा देना 'कर्मयोग' है । कर्मयोगमें 'कर्म' संसारके लिये और 'योग' अपने लिये होता है; क्योंकि कर्मका सम्बन्ध सदैव शरीर और संसारके साथ ही होता है । कर्म सदैव शरीरके द्वारा और संसारके लिये ही होता है ।

परमात्माका अंश होते हुए भी चेतन-तत्त्व (स्वरूप) भूलसे जड़-तत्त्व (शरीर) से अपना सम्बन्ध मान लेता है, जो वास्तवमें है नहीं; अपितु केवल माना हुआ है । भूलसे माने हुए सम्बन्धको मिटाकर स्वरूपका अनुभव कर लेना सांख्ययोग कहलाता है । दूसरे शब्दोंमें, स्वरूपमें अपनी स्वतः सिद्ध एवं स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करना सांख्ययोग है ।

केवल दूसरोके हितके लिये सब कर्तव्य-कर्म करनेसे शरीरादि जड़-पदार्थोंका प्रवाह जड़ता (संसार) की ओर हो जाता है और इस प्रकार जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्माके साथ स्वतःसिद्ध नित्ययोगकी अनुभूति हो जाती है । इसे कर्मयोग कहते हैं ।

कर्मयोगमें तीन बातें मुख्य हैं—(१) मेरा (स्वयंका) कुछ नहीं है, (२) मुझे (स्वयंको) कुछ नहीं चाहिये और (३) मुझे अपने(स्वयंके)लिये कुछ नहीं करना है । शरीरादि पदार्थ 'अपने' नहीं

हैं; क्योंकि ससारसे मिले होनेके कारण वे ससारके ही हैं । शरीरादि पदार्थ 'अपने लिये' भी नहीं हैं; क्योंकि जो वस्तु अपनी होती है, वही अपने लिये होती है । ससारकी वस्तु ससारके लिये ही होती है । अपनेको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि कामना (चाह) अभावसे उत्पन्न होती है, जबकि सत् होनेके कारण अपने (आत्मा)में कभी अभाव नहीं होता । अतः जिसमें अभाव है ही नहीं, उस स्वयंको कुछ नहीं चाहिये । यही निष्कामता है । अपने लिये कुछ भी नहीं करना है । सब कुछ ससारके लिये ही करना है; क्योंकि कर्म करनेकी सब सामग्री (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) संसारकी है ।

कर्मयोगमें अपने लिये कुछ नहीं करनेसे कर्तृत्व स्वतः नष्ट हो जाता है । कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छापर ही कर्तृत्व टिका हुआ है । इसलिये अपने लिये कुछ न चाहे, तो कर्तृत्वभाव नहीं रहता । जबतक कर्म और कर्मफल अर्थात् उत्पन्न होनेवाली वस्तुसे किञ्चित् भी सम्बन्ध रहता है, तबतक कर्म अपने लिये होते हैं, और जबतक कर्म अपने लिये होते हैं, तभीतक कर्तृत्व-भाव रहता है । कर्म और कर्मफलसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कर्तृत्वभाव नहीं रहता । परहितके लिये कर्तृत्व-कर्म करनेपर कर्तृत्व कर्तव्यमें लीन हो जाता है— यह नियम है ।

कर्मयोगके विषयमें भगवान् ने बतलाया— 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।' (२ । ४७) 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं ।' शरीर आदि जो भी सामग्री मिली हुई है, वह सब-की-सब संसारसे अभिन्न है और ससारकी सेवाके

लिये ही मिली है । इसलिये अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा संसारकी सेवा करनेका ही हमें अधिकार है । उन कर्मोंके फलस्वरूप मिली हुई सामग्रीपर हमारा अधिकार नहीं है । सम्पूर्ण कर्म उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं, इसलिये उनके फल भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले ही हैं । ऐसे नाशवान् फल हमें लेने ही नहीं है । अतः हमें फलोका हेतु भी नहीं बनना है—‘मा कर्मफलहेतुर्भूः ।’ अर्थात् कर्म करनेकी सामग्री (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिमें ममता, आसक्ति और कामना नहीं करनी है । परंतु कर्म न करनेमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये—‘मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।’ क्योंकि मोहपूर्वक कर्मोंका त्याग तामस होनेसे नरकोमें ले जानेवाला होता है । संसारसे मिली वस्तुको संसारकी सेवामें लगा ही देनी चाहिये । फिर समताकी प्राप्ति स्वतः होगी । उस समतामें स्थित होकर संसारके लिये कर्म करने हैं । इस प्रकार भगवान् ने कर्मयोगकी बात बतलायी ।

एक बहुत विलक्षण बात आयी है । भगवान् ने दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें कहा—‘एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।’ ‘यह बुद्धि तेरे लिये सांख्यके विषयमें कही गयी और अब तू इसे योगके विषयमें सुन ।’ यहाँ एक गहरी बात समझनेकी है कि भगवान् ने सर्वप्रथम ‘बुद्धि’ शब्दका प्रयोग यहीं (२ । ३९ में) किया है । इसके पहले अड़तीस श्लोकोंमें ‘बुद्धि’ शब्दका प्रयोग किया ही नहीं । सांख्यके विषयमें बुद्धिका तात्पर्य है—जड़-केतनका विभाग समझकर जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूप (‘है’)में स्थित हो जाना, जो स्वतःसिद्ध है । इस

प्रकार स्वरूप (आत्मा) को जान लेनेपर चिन्ता-शोक हो ही नहीं सकते—‘तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।’ (२ । २५) इत्यादि । सांख्ययोगमें स्वरूपका अनुभव होनेसे उसके परिणाम-स्वरूप बुद्धि स्थिर हो जाती है । परंतु कर्मयोगमें व्यवसायात्मिका (एक निश्चयवाली) बुद्धिकी प्रधानता कही गयी है—‘व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह’ (२ । ४१) । बुद्धिका एक दृढ़ निश्चय होनेके बाद स्वरूपका अनुभव हो जाता है । इस प्रकार सांख्ययोगमें अनुभवके बाद बुद्धिकी स्थिरता होती है, और कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरताके बाद अनुभव होता है ।

दूसरे अध्यायके चौवालीसवें श्लोकमें भगवान् ने कहा कि सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए अविवेकी मनुष्योंकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती । फिर नवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कहा कि अतिशय दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावसे भजन करनेके कारण एवं एक निश्चयवाला होनेके कारण साधु ही मानने योग्य है । इससे सिद्ध होता है कि कर्मयोग और भक्तियोग दोनोंमें ही व्यवसायात्मिका बुद्धिकी बहुत आवश्यकता एवं महिमा है ।

कर्मयोगमें एक ही निश्चय होता है कि केवल संसारके हितके लिये ही सब कुछ करना है, क्योंकि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि सब संसारसे मिले हुए हैं, अपने नहीं हैं । भक्तियोगमें एक ही निश्चय होता है कि मैं भगवान् का हूँ, इसलिये केवल भगवान् के लिये ही सब कुछ करना है, सब कुछ भगवान् का ही

मानना है और भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें प्रसन्न होना है । सांसारिक भोग और संग्रह—ये दोनों ही इस निश्चयमें बाधा डालनेवाले हैं । इसलिये इन दोनोंमें आसक्त पुरुष कभी बुद्धिका एक निश्चय नहीं कर पाता ।

मुझे कामनाकी पूर्तिका सुख तथा अपूर्तिका दुःख होता है—इससे सिद्ध होता है मुझमें कामना है; इस प्रकार जिनमें कामना है, ऐसे पुरुषोंके लिये भागवतमें आया है—‘कर्मयोगस्तु कामिनाम्’ (११।२०।७) अर्थात् कामनावाला पुरुष कर्मयोगका अधिकारी होता है । क्योंकि कर्मयोगमें कामनाको मिटानेके उद्देश्यसे केवल दूसरोंके लिये कर्म किये जाते हैं । जिसमें कामना होती है, उसे ही निष्काम होना है । इसलिये साधक संसारके लिये ‘ही’ सब कर्म करके निष्काम होता है । मुझे न भोग चाहिये, न संग्रह चाहिये—ऐसा दृढ़ निश्चय होनेपर सावक स्थितप्रज्ञ हो जाता है (२।५५-७२) । स्थितप्रज्ञ होनेपर स्वतः स्वरूपका अनुभव हो जाता है ।

इसके बाद तीसरे और चौथे अध्यायमें भगवान् कर्मयोगका विस्तारसे वर्णन करते हैं । फिर पाँचवें अध्यायमें कर्मयोग और सांख्ययोग दोनोंका वर्णन करते हैं । छठे अध्यायमें कर्मयोग और सांख्ययोगमें उपयोगी ध्यानयोगका वर्णन करते हैं । सातवेंसे बारहवें अध्यायतक विशेषरूपसे भक्तिका वर्णन करते हैं । फिर तेरहवें और चौदहवें अध्यायमें ज्ञानका वर्णन करके पंद्रहवें अध्यायमें पुनः भक्तिका वर्णन करते हैं । सोलहवें अध्यायमें भक्तिके अधिकारी

(दैवी सम्पत्तिवाले) और अनधिकारी (आसुरी-सम्पत्तिवाले) मनुष्योका वर्णन करते हैं । सत्रहवें अध्यायमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर तीन प्रकारकी श्रद्धाका वर्णन करके 'ॐ तत्सत्'की महिमा और उसके प्रयोगका वर्णन करते हैं ।

अठारहवें अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुनने संन्यास (सांख्ययोग) और त्याग (कर्मयोग)—दोनों निष्ठाओंके अलग-अलग भेद पूछे । उत्तरमें भगवान्ने दोनोंके तत्त्वका बहुत ही सुन्दर विवेचन किया । सत्रहवें अध्यायतक भगवान्ने जो बात संक्षेपमें कही थी, उसे यहाँ (अठारहवें अध्यायमें) विस्तारसे कह दिया और जो बात विस्तारसे कही थी, उसे यहाँ संक्षेपमें कह दिया । इस प्रकार गीताके सभी विषयोका उपसंहार भगवान्ने अठारहवें अध्यायमें किया । इस अध्यायमें भगवान्ने दूसरेसे बारहवें श्लोकतक 'कर्मप्रधान कर्मयोग' का वर्णन किया । फिर तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक 'विचार-प्रधान सांख्ययोग'का वर्णन किया । इक्तालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग'का वर्णन करते हुए कहा कि अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा भगवान्का पूजन करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥' (१८ । ४६) इसके बाद उनचासवेंसे पचपनवें श्लोकतक 'ध्यान-प्रधान सांख्ययोग'का वर्णन किया कि साधक विवेक और वैराग्य-पूर्वक एकान्तमें रहकर ध्यानयोगका अभ्यास करे । फिर छप्पनवेंसे छष्टछठवें श्लोकतक 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' का वर्णन किया, जो बहुत ही मधुर एवं विलक्षण प्रकरण है । छष्टछठवें श्लोकमें भगवान्ने

गीताके उपदेशका उपसंहार किया । फिर गीताकी महिमाका वर्णन करके बहत्तरवें श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे पूछा कि 'क्या तुमने एकाग्रचित्तसे मेरे वचन सुने ? और क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?' अर्जुनने उत्तर दिया कि 'हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संदेहरहित हो गया हूँ; अतः अब आपकी आज्ञाका पालन करूँगा' (१८ । ७३) । इसके बाद संजय श्रीकृष्ण और अर्जुनके अद्भुत और रोमहर्षक संवादको सुननेकी और फिर भगवान्के विराटरूपको देखनेकी महिमाका गान करते हैं । अन्तमें गीताशास्त्रका उपसंहार करते हुए संजय कहते हैं कि 'जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है' (१८ । ७८) ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने विशेषरूपसे मनुष्यमात्रके अनुभवपर ही उपदेश दिया है । इसमें द्वैत-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, विशुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि किसी मतविशेषका आग्रह न रखकर जीवमात्रके कल्याणकी बात कही गयी है ।

जीव स्वयं परमात्माका अंश होते हुए भी जड़ताके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है (१५ । ७) । इसी कारण वह बँध जाता है । जड़तासे माने हुए सम्बन्धका परित्याग कैसे किया जाय इसके लिये तीन योग बतलाये गये हैं—(१) कर्मोंसे संसारकी सेवा करके जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना, जिसे कर्मयोग कहते

लेते ही सारी माया छूट जाती है, सब द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं ।

१४६—वह ज्ञानदीप जलाया जिसमें चिन्ताका कोई काजल नहीं और आनन्दभरित प्रेमसे देवाधिदेव श्रीहरिकी आरती की । सब भेद और विकार उड़ गये ।

१४७—भीतर-बाहर, चर-अचरमें सर्वत्र श्रीहरि ही विराज रहे हैं । उन्होंने मेरा मन हर लिया, मेरा-तेरा भाव निकाल दिया ।

१४८—योग, तप, कर्म और ज्ञान—ये सब भगवान्‌के लिये हैं । भगवान्‌के बिना इनका कुछ भी मूल्य नहीं है ।

१४९—भगवान्‌के चरणोंमें संसारको समर्पित करके भक्त निश्चित रहते हैं और तब वह सारा प्रपञ्च भगवान्‌का ही हो जाता है ।

१५०—गङ्गा सागरसे मिलने जाती है, परंतु जाती हुई जगत्‌का पाप-ताप निवारण करती है । उसी प्रकार आत्मस्वरूपको प्राप्त जो संत हैं वे अपने सहज कर्मोंसे संसारमें बँधे बन्दियोंको छुड़ाते हैं ।

१५१—संतोंकी जीवनचर्या संसारके लिये आइनेके समान होती है ।

१५२—सब भूतोंमें समदृष्टिसे केवल एक हरिको ही देखना चाहिये ।

१५३—जो निर्द्वन्द्व होकर निन्दा सह लेता है उसकी माता धन्य है ।

१५४—भगवान् ही सब साधनोंके साध्य हैं और सब चराचर

प्राणियोंमें भगवान्को देखकर सर्वत्र अखण्ड-भगवद्बुद्धिको स्थिर रखना और सबके कल्याणका उद्योग करना अर्थात् लोकसंग्रह और लोकोपकारमें तन-मन-प्राण अर्पण करना ही सच्ची हरिभक्ति है ।

१५५—समदर्शी, निरपेक्ष और निरहंकार होकर सब भूतोंमें भगवान् भरे हैं ऐसा जानकर जो लोकोपकार होता है वही उत्तम हरि-भजन है ।

१५६—सब प्राणियोंमें भगवान्को विद्यमान जानकर उनके हितार्थ अहंभावरहित होकर कायेन मनसा वाचा उद्योग करना ही भगवान्की सेवा है ।

१५७—जो स्थूल है वही सूक्ष्म है, दृश्य है वही अदृश्य है, व्यक्त है वही अव्यक्त है, सगुण है वही निर्गुण है, अंदर है वही बाहर है ।

१५८—भगवान् सर्वत्र हैं, पर जो भक्त नहीं हैं, उन्हें नहीं दिखायी देते । जलमें, थलमें, पत्थरमें कहाँ नहीं हैं, जिधर देखो उधर ही भगवान् हैं, पर अभक्तोंको केवल शून्य दिखायी देता है ।

१५९—एकत्वके साथ सृष्टिको देखनेसे दृष्टिमें भगवान् ही भर जाते हैं ।

१६०—धन्य है सद्गुरु जिन्होंने गोविन्द दिखा दिया ।

१६१—संतोंके घर-द्वार, अंदर-बाहर, कर्ममें, वाणीमें और मनमें भगवद्भक्तिके सिवा और कुछ भी नहीं मिल सकता ।

१६२—संतोंके कर्म, ज्ञान और भक्ति हरिमय होते हैं । शान्ति, क्षमा, दया आदि दैवी गुण संतोंके आँगनमें लोटा करते हैं ।

१६३—सत-सेवा मुक्तिका द्वार है ।

१६४—भगवान् स्वयं संतके घरमें घुसकर अपना दखल जमाते हैं ।

१६५—सद्गुरुके सामने वेद मौन हो गये, शास्त्र दिवाने हो गये और वाक् भी बंद हो गयी । सद्गुरुकी कृपादृष्टि जिसपर पड़ती है, उसकी दृष्टिमें सारी सृष्टि श्रीहरिमय हो जाती है ।

१६६—धन्य हैं श्रीगुरुदेव जिन्होंने अखण्ड नाम-स्मरण करा दिया ।

१६७—सद्गुरुचरणोंका लाभ जिसे हो गया, वह प्रपञ्चसे मुक्त हो गया ।

१६८—सारा प्रपञ्च छोड़कर भगवच्चरणोंका ही सदा ध्यान करना चाहिये ।

१६९—सद्गुरुका सहारा जिसे मिल गया, कलिकाल उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता ।

१७०—भक्ति, वैराग्य और ज्ञानका स्वयं आचरण करके दूसरों-को इसी आचरणमें लगानेका नाम ही लोकसंग्रह है ।

१७१—सिद्धियोंके मनोरथ केवल मनोरञ्जन हैं, उनमें परमार्थ नहीं, प्रायः बने हुए लोग ही सिद्धियोंका बाजार लगाते हैं और गरीबोंको ठगते हैं ।

१७२—कलिकाल बड़ा भीषण है, इसमें केवल प्रभुके नामका ही सहारा है ।

१७३—इन्द्र और चींटी दोनों देहतः समान ही हैं । देहमात्र ही नश्वर है । सबके शरीर नाशवान् हैं । शरीरका पर्दा

हटाकर देखो तो सर्वत्र भगवान् ही हैं । भगवान्‌के सिवा और क्या है ? अपनी दृष्टि चिन्मय हो तो सर्वत्र श्रीहरि ही हैं ।

१७४—श्रीकृष्ण तो सर्वत्र रम रहे हैं । वह सम्पूर्ण विश्वके अंदर और बाहर व्याप्त हैं । जहाँ हो वहीं देखो, वहीं तुम्हें वह दर्शन देंगे ।

१७५—दृश्य, दर्शन, द्रष्टा—तीनोंको पारकर देखो तो बस श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण हैं ।

१७६—भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं । उनका ऐश्वर्य, माधुर्य, वात्सल्य सभी अनन्त है, अपार है । जिसे उसका एक कण भी मिल गया वह धन्य-धन्य हो गया ।

१७७—सभी वैभववाले, बड़ी आयुवाले, बड़ी महिमावाले आखिर चले गये मृत्युपंथमें ही । सब चले गये; परंतु एक ही रहे जो स्वरूपाकार हुए—आत्मज्ञानी हुए ।

१७८—जिस वाणीमें हरिकथा-प्रेम है, वही वाणी सरस है ।

१७९—प्रेमके बिना श्रुति, स्मृति, ज्ञान, ध्यान, पूजन, श्रवण, कीर्तन सब व्यर्थ है ।

१८०—संतका जीवन और मरण हरिमय होता है, हरिके सिवा और है ही क्या कि हो । फिर मृत्युके समय भी हरिस्मरणके सिवा और क्या हो सकता है ?

१८१—जो चीनीकी मिठास है, वही चीनी है । वैसे ही चिदात्मा जो है, वही यह लोक है, संसारमें हरिसे भिन्न और कुछ भी नहीं है ।

१८२—जो कुछ सुन्दर दिखायी देता है वह श्रीकृष्णके ही

१९८—भगवान्की आचारसहित भक्ति सब योगोंका योगगह्वर, वेदान्तका निजभाण्डार, सकल सिद्धियोंका परम सार है ।

१९९—गृहस्थाश्रममें रहकर भी जिसका चित्त प्रभुके रंगमें रँग गया और इस कारण जिसकी गृहासक्ति छूट गयी, उसे गृहस्थाश्रममें भी भगवत्प्राप्ति होती है और निजबोधमें ही सारी सुख-सम्पत्ति मिल जाती है ।

२००—जीव और परमात्मा दोनों एक हैं । इस बातको जान लेना ही ज्ञान है । वह ऐक्य लाभकर परमात्मसुख भोगना सम्यक् विज्ञान है ।

२०१—मैं ही देव हूँ, मैं ही भक्त हूँ, पूजाकी सामग्री भी मैं ही हूँ, मैं ही अपनी पूजा करता हूँ । यह अभेद उपासनाका एक रूप है ।

२०२—सहज अनुकम्पासे प्राणियोंके साथ अन्न, वस्त्र, दान, मान इत्यादिसे प्रियाचरण करना चाहिये । यही सबका स्वधर्म है ।

२०३—पिता स्वयमेव नारायण हैं । माता प्रत्यक्ष लक्ष्मी हैं । ऐसे भावसे जो भजन करता है, वही सुपुत्र है ।

२०४—ब्रह्मते पानीपर चाहे जितनी लकीरें खींचो एक भी लकीर न खिंचेगी, वैसे ही सत्त्वशुद्धिके बिना आत्मज्ञानकी एक भी किरण प्रकट न होगी ।

२०५—धन्य है नरदेहका मिलना, धन्य है साधुओंका सत्सङ्ग, धन्य हैं वे भक्त जो भगवद्भक्तिमें रँग गये ।

२०६—वैष्णवोंको जो एक जाति मानता है, शालग्रामको जो एक पाषाण समझता है, सद्गुरुको जो एक मनुष्य मानता है, उसने कुछ न समझा ।

२०७—जो निज सत्ता छोड़कर पराधीनतामें जा फँसा, उसे स्वप्नमें भी सुखकी वार्ता नहीं मिलती ।

२०८—जो धनके लोभमें फँसा हुआ है, उसे कल्पान्तमें भी मुक्ति नहीं मिल सकती । जो सर्वदा खी-कामी है, उसे परमार्थ या आत्मबोध नहीं मिल सकता ।

२०९—जब सूर्यनारायण प्राची दिशामें आते हैं तब तारे अस्त हो जाते हैं । वैसे ही भक्तिके प्रबोधकालमें कामादिकोंकी होली हो जाती है ।

२१०—सत्यके समान कोई तप नहीं है, सत्यके समान कोई जप नहीं है । सत्यसे सद्रूप प्राप्त होता है । सत्यसे साधक निष्पाप होते हैं ।

२११—वर्णोंमें चाहे कोई सबसे श्रेष्ठ क्यों न हो वह यदि हरिचरणोंसे विमुख है तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जो प्रेमसे भगवद्भजन करता है ।

२१२—अन्तःशुद्धिका मुख्य साधन हरिकीर्तन है । नामके समान और कोई साधन है नहीं ।

२१३—भक्त जहाँ रहता है, वहाँ सभी दिशाएँ सुखमय हो जाती हैं । वह जहाँ खड़ा होता है, वहाँ सुखसे महासुख आकर रहता है ।

२१४—अभिमानका सर्वथा त्याग ही त्यागका मुख्य लक्षण है ।

२१५—सम्पूर्ण अभिमानको त्यागकर प्रभुकी शरणमें जानेसे तुम जन्म-मरणादिके द्वन्द्वोंसे तर जाओगे ।

२१६—जो हृदयस्थ है उसकी शरण लो ।

२१७—प्रभुकी प्राप्तिमें सबसे बड़ा बाधक है अभिमान !

अंशसे है, उससे आँखें ऐसी दीवानी हो गयीं कि भगवान्‌के मयूर-पिच्छमें जा लगीं ।

१८३—जिसने एक बार श्रीकृष्णको देखा, उसकी आँखें फिर उससे नहीं फिरतीं । अधिकाधिक उसी रूपको आलिङ्गन करती है और उसीमें लीन हो जाती है ।

१८४—कुल-कर्मको मिटाना हो, अपने साथ सबको मिट्टीमें मिटाना हो, जीवतकका अन्त करना हो तो कोई कृष्णको वरण करे ।

१८५—उठो ! श्रीकृष्णके चरणोंका वन्दन करो । लज्जा और अभिमान छोड़ दो, मनको निर्विकल्प कर लो और वृत्तिको सावधान करके हरिचरणोंका वन्दन करो ।

१८६—श्रीचरणोंका आलिङ्गन होते ही अहं-सोऽहंकी गौंठें खुल गयीं । सारा ससार आनन्दमय हो गया । सेव्य-सेवक-भावका कोई चिह्न नहीं रह गया । देवी और देव एक हो गये ।

१८७—सच्चा विरक्त उसीको कहना चाहिये जो मानके स्थानसे दूर रहता है । वह सत्सङ्गमें स्थिर रहता है । अपना कोई नया सम्प्रदाय नहीं चलाता, नया अखाड़ा नहीं खोलता, अपनी गद्दी नहीं कायम करता । जीविकाके लिये दीन होकर किसीकी खुशामद नहीं करता । वह लौकिक नहीं होता, उसे वस्त्रालंकारकी इच्छा नहीं होती, परान्नमें रुचि नहीं होती, स्त्रियोंको देखना उसे अच्छा नहीं लगता ।

१८८—अपनी स्त्रीके सिवा अन्य स्त्रीसे कोई सम्बन्ध न रखे । अपनी स्त्रीसे भी केवल समुचित ही सम्बन्ध रखे और चित्तको कभी आसक्त न होने दे ।

१८९—प्रमदासङ्गसे बराबर बचना चाहिये । जो निरभिमान होकर निःसङ्ग हो गया हो, वही अखण्ड एकान्त-सेवन कर सकता है ।

१९०—स्त्री, धन और प्रतिष्ठा चिरञ्जीव-पद-प्राप्तिके साधनमें तीन महान् विघ्न हैं ।

१९१—सच्चा अनुताप और शुद्ध सात्त्विक वैराग्य यदि न हो तो श्रीकृष्णपद प्राप्त करनेकी आशा करना केवल भ्रमज्ञान है ।

१९२—सुनो, मेरा पागल प्रेम ऐसा है कि सुन्दर श्याम श्रीराम ही मेरे अद्वितीय ब्रह्म हैं और कुछ मुझे नहीं मालूम । रामके बिना जो ब्रह्मज्ञान है हनुमान्जी गरजकर कहते हैं कि उसकी हमें कोई जख्खरत नहीं । हमारा ब्रह्म तो राम है ।

१९३—जो मोल लेकर गंदी मदिरा पान करता है, वही उसके नशेमें चूर होकर नाचता गाता है, तब जिसने भगवत्प्रेमकी दिव्य मदिराका सेवन किया हो, वह कैसे चुपचाप बैठ सकता है ?

१९४—भगवान्के चरणोंमें अपरोक्ष स्थिति हो जाय तो वहाँ क्षणार्धमें होनेवाली प्राप्तिके सामने त्रिभुवन-विभव-सम्पत्ति भी भक्तके लिये तृणके समान है ।

१९५—याचना किये बिना यदृच्छासे जो कुछ मिले उसे साधक मङ्गलमय प्रभुका महाप्रसाद समझकर खानन्दसे भोग लगावे ।

१९६—दारा, सुत, गृह, प्राण सब भगवान्को अर्पण कर देना चाहिये । यह पूर्ण भागवत धर्म है । मुख्यतः इसीका नाम भजन है ।

१९७—साधु-संतोंसे मैत्री करो, सबसे पुराना परिचय (प्रेम) रक्खो, सबके श्रेष्ठ सखा बनो, सबके साथ समान रहो ।

१९८—भगवान्की आचारसहित भक्ति सब योगोंका योगगह्वर, वेदान्तका निजभाण्डार, सकल सिद्धियोंका परम सार है ।

१९९—गृहस्थाश्रममें रहकर भी जिसका चित्त प्रभुके रंगमें रँग गया और इस कारण जिसकी गृहासक्ति छूट गयी, उसे गृहस्थाश्रममें भी भगवत्प्राप्ति होती है और निजबोधमें ही सारी सुख-सम्पत्ति मिल जाती है ।

२००—जीव और परमात्मा दोनों एक हैं । इस बातको जान लेना ही ज्ञान है । वह ऐक्य लाभकर परमात्मसुख भोगना सम्यक् विज्ञान है ।

२०१—मैं ही देव हूँ, मैं ही भक्त हूँ, पूजाकी सामग्री भी मैं ही हूँ, मैं ही अपनी पूजा करता हूँ । यह अभेद उपासनाका एक रूप है ।

२०२—सहज अनुकम्पासे प्राणियोंके साथ अन्न, वस्त्र, दान, मान इत्यादिसे प्रियाचरण करना चाहिये । यही सबका स्वधर्म है ।

२०३—पिता स्वयमेव नारायण हैं । माता प्रत्यक्ष लक्ष्मी हैं । ऐसे भावसे जो भजन करता है, वही सुपुत्र है ।

२०४—ब्रह्मते पानीपर चाहे जितनी लकीरें खींचो एक भी लकीर न खिंचेगी, वैसे ही सत्त्वशुद्धिके बिना आत्मज्ञानकी एक भी किरण प्रकट न होगी ।

२०५—धन्य है नरदेहका मिलना, धन्य है साधुओंका सत्सङ्ग, धन्य हैं वे भक्त जो भगवद्भक्तिमें रँग गये ।

२०६—वैष्णवोंको जो एक जाति मानता है, शालग्रामको जो एक पाषाण समझता है, सद्गुरुको जो एक मनुष्य मानता है, उसने कुछ न समझा ।

२०७—जो निज सत्ता छोड़कर पराधीनतामें जा फँसा, उसे स्वप्नमें भी सुखकी वार्ता नहीं मिलती ।

२०८—जो धनके लोभमें फँसा हुआ है, उसे कल्पान्तमें भी मुक्ति नहीं मिल सकती । जो सर्वदा खी-कामी है, उसे परमार्थ या आत्मबोध नहीं मिल सकता ।

२०९—जब सूर्यनारायण प्राची दिशामें आते हैं तब तारे धस्त हो जाते हैं । वैसे ही भक्तिके प्रबोधकालमें कामादिकोंकी होली हो जाती है ।

२१०—सत्यके समान कोई तप नहीं है, सत्यके समान कोई जप नहीं है । सत्यसे सद्रूप प्राप्त होता है । सत्यसे साधक निष्पाप होते हैं ।

२११—वर्णोंमें चाहे कोई सबसे श्रेष्ठ क्यों न हो वह यदि हरिचरणोंसे त्रिमुख है तो उससे बड़ चाण्डाल श्रेष्ठ है जो प्रेमसे भगवद्भजन करता है ।

२१२—अन्तःशुद्धिका मुख्य साधन हरिकीर्तन है । नामके समान और कोई साधन है नहीं ।

२१३—भक्त जहाँ रहता है, वहाँ सभी दिशाएँ सुखमय हो जाती हैं । वह जहाँ खड़ा होता है, वहाँ सुखसे महासुख आकर रहता है ।

२१४—अभिमानका सर्वथा त्याग ही त्यागका मुख्य लक्षण है ।

२१५—सम्पूर्ण अभिमानको त्यागकर प्रभुकी शरणमें जानेसे तुम जन्म-मरणादिके द्वन्द्वोंसे तर जाओगे ।

२१६—जो हृदयस्थ है उसकी शरण लो ।

२१७—प्रभुकी प्राप्तिमें सबसे बड़ा बाधक है अभिमान !

२१८—प्रभुकी शरणमें जानेसे प्रभुका सारा बल प्राप्त हो जाता है, सारा भवभय भाग जाता है । कलिकाल काँपने लगता है ।

२१९—समर्पणका सरल उपाय है नामस्मरण । नामस्मरणसे पाप भस्म होते हैं ।

२२०—सकाम नामस्मरण करनेसे वह नाम जो इच्छा हो वह पूरी कर देता है । निष्काम नाम स्मरण करनेसे वह नाम पापको भस्म कर देता है ।

२२१—मनके श्रीकृष्णार्पण होनेसे भक्ति उल्लसित होती है ।

२२२—अष्ट महासिद्धियाँ भक्तके चरणोंमें लोटा करती हैं, वह उनकी ओर देखतातक नहीं ।

२२३—जिस भक्तको प्रभुकी भक्ति प्राप्त हो जाती है, उसके सभी व्यापार भगवटाकार हो जाते हैं ।

२२४—भक्त जिस ओर रहता है, वह दिशा श्रीकृष्ण बन जाती है । वह जब भोजन करने बैठता है तब उसके लिये हरि ही पट्टरस हो जाते हैं । उसे जल पिलानेके लिये प्रभु ही जल बन जाते हैं ।

२२५—जब भक्त पैदल चलता है तो शान्ति पद-पदपर उसके लिये मृदु पदासन बिछाती और उसकी आरती उतारती हैं ।

२२६—शम-दम आज्ञाकारी सेवक होकर भक्तके द्वारपर हाथ जोड़े खड़े रहते हैं । ऋद्धि-सिद्धि दासी बनकर घरमें काम करती हैं । विवेक टहलुआ सदा हाजिर ही रहता है ।

२२७—भक्तके प्रत्येक शब्दसे प्रभुकी ही वार्ता उठती है और श्रोता सुनकर तल्लीन हो जाते हैं ।

२२८—चारों मुक्ति मिलकर भक्तके घर पानी भरती हैं और श्रीके साथ श्रीहरि भी उसकी सेवामें रहते हैं—औरोकी बात ही क्या है ?

२२९—भक्त भगवान्की आत्मा है, वह भगवान्का जीवन है, प्राण है ।

२३०—प्रभु पूर्णतः भक्तके अंदर हैं और भक्त पूर्णतः भगवान्के अंदर है ।

२३१—साधनोंमें मुख्य साधन श्रीहरिकी भक्ति ही है । भक्तिमें भी नामकीर्तन विशेष है—नामसे चित्त-शुद्धि होती है—साधकोंको स्वरूप-स्थिति प्राप्त होती है ।

२३२—नाम-जैसा और कोई साधन नहीं है । नामसे भव-बन्धन कट जाते हैं ।

२३३—मनने सबको बाँध रखा है । मनको बाँधना आसान नहीं । मनने देवताओंको पस्त कर डाला । वह इन्द्रियोंको क्या समझता है ।

२३४—मनकी मार बड़ी जबरदस्त है । मनके सामने कौन ठहर सकता है ?

२३५—हीरेसे हीरा काटा जाता है वैसे ही मनसे मन पकड़ा जाता है, पर यह भी तब होता है जब पूर्ण श्रीहरिकृपा होती है ।

२३६—मन ही मनका बोधक, मन ही मनका साधक, मन ही मनका बाधक और मन ही मनका घातक है ।

२३७—अष्टाङ्गयोग, वेदाध्ययन, सत्यवचन तथा अन्य जो-जो साधन हैं उन साधनोंसे जो कुछ मिलता है वह सब भगवद्भजनसे प्राप्त होता है ।

२३८—निरपेक्ष ही धीर होता है । धैर्य उसके चरण छूता है । जो अधीर है उससे निरपेक्षता नहीं होती ।

२३९—कोटि-कोटि जन्मोंके अनुभवके बाद निरपेक्षता आती है । निरपेक्षतासे बढ़कर और कोई साधन है नहीं ।

२४०—एकान्त भक्तिका लक्षण यह है कि भगवान् और भक्तका एकान्त होता है । भक्त भगवान्में मिल जाता है और भगवान् भक्तमें मिल जाते हैं ।

२४१—जिसकी भेदबुद्धि नहीं रही, जिसे समत्वका बोध हो गया, उसीको सर्वत्र भगवत्स्वरूपके अनुभवका परमानन्द प्राप्त होता है ।

२४२—जो सदा समभावमें एकाग्र रहते हैं, प्रभुके भजनमें ही तत्पर रहते हैं, वे प्रकृतिके पार पहुँचकर प्रभुके स्वरूपको प्राप्त होते हैं ।

२४३—जिसके हृदयमें विषयसे विरक्ति हो, अभेदभावसे श्रीहरिचरणोंमें भक्ति हो, भजनमें अनन्य प्रीति हो उसके स्वयं श्रीहरि ही आज्ञाकारक हैं ।

२४४—जो शिश्नोदरभोगमें ही आसक्त हैं, जो अधर्ममें रत हैं, ऐसे विषयासक्तोंको असाधु समझो । उसका संग मत करो । कर्मणा, वाचा, मनसा उसका त्याग कर दो ।

२४५—जो बड़ा भारी विरक्त बनता है, पर हृदयमें अधर्मकामरत रहता है, कामवश द्वेष करता है वह भी निश्चित दुःसङ्ग है ।

२४६—जो बड़ा सात्त्विक बनता है, पर हृदयमें सत्तोंके दोष देखता है वह अतिदुष्ट दुःसङ्ग है ।

२४७—पर सबसे मुख्य दुःसङ्ग अपना ही काम है, अपना

ही सकामता है । इसे समूह त्याग देनेसे ही दुःसङ्गता त्यागी जाती है । उस काम-कल्पनाको जो नर त्यागता है, उसके लिये संसार सुखरूप होता है ।

२४८—उस काम-कल्पनाको त्यागनेका मुख्य साधन केवल सत्सङ्ग है । संतोंके श्रीचरणोंको वन्दन करनेसे काम मारा जाता है ।

२४९—सत्सङ्गके बिना जो साधन है, वह साधकोंको बाँधनेवाला कठिन बन्धन है । सत्सङ्गके बिना जो त्याग है, वह केवल पाखण्ड है ।

२५०—संतोंकी मामूली बातें महान् उपदेश होती हैं । चित्तमें पड़ी हुई गाँठें उनके शब्दमात्रसे छिद जाती हैं । इसलिये बुद्धिमानोंको चाहिये कि सत्सङ्ग करें । सत्सङ्गसे साधकोंके भवपाश कट जाते हैं ।

२५१—हृदयमें प्रभुका नित्य ध्यान हो, मुखसे उनका नाम-कीर्तन हो, कानोंमें सदा उनकी ही कथा गूँजती हो, प्रेमानन्दसे उनकी ही पूजा हो, नेत्रोंमें हरिकी मूर्ति विराज रही हो, चरणोंसे उनके ही स्थानकी यात्रा हो, रसनामें प्रभुके तीर्थका रस हो, भोजन हो तो वह प्रभुका प्रसाद ही हो । साष्टाङ्ग नमन हो उनके ही प्रति, आळिङ्गन हो आह्लादसे उनके ही भक्तोंका और एक क्या आधा पल भी उनकी सेवाके बिना व्यर्थ न जाय । सब धर्मोंमें यही श्रेष्ठ धर्म है ।

२५२—बछड़ेपर गौका जो भाव होता है, उसी भावसे हरि मुझे सँभाले हुए हैं ।

२५३—बच्चे अनेक प्रकारकी बोलियोंसे माताको पुकारते हैं, पर उन बोलियोंका यथातथ्य ज्ञान माताको ही होता है ।

२५४—संतोंने मर्मकी बात खोलकर बता दी है—हाथमें झौझ-मंजीरा ले लो और नाचो । समाधिके सुखको इसपर न्यौछावर कर दो । ऐसा ब्रह्मरस इस नाम-संकीर्तनमें भरा हुआ है ।

२५५—यह समझ लो कि चारों मुक्तियाँ हरिदासोंकी दासियाँ हैं ।

२५६—सदा-सर्वदा नाम-संकीर्तन और हरिकथा-गान होनेसे चित्तमें अखण्ड आनन्द बना रहता है । सम्पूर्ण सुख और शृङ्गार इसीमें मैंने पा लिया और अब आनन्दमें झूम रहा हूँ । अब कहीं कोई कमी ही नहीं रही । इसी देहमें विदेहका आनन्द ले रहा हूँ ।

२५७—नामका अखण्ड प्रेम-प्रवाह चला है । राम-कृष्ण, नारायण-नाम अखण्ड जीवन है, कहींसे भी खण्डित होनेवाला नहीं ।

२५८—वह कुल पवित्र है, वह देश पावन है, जहाँ हरिके दास जन्म लेते हैं ।

२५९—बाल-बच्चोंके लिये जमीन-जायदाद रख जानेवाले माँ-बाप क्या कम हैं ? दुर्लभ हैं वे ही जो अपनी संततिके लिये भगवद्भक्तिकी सम्पत्ति छोड़ जाते हैं ।

२६०—भगवान्की यह पहचान है कि जिसके घर आते हैं उसको घोर विपत्तिमें भी सुख-सौभाग्य दिखायी देता है ।

२६१—मातासे बच्चेको यह नहीं कहना पड़ता कि तुम मुझे संभालो । माता तो स्वभावसे ही उसे अपनी छातीसे लगाये रहती है । इसलिये मैं भी सोच-विचार क्यों करूँ ? जिसके सिर जो भार है वही संभाले ।

२६२—बिना माँगे ही माँ बच्चेको खिलती है और बच्चा

जितना भी खाय खिलानेसे माता कभी नहीं अघाती । खेल-खेलनेमें बच्चा भूला रहे तो भी माता उसे नहीं भुलाती, बरबस पकड़कर उसे छातीसे चिपटा लेती और स्तनपान कराती है । बच्चेको कोई पीड़ा हो तो माता भाड़की लाईके समान विकल हो उठती है ।

२६३—प्रमुका स्नेह माताके स्नेहसे भी बढ़कर है, फिर सोच-विचार क्यों करूँ ? जिसके सिर जो भार है वही जाने ।

२६४—बच्चेको उठाकर छातीसे लगा लेना ही माताका सबसे बड़ा सुख है । माता उसके हाथमें गुड़िया देती और उसके कौतुक देख अग्ने जीको ठंढा करती है । उसे आभूषण पहनाती और उसकी शोभा देख परम प्रसन्न होती है । उसे अपनी गोदमें उठा लेती और टकटकी लगाये उसका मुँह निशारती है । माता बच्चेका रोना सह नहीं सकती ।

२६५—मातृस्तनमें मुँह लगाते ही माताके दूध भर आता है । माँ-बच्चे दोनों लाड़ लड़ाते हुए एक दूसरेकी इच्छा पूरी करते हैं । पर सारा भार है माताके सिर ।

२६६—माताके चित्तमें बालक ही भरा रहता है । उसे अपनी देहकी सुध नहीं रहती । बच्चेको जहाँ उसने उठा लिया वहाँ सारी थकावट उसकी दूर हो जाती है ।

२६७—बच्चेकी अटपटी बातें माताको अच्छी लगती हैं । वह उसे वह अपनी छातीसे लगा लेती और मुँह चूम लेती है । इस प्रकार भगवान्का जो प्रेमी है, उसका सभी कुछ भगवान्को प्यार लगता है और भगवान् उसकी सब मनःकामनाएँ पूर्ण करते हैं ।

२६८—गाय जंगलमें चरने जाती है, पर चित्त उसका गोठमें बंधे बछड़ेपर ही रहता है । मैया मेरी ! मुझे भी ऐसा ही बना ले, अपने चरणोंमें ठाँव देकर रख ले ।

२६९—संसार, सब कहिये तो दुःखोंका घर है । जन्म-मरणके महादुःखोंके बीचमें घूमनेवाले इस संसारमें जो भी आया वह दुःखोंका मेहमान हुआ ।

२७०—संसार दुःखरूप है, यही तो शास्त्रका सिद्धान्त है और यही जीवमात्रका अन्तिम अनुभव है ।

२७१—भगवत्संकल्पके अनुसार ही सृष्टिके सब व्यापार हुआ करते हैं । सामान्य जीव सांसारिक दुःखोंकी चक्कीमें पीस दिये जाते हैं; पर वे ही दुःख भाग्यवान् पुरुषोंके उद्धारका कारण बनते हैं ।

२७२—सच्चा प्रेम कभी मरता नहीं, काल भी उसे मार नहीं सकता ।

२७३—प्रेम तो निष्काम-निर्विषय ही होता है और उसका एकमात्र भाजन परमात्मा है । ऐसा प्रेम भक्तोंके ही भाग्यमें होता है ।

२७४—भक्तोंमें सच्चाई होती है । वैराग्यके अञ्जनसे जब आँखें खुल जाती हैं, तब नश्वर संसारके भेद-भावोंमें बँटे हुए प्रेमको एक जगह बटोरकर वे एक परमात्माको ही अर्पण कर देते हैं । फिर प्रेमामृतकी धारा भगवान्‌के सम्मुख ही प्रवाहित होने लगती है ।

२७५—सबके परम सुहृद् प्रभु जो कुछ करते हैं, उसीमें हमारा परम हित है ।

२७६—भगवान् भक्तको गृहप्रपञ्च करने ही नहीं देते । सब झंझटोंसे अलग रखते हैं ।

२७७—बहुत मारा-मारा फिरा । छुट गया । तड़पते ही दिन बीत रहे हैं । हे दीनानाथ ! ससारमें अपना विरद रखो ।

२७८—निःसार है यह संसार । यहाँ सार केवल भगवान् हैं ।

२७९—संसार कोलप्रस्त, नश्वर और दुःखरूप है । इसका सारा घटाटोप व्यर्थ है । भगवान् मिलें तो ही जन्म सफल है ।

२८०—यह सब नाशवान् है, गोपालको स्मरण कर, वही हित है ।

२८१—सुख देखिये तो राई-बराबर है और दुःख पर्वतके बराबर ।

२८२—यह संसार दुःखसे बँधा है, इसमें सुखका विचार तो कहीं भी नहीं है ।

२८३—देह नाशवान् है । देह मृत्युकी धौंकनी है । ससार केवल दुःखरूप है । सब भाई-बन्धु सुखके साथी हैं ।

२८४—ससार मिथ्या है—यह ज्ञात हुआ और आँखें खुलीं । दुःखसे आँखें खुलती हैं, तब दुःख ही अनुग्रह जान पड़ता है ।

२८५—खटमलभरी खाटपर मीठी नींदका लगना जैसे असम्भव है, वैसे ही अनित्य संसारके भरोसे सुख मिलना भी असम्भव है ।

२८६—वैराग्य परमार्थकी नींव है ।

२८७—विरक्तिके बिना ज्ञान नहीं ठहर सकता । देहसहित सम्पूर्ण दृश्यमान संसारके नश्वरत्वकी मुद्रा जबतक चित्तपर अङ्कित नहीं हो जाती, तबतक वहाँ ज्ञान नहीं ठहर सकता ।

२८८—यह समस्त संसार अनित्य है, इस अनित्यताको जहाँ जान लिया तहाँ वैराग्य हाथ धोकर पीछे पड़ जाता है । ऐसा दृढतर वैराग्य उत्पन्न होना ही तो भगवान्की दया है ।

२८९—वैराग्य खेल नहीं, भगवान्की दया हो तो ही उसका लाभ हो ।

२९०—भगवान् जिसपर अनुग्रह करना चाहते हैं, उसे वे पहले वैराग्य-दान करते हैं ।

२९१—चित्तसे जबतक प्रपञ्च बिल्कुल उतर नहीं जाता, तबतक परमार्थ नहीं सूझता, नहीं भाता, नहीं ठहरता । मनोभूमि जब वैराग्यसे शुद्ध हो जाती है, तब उसमें बोया हुआ ज्ञानबीज अङ्कुरित होता है ।

२९२—सतत सत्सङ्ग, सत्-शास्त्रका अध्ययन, गुरु-कृपा और आत्मारामकी भेंट—यही वह क्रम है जिससे जीव ससारके कोलाहलसे मुक्त होता है ।

२९३—प्रारब्धवश जिस जातिमें हम पैदा हुए उसी जातिमें रहकर तथा उसी जातिके कर्म करते हुए प्रेमसे नारायणका भजन करें और तर जायँ—इतना ही अपना कर्तव्य है ।

२९४—भगवान्का भजन ही जीवनका सुफल है ।

२९५—सुगम मार्गसे चलो और सुखसे राम-कृष्ण-हरि नाम लेते चलो । वैकुण्ठका यही अच्छा और समीपका रास्ता है ।

२९६—जिस सङ्गसे भगवत्प्रेम उदय होता है वही सङ्ग-सङ्ग है, बाकी तो नरकनिवास है ।

२९७—सतोंके द्वारपर श्रान होकर पड़े रहना भी बड़ा भाग्य है; क्योंकि वहाँ प्रसाद मिलता है और भगवान्का गुणगान सुननेमें आता है ।

२९८—कीर्तनका अधिकार सबको है, इसमें वर्ण या आश्रम-का भेद-भाव नहीं ।

२९९—कीर्तनसे शरीर हरिरूप हो जाता है । प्रेमछन्दसे नाचो-डोलो । इससे देहभाव मिट जायगा ।

३००—हरिकीर्तनमें भगवान्, भक्त और नामका त्रिवेणी-सङ्गम होता है ।

३०१—प्रेमी भक्त प्रेमसे जहाँ हरि-गुण-गान करते हैं, भगवान् तो वहाँ रहते ही है ।

३०२—कीर्तनसे संसारका दुःख दूर होता है । कीर्तन संसारके चारों ओर आनन्दकी प्राचीर खड़ी कर देता है और सारा संसार महासुखसे भर जाता है । कीर्तनसे विश्व धवलित होता और वैकुण्ठ पृथ्वीपर आता है ।

३०३—भगवान् के वचन हैं—मेरे भक्त जहाँ प्रेमसे मेरा नामसंकीर्तन करते हैं, वहाँ तो मैं रहता ही हूँ—मैं और कहीं न मिलूँ तो मुझे वहाँ ढूँढ़ो ।

३०४—तेरा कीर्तन छोड़ मैं और कोई काम न करूँगा । लज्जा छोड़कर तेरे रंगमें नाचूँगा ।

३०५—कीर्तनका विक्रय महान् मूर्खता है ।

३०६—वाणी ऐसी निकले कि हरिकी मूर्ति और हरिका प्रेम चित्तमें बैठ जाय । वैराग्यके साधन बतावे, भक्ति और प्रेमके सिवा अन्य व्यर्थकी बातें कथामें न कहे ।

३०७—कीर्तन करते हुए हृदय खोळकर कीर्तन करे, कुछ

छिपाकर चुराकर न रखे। कीर्तन करने खड़े होकर जो कोई अपनी देह चुरावेगा, उसके बराबर मूर्ख और कौन हो सकता है ?

३०८—खाँगसे हृदयस्थ नारायण नहीं छो जाते। निर्मल भाव ही साधन-वनका वसन्त है।

३०९—भगवान् भावुकोंके हाथपर दिखायी देते हैं, पर जो अपनेको बुद्धिमान् मानते हैं, वह मर जाते हैं तो भी भगवान्का पता नहीं पाते।

३१०—ज्ञानके नेत्र खुलनेसे ग्रन्थ समझमें आता है, उसका रहस्य खुलता है, पर भावके बिना ज्ञान अपना नहीं होता।

३११—भावके नेत्र जहाँ खुले वहीं सारा विश्व कुछ निराळा ही दिखायी देने लगता है।

३१२—भगवान्से मिलन होनेके लिये भाव ही आवश्यक है।

३१३—चित्त यदि भगवच्चिन्तनमें रँग जाय तो वह चित्त ही चैतन्य हो जाता है, पर चित्त शुद्ध भावसे रँग जाय तब।

३१४—जैसा भाव वैसा फल। भगवान्के सामने और कोई बल नहीं चलता।

३१५—पत्थरकी ही सीढी और पत्थरकी ही देव-प्रतिमा, परंतु एकपर हम पैर रखते हैं और दूसरेकी पूजा करते हैं। भाव ही भगवान् हैं।

३१६—गङ्गा जल नहीं है, बड़-पीपल वृक्ष नहीं है, तुलसी और रुद्राक्ष माला नहीं है, ये सब भगवान्के श्रेष्ठ शरीर हैं।

३१७—भाव न हो तो साधनका कोई विशेष मूल्य नहीं।

३१८—तीर्थको जो जल समझता है, प्रतिमामें जो पत्थर देखता है, संतोंको जो मनुष्य समझता है, उसके समान मूर्ख कौन है।

३१९—भूतमात्रमें जब हरिके दर्शन होने लगते हैं, तभी निष्काम और सच्ची भूतसेवा बन पड़ती है।

३२०—यदि तुम भगवान्‌को चाहते हो तो भावसे उनके गीत गाओ। दूसरेके गुण-दोष न सुनो, मनमें भी न लाओ। संतके चरणोंकी सेवा करो। सबके साथ विनम्र रहो और थोड़ा-बहुत जो कुछ बन पड़े उपकार करो। यह सुलभ उपाय है।

३२१—पर-उपकारसे उन्हीं हरिकी ही सेवा बनती है। भूतोंका उपकार ही भूतात्माका पूजन-अर्चन है।

३२२—हृदयका भाव भगवान्‌ जानते हैं, उन्हें जनाना नहीं पड़ता।

३२३—छोटे-बड़े सबका शरीर नारायणका ही शरीर है।

३२४—चित्तमें भगवान्‌को बैठाया कि पर-द्रव्य और पर-नारी विश्वत् हो गये।

३२५—‘निर्ळज्ज नामस्मरण’ ही मेरा सारा धन है और यही मेरा सम्पूर्ण साधन है।

३२६—मेरा चित्त, वित्त, पुण्य, पुरुषार्थ सब कुछ श्रीहरि हैं।

३२७—मेरे माँ-बाप, भाई-बहन सब हरि ही हैं। हरिको छोड़ कुछ-गोत्रसे मुझे क्या काम ? हरि ही मेरे सर्वस्व हैं। उनके सिवा ब्रह्माण्डमें मेरा कोई नहीं।

३२८—संसारमें भटकते-भटकते मैं थक गया। ‘नाम’ से काया शीतल हुई।

३२९—राम-कृष्ण-हरिका कीर्तन करो, सुजान हो, अजान हो, जो हो, हरि-कथा कहो । मैं शपथ करके कहता हूँ कि इससे तर जाओगे ।

३३०—निराश मत हो, यह मत कहो कि हम पतित हैं, हमारा उद्धार क्या होगा । और कहीं मत देखो, श्रीहरिका गीत गाओ । प्रभुके चरण पकड़ लो, उनके नामका आश्रय न छोड़ो ।

३३१—हरि-कथा सुखकी समाधि है ।

३३२—राम, कृष्ण, हरि, नारायण—बस, इससे बढ़कर और क्या चाहिये ?

३३३—वासनाका मूल काटे बिना यह कोई न कहे कि मेरा उद्धार हो गया ।

३३४—अमृतका बीज, आत्मतत्त्वका सार, गुह्यका भी गुह्य रहस्य श्रीराम-नाम है ।

३३५—लोभ, मोह, आशा, तृष्णा, माया सब हरि-गुणगानसे रफूवकर हो जाते हैं ।

३३६—प्रेमियोंका संग करो । धन-लोभादि मायाके मोह-पाश हैं । इस फदेसे अपना गला छुड़ाओ ।

३३७—ज्ञानी बननेवालोंके फेरमें मत पड़ो, कारण, निन्दा-अहंकार, वाद-विवादमें अटककर वे भगवान्से त्रिछुड़े रहते हैं ।

३३८—साधुओंका संग करो । संत-संगसे प्रेम-सुख लाभ करो ।

३३९—साधककी अवस्था उदास रहनी चाहिये । 'उदास' किसे कहते हैं, जिसे अंदर-बाहर कोई उपाधि न हो, जिसकी

जिह्वा लोलुप न हो, भोजन और निद्रा नियमित हो, स्त्री-विषयमें फिसलनेवाला न हो ।

३४०—एकान्तमें या लोकान्तमें प्राणोंपर बीत आवे तो भी विषयवासना और उसके उद्दीपनोंसे दूर रहे ।

३४१—सज्जनोंका संग, नामका उच्चारण और कीर्तनका घोष अहर्निश किया करे । इस प्रकार हरि-भजनमें रमे ।

३४२—सदाचारमें ढीला रहकर भगवद्भक्तोंके मेलेमें कोई केवल भजन करे तो वह भजन कुछ भी काम नहीं देगा । वैसे ही कोई सदाचारमें पक्का है, पर भजन नहीं करता तो भी अधूरा ही है ।

३४३—सदाचारसे रहे और हरिको भजे, उसीको गुरुकृपासे ज्ञान लाभ होगा ।

३४४—एकान्तवास, गङ्गास्नान, देवपूजन, तुलसी-परिक्रमा नियमपूर्वक करते हुए हरिचिन्तनमें समय व्यतीत करे ।

३४५—देह भगवान्‌को अर्पण करे । परमार्थ-लाभ ही महा-धन है, यह जानकर भगवान्‌के चरण प्राप्त करे ।

३४६—निन्दा और वाद सर्वथा त्याग दे ।

३४७—कलियुगमें कीर्तन करो, इसीसे नारायण दर्शन देंगे ।

३४८—जिस घरके द्वारपर तुलसीका पेड़ न हो उस घरको श्मशान समझो ।

३४९—पर-नारी माताके समान जाने । परधन और परनिन्दा तजे । राम-नामका चिन्तन करे । संतवचनोंपर विश्वास रखे । सच बोले । इन्हीं साधनोंसे भगवान् मिलते हैं और प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं ।

३५०—मस्तक नीचा करो, संतोंके चरणोंमें लगे । औरोंके गुण-दोष न सुनो, न मनमें लाओ । शक्तिभर उपकार भी किये चलो । यह सुख उपाय है ।

३५१—जहाँ कोई आशा न रही, वहीं भगवान् रहते हैं । आशाको जडसे उखाड़कर फेंक दे ।

३५२—चित्त शुद्ध करके भावसे भगवान्का गीत गाओ ।

३५३—लोगोंके लिये, लोग अच्छा कहे इसलिये परमार्थ करना चाहते हो तो मत करो । भगवान्को चाहते हो तो भगवान्को भजो ।

३५४—भगवान्की लगन हो तो देहभावको शून्य करके भगवान्को भजो ।

३५५—प्रभु जिसके लिये जो मार्ग ठीक है वह दिखा देता है । वह बड़ा दयालु है ।

३५६—नेत्रोंसे साँवरे प्यारेको देख । देख उन्हें जिनमें छहों शास्त्र, चारों वेद और अठारहों पुराण एकीभूत हैं । एक क्षण भी दुःसंग न कर । विष्णुसहस्रनाम जपा कर ।

३५७—अपना हृदय श्रीहरिको दे डाले । चित्त हरिको देनेसे वह नवनीतके समान मृदु होता है ।

३५८—भाव-शुद्धि होनेपर हृदयमें जो श्रीहरि हैं उनकी मूर्ति प्रकट हो जाती है ।

३५९—श्रीहरिके सगुणरूपकी भक्ति करना ही जीवोंके लिये मुख्य उपासना है । इस सगुण-साक्षात्कारका मुख्य साधन है हरिनाम-स्मरण और सगुण-साक्षात्कारके अनन्तर भी नाम-स्मरण ही आश्रय है ।

३६०—नाम-स्मरणसे ही हरिको प्राप्त करो और हरिके प्राप्त होनेपर भी नाम-स्मरण ही करो । बीज और फल दोनों एक हरि-नाम ही है ।

३६१—सारा प्रपञ्च प्रारब्धके सिर पटको और श्रीहरिको ढूँढ़नेमें लगे ।

३६२—सच्चा पण्डित वही है जो नित्य हरिको भजता है और यह देखता है कि सब चराचर जगत्में श्रीहरि ही रम रहे हैं ।

३६३—वेदोंका अर्थ, शास्त्रोंका प्रमेय और पुराणोंका सिद्धान्त एक ही है और वह यही है कि सर्वतोभावसे परमात्माकी शरणमें जाओ और निष्ठापूर्वक उसीका नाम गाओ । सब शास्त्रोंके विचारका अन्तिम निरधार यही है ।

३६४—उस बडप्पनमें आग लगे जिसमें भगवद्भक्ति नहीं ।

३६५—मूलका सिंचन करनेसे उसकी तरी समस्त वृक्षमें पहुँचती है । पृथक्के फेरमें मत पड़ो । जो सार वस्तु है उसे पकड़े रहो ।

३६६—पतिव्रताके लिये जैसे पति ही प्रमाण है, वैसे ही हमारे लिये नारायण हैं ।

३६७—बीज भूँजकर लाई बना डाली, अब जन्म-मरण कहाँ रहा ?

३६८—राम हृदयमें हैं; पर भ्रान्त जीव बाह्य विषयोंपर लुब्ध होते हैं ।

३६९—अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा न रखकर भगवान्की इच्छाके अनुकूल हो जाय । माली जल्दको जिधर ले जाता है, जल्द उधर ही शान्तिके साथ जाता है । वैसे ही तुम बनो ।

३७०—अंगारोंकी सेजपर सुखकी नींद : इस दुःखभरे जगत्में सुखकी खोज :

३७१—संसारमें कालका कलेवा बनकर कौन सुखी हुआ है :

३७२—चाहे कोई कितना ही दिमाग खर्च करे, वह चीनीको फिरसे ऊख नहीं बना सकता । ठीक उसी प्रकार भगवान्को पाकर कोई जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं पड़ सकता ।

३७३—यह जीवात्मा आप ही अपना तारक, आप ही अपना मारक है । आप ही अपना उद्धारक है । रे नित्यमुक्त आत्मा ! जरा सोच तो सही कि तू कहां अटका हुआ है ।

३७४—व्यक्त और अव्यक्त निःसंशय तुम्हीं एक हो । भक्तिसे व्यक्त और योगसे अव्यक्त मिलते हो ।

३७५—जो कोई जैसा ध्यान करता है, दयालु भगवान् वैसे बन जाते हैं ।

३७६—यदि मैं स्तुति करूँ तो वेदोंसे भी जो काम नहीं बना वह मैं कर सकता हूँ । परंतु क्या किया जाय रसनाको तो दूसरे ही सुखका चसका लग गया है ।

३७७—अपने हिस्सेमें जो काम आया वही करता हूँ, पर भाव मेरा तेरे ही अंदर रहे । शरीर शरीरका धर्मपाठन करता है, पर भीतरकी बात रे मन ! तू मत भूल ।

३७८—कहीं किसी औरका प्रयोजन नहीं । सब जगह मेरे लिये तू ही तू है । तन, वाणी और मन तेरे चरणोंपर रखे हैं । अब हे भगवान् ! और कुछ बचा नहीं दीखता ।

३७९—आत्मबोधके लिये वैसी छटपटाहट हो जैसे जलके बिना मछली छटपटाती है ।

३८०—चौपड़के खेलोमें गोटीका मरना और जीना जैसा है, ज्ञानीकी दृष्टिमें जीवोका बन्ध-भोक्ष भी वैसा ही है ।

३८१—मुखमें अखण्ड नारायण-नाम ही मुक्तिके ऊपरकी भक्ति जानो ।

३८२—शरीर न बुरा है, न अच्छा है, इसे जल्दी हरि-भजनमें लगाओ ।

३८३—श्रीरामके बिना जो मुख है वह केवल चर्मकुण्ड है । भीतर जो जिह्वा है वह चमड़ेका टुकड़ा है ।

३८४—एक श्रीहरिकी ही महिमा गाया करे, मनुष्यके गीत न गाये ।

३८५—चिन्तनके लिये कोई समय नहीं लगता, उसके लिये कुछ मूल्य नहीं देना पड़ता, सब समय ही 'राम-कृष्ण-हरि-गोविन्द' नाम जिह्वापर बना रहे । यही एक सत्य-सार है—व्युत्पत्तिका भार केवल व्यर्थ है ।

३८६—कथा-कीर्तन करके जो द्रव्य देते या लेते हैं, वे दोनों ही भूले हुए हैं ।

३८७—जबतक जीवन है तबतक नाम-स्मरण करे, गीता-भागवत श्रवण करे और हरि-हर-मूर्तिका ध्यान करे ।

३८८—कर्मकर्मके फेरमें मत पड़ो । मैं भीतरी बात बतलाता हूँ, सुनो । श्रीरामका नाम अट्टहासके साथ उचारो ।

३८९—काम-वासनाके अधीन जिसका जीवन होता है, उस अधमको देखनेसे भी असगुन होता है ।

३९०—विषय-तृष्णाके जो अधीन होता है, उसीके रुखपर नाचता है, वह मदारीका बंदर-जैसा है ।

३९१—इरि-हरमें भेद नहीं है, झूठ-मूठ बहस मत करो । दोनों एक-दूसरेके हृदयमें हैं, जैसे मिठास चीनीमें और चीनी मिठासमें ।

३९२—भगवान् आगे-पीछे खड़े संसारका सकट निवारण करते हैं ।

३९३—दो ही अक्षरका काम । उचारो श्रीराम-नाम ।

३९४—भौरा चाहे जैसे कठिन काठको मौजके साथ भेदकर उसे खोखला कर देता है, परंतु कोमल कलीमें आकर फँस ही जाता है । वह प्राणोंका उत्सर्ग कर देगा, पर कमलदलको नहीं चीरेगा । स्नेह कोमल होनेसे ऐसा कठिन है ।

३९५—बच्चा जब बापका पल्ला पकड़ लेता है तब बाप वहीं खड़ा रह जाता है, इसलिये नहीं कि बाप इतना दुर्बल है, बल्कि इस कारणसे कि वह स्नेहमें फँसकर वहीं गड़ जाता है । प्रीतिकी यही निराली रीति है ।

३९६—जो श्रीहरिको प्रिय न हो, वह ज्ञान भी झूठा है और वह ध्यान भी झूठा है ।

३९७—भगवन् ! मेरा मन अपने अधीन करके बिना दाम दिये स्वामित्व क्यों नहीं भोगते ।

३९८—बड़ेका लड़का यदि दीन-दुखी दिखायी दे तो हे

भगवन् ! लोग किसको हँसेंगे ? लड़का चाहे गुणी न हो, खच्छतासे रहना भी न जानता हो तो भी उसका लालन-पालन तो करना ही होगा । वैसा ही मैं भी एक पतित हूँ, पर आपका मुद्राङ्कित हूँ ।

३९९—संतका लक्षण क्या है ? प्राणिमात्रपर दया ।

४००—भगवान् भक्तके उपकार मानते हैं, भक्तके ऋणी हो जाते हैं ।

४०१—हरिभक्तोंकी कोई निन्दा न करे, गोविन्द उसे सह नहीं सकते । भक्तोंके लिये भगवान्का हृदय इतना कोमल होता है कि वह अपनी निन्दा सह लेते हैं, परंतु भक्तकी निन्दा नहीं सह सकते ।

४०२—भक्तके पुकारनेकी देर है, भगवान्के पधारनेकी नहीं । इसलिये रे मन ! जल्दी कर ।

४०३—उठते-बैठते भगवान्को पुकार । पुकार सुननेपर भगवान्से फिर नहीं रहा जाता ।

४०४—भगवान् भक्तके आगे-पीछे उसे सँभाले रहते हैं, उसपर जो कोई आघात होते हैं, उनका निवारण करते रहते हैं, उसके योगक्षेमका सारा भार स्वयं वहन करते हैं और हाथ पकड़कर उसे रास्ता दिखाते हैं ।

४०५—भगवान्ने जिन्हें अङ्गीकार किया, वे जो निन्द्य भी थे, बन्ध हो गये ।

४०६—भगवद्भक्तिके बिना जो जीना है, उसमें आग लगे । अन्तः-कारणमें यदि हरि-प्रेम नहीं समाया तो कुल, जाति, वर्ण, रूप, विद्या इनका होना किस कामका ? इनसे उलटे दम्भ ही बढ़ता है ।

४०७—भगवान्को जो पसंद हो वही शुभ है, वही बन्ध है और वही उत्तम है। भगवान्की मुहर जिसपर लगेगी वही सिक्का दुनियामें चलेगा।

४०८—हरिशरणागति ही सब शुभाशुभ कर्मबन्धनोंसे मुक्त होनेका एकमात्र मार्ग है। जो शरणागत हुए वे ही तर गये। भगवान्ने उन्हें तारा, उन्हें तारते हुए भगवान्ने उनके अपराध नहीं देखे, उनकी जाति या कुलका विचार नहीं किया। भगवान् केवल भावकी अनन्यता देखते हैं।

४०९—अनन्य प्रेमकी गङ्गामें सब शुभाशुभ कर्म शुभ ही हो जाते हैं।

४१०—तुम्हारे नामने प्रह्लादकी अग्निमें रक्षा की, जलमें रक्षा की, विषको अमृत बना दिया। इस अनायके नाय तुम हो यह सुनकर मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ।

४११—भगवान् यदि भक्तपर दुःखके पहाड़ ढाह दें, उनकी घर-गृहस्थीका सत्यानाश कर डालें तो भक्त और भी उत्सुकता, उमंग और भक्तिपूर्वक उनका भजन करेंगे।

४१२—जिससे भगवान् मिलें वह लोक-दृष्टिमें हेय-कर्म हो तो भी करे, जिससे भगवान् छूट जायँ वह शुभ दीखनेवाला कर्म भी न करे।

४१३—भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन नामस्मरण है। नामस्मरणसे असंख्य भक्त तर गये।

है, यह बात अब मेरी समझमें आ गयी । हे कोमलहृदय हरि !
आपकी दया असीम है ।

४१५—प्रेममें जो तड़पन, व्यथा, विकलता और रुदन आदि होते हैं, वे सभी रति—प्रगाढ़ प्रीतिके अनुभाव हैं । प्रेमके आँसू धरदान हैं और शोकके आँसू अभिशाप ।

४१६—भगवान् कल्पवृक्ष हैं, चिन्तामणि हैं । चित्तू, जो-जो चिन्तन करे उसे पूरा करनेवाले हैं ।

४१७—जिसे गुरुका अनुग्रह मिला हो, गुरुसेवाके परमपूज्य हैं । जिसने भोग किया हो, वही उसकी माधुरी जान सकता है ।

४१८—गुरुकृपाके बिना कोई साधक कभी कृतकार्य नहीं हुआ । श्रीगुरुके चरण-धूलिमें लोटे बिना कोई भी कृतकृत्य नहीं हुआ । श्रीगुरु बोलते-चालते ब्रह्म हैं ।

४१९—सद्गुरु शिष्योंके नेत्रोंमें ज्ञानाक्षन लगाकर उसोच्छृष्टि देते हैं । ऐसे सद्गुरु बड़े भावसे जब मिलें, तब अत्यन्त नम्रता, विनम्र सद्भाव और दृढ़ विश्वासके साथ उनकी शरण लो, अपना सम्पूर्ण हृदय उन्हें अर्पण करो, उनके प्रति अपने चित्तमें, परम प्रेम धारण करो, उन्हें प्रत्यक्ष परमेश्वर समझो; इससे भक्तिज्ञानका समुद्र प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाओगे ।

४२०—महात्मा सिद्धपुरुष ईश्वरके रूप होते हैं । वे केवल स्पर्शसे, एक कृपाकटाक्षसे, केवल सकलमात्रसे भी श्रद्धासम्पन्न साधकको कृतार्थ करते हैं । पर्वतप्राय पापोंका बोझ ढोनेवाले भ्रष्ट जीवको भी अपनी दयासे वे क्षणार्धमें पुण्यात्मा बना देते हैं ।

४२१—भगवान्से मिलनेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुके नेत्र श्रीगुरु ही खोलते हैं ।

४२२—गुरु और शिष्यका सम्बन्ध पूर्वज और वंशजके सम्बन्ध-जैसा ही है । श्रद्धा, नम्रता, शरणागति और आदरभावसे शिष्य गुरुका मन मोड़ ले तो ही उनकी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है ।

४२३—स्वानुभूति ज्ञानकी परम सीमा है । वह स्वानुभूति ग्रन्थोंसे नहीं प्राप्त हो सकती, पृथ्वीपर्यटन करनेसे नहीं मिलती । स्वानुभवका ब्यर्थ रहस्य श्रीगुरुकी कृपाके बिना त्रिकालमें भी नहीं ज्ञात होगा ।

४२४—भगवान्की कृपासे जब ऐसा भाग्योदय हो कि श्रीगुरु दर्शन दें, तब सर्वान्तःकरणसे श्रीगुरुकी शरण लो, उनके बालक बनकर अनन्यभावसे उनकी सेवा करो, इससे तुम धन्य होगे ।

४२५—सत दुर्लभ तो है, पर अलभ्य नहीं । चन्दन महँगा मिलता है, पर मिलता तो है ।

४२६—भाग्यश्रीका जब उदय होना होता है, तभी सत मिलते हैं ।

४२७—मुमुक्षुको गुरु ढूँढना नहीं पड़ता, गुरु ही ऐसे शिष्योंको, जो कृतार्थ होने योग्य हुए हों, ढूँढा करते हैं ।

४२८—फलके परिपक्व होते ही तोता बिना बुझाये ही आकर उसपर चोंच मारता है । उसी प्रकार विरक्त जीवको देखते ही दया-कुल गुरु दौड़े आते हैं और आत्मरक्ष्य बतलाकर उसे कृतार्थ करते हैं ।

४२९—सब सत सद्गुरुस्वरूप ही हैं तथापि जैसे सब स्त्रियाँ माताके समान होनेपर भी स्तन-पान करानेवाली माता एक ही

होती है, वैसे ही सब संन सद्गुरु-समान होनेपर भी स्वानुभवामृत-पान करानेवाली ईश्वर-नियुक्त सद्गुरु माता भी एक ही होती है और मुमुक्षु शिशु जब भूखसे व्याकुल होकर रोने लगता है, तब सद्गुरु-मातासे एक क्षण रहा नहीं जाता और वह दौड़ी चली आती और शिशुको अमृतपान कराती है ।

४३०—गुरु ईश्वर-नियुक्त होते हैं । गुरु-शिष्यका सम्बन्ध अनेक जन्म-जन्मान्तरोंसे चला आता है और यह गुरु निश्चित समयपर निश्चित शिष्यको कृतार्थ किया करते हैं ।

४३१—भूतदया ही संतोंकी पूँजी है ।

४३२—चाभीको दाहिने घुमा रहे हो सो चायें घुमाओ तो ताला खुल जायगा । जियर जा रहे हो उधर पीठ फेर दो, आगे न देख पीछे देखो, बाहरकी ओर आँख लगाये हो सो अंदरकी ओर लगाओ, प्रवाह छोड़ उद्गमकी ओर मुड़ो तो सचमुच ही तुम मुक्त, सुखी, ब्रह्मस्वरूप होगे ।

४३३—कौन किसको बाँधता है, कौन किसको छुड़ाना है ? यह सब सङ्कल्पकी माया है ।

४३४—मन सरपट भागनेवाला घोड़ा है । तैराग्यकी लगामसे उसकी चाल काबूमें करके उसे वशमें करना हं गा । ऐसे दुर्जय मनपर जो सवार होगा, वह बलवानोंसे भी बलवान् है ।

४३५—मनकी एक बात बड़ी अन्धी है । जिस चीजका उसे चसका लगता है, उसमें वह लग ही जाता है, इसलिए इसे आत्मानुभवका सुख बराबर देते रहना चाहिये ।

४३६—एक ओरसे वैराग्यकी धूनी रमाकर चित्तसे विषयोंका त्याग करना और दूसरी ओरसे हरि-चिन्तनका आनन्द लेना, इस प्रकार वैराग्य और अभ्यास दोनों अख-शखोंकी मारसे मनोदुर्ग दखल करना होता है ।

४३७—ऐसा वैराग्य दृढ़ करना चाहिये कि मन विषयोंसे ऊब जाय, और दूसरी ओरसे उसे परमार्थका चसका लगाते हुए हरिभजनमें समीपि देनी चाहिये ।

४३८—मनसे ही मनको मारना, हरिभजनमें लगाकर उन्मन करना, हरिखरूपमें मिलाकर मनको मनकी तरह रहने ही न देना यिही तो मनोजय है ।

४३९—इस मनकी एक उत्तम गति है । यदि यह कहीं परमार्थमें लग गया तो चारों मुक्तियोंको दासियाँ बना छोड़ता है और परब्रह्मको बाँधकर हाथमें ला देता है । इतना बड़ा लाभ मनके वश करनेसे होता है ।

४४०—उत्तम गति अथवा अवोगति देनेवाला मन है । मन ही सबकी माता है । मनको छोड़कर और कोई खाम हेतु नहीं है । अतः पहले इसे प्रसन्न—निर्मल कर लो ।

४४१—मनको प्रसन्न करना उसे विषय-प्रवाहसे खींचकर हरिभजनके लगरमें बाँधना है । मनकी बड़ी रखवाली करनी पड़ती है, यह जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँसे इसे बड़ी सावधानीके साथ खींच लेना पड़ता है ।

४४२—नित्य जागकर इस मनको सँभालना पड़ता है ।

मदोन्मत्त हाथी जैसे अकुशके बिना नहीं सँभलता, वैसे ही यह चञ्चल मन अखण्ड सावधान रहे बिना ठिकाने नहीं रहता ।

४४३—एक क्षणमें पचासों जगह चक्कर लगा आनेवाले इस मनको भगवान् दया करें तो ही रोक सकते हैं ।

४४४—यह मन संसारकी बातें ही सोचता रहता है । हे भगवन् ! मेरे-तेरे बीच यही एक बड़ी भारी बाधा है । मैं तो भजन-पूजन करता हूँ, पर अदर मन संसारका ही ध्यान करता रहता है । हे नारायण ! आओ, दौड़ आओ, तुम्हीं इस अन्तरमें आकर भरे रहो ।

४४५—इस मनके कारण, हे भगवन् ! मैं बहुत ही दुखी हूँ । क्या मनके इन विकारोंको तुम रोक नहीं सकते ?

४४६—मेरा मन ऐसा चञ्चल है कि एक घड़ी, एक पल भी स्थिर नहीं रहता । अब हे नारायण ! तुम्हीं मेरी सुधि लो, मुझ दीनके पास दौड़े आओ ।

४४७—इस मनको बहुत रोक्यो, बंद कर रख्यो तो यह खीज उठता है, फिर चाहे जिधर भागता है । इसे भजन प्रिय नहीं, श्रवण प्रिय नहीं; विषय देखकर उसी ओर भागता है । सोते-जागते इसे कब कहाँतक रोक्यो जाय ? हे हरि ! अब तुम्हीं मेरी रक्षा करो ।

४४८—देखता यह हूँ कि यह मन तो बेवस, विषय-लोभी है । इस उलझनको कैसे सुलझाऊँ ? हे भगवन् ! क्या आप मेरी अममर्षता नहीं जानते ?

४४९—आपके बिना इस मनका दूसरा कौन चालक है, हे नारायण ! यह तो बताइये ।

४५०—मनका निरोध करता हूँ, पर विकार नष्ट नहीं होता । ये विषयद्वार बड़े ही दुस्तर हैं । यदि आप अंदरमें भरे रहते तो मैं निर्विषय होकर तदाकार हो जाता ।

४५१—रे मन ! यह कह कि मैं 'राम-कृष्ण-हरि' कहूँगा, उल्लासके साथ हरि-कथा सुनूँगा, संतोंके पैर पकड़ूँगा । तू इतना जरूर कर कि मैं जब हरि-प्रेमसे रंगशालामें नाचूँ, तब तू भी अदरका मैल धोकर तैयार रह और तालपर ताली बजाता चल ।

४५२—रे मन ! अब भगवान्‌के चरणोंमें लीन हो जा, इन्द्रियोंके पीछे मत दौड़ । वहाँ सब सुख एक साथ हैं और वे कभी कल्पान्तमें भी नष्ट होनेवाले नहीं ।

४५३—ऐसी विषम अवस्थामें जब मन और इन्द्रियाँ एक तरफ हो गयी हैं और दूसरी तरफ मैं हूँ—मेरी-उनकी ऐसी तनातनी है, तब हे हरि ! आप ही मध्यस्थ होकर इस कलहको मिटाइये, इसके सेवा और कोई उपाय नहीं है ।

४५४—मेरे दुर्गुण मुझे जान पड़ते हैं, पर क्या करूँ ! मनपर बस नहीं चलता ! अब आप ही हे नारायण ! बीचमें आ जाइये और अपने दया-सिन्धु होनेको सत्य कर दिखाइये ।

४५५—मैं जैसा भी हूँ तुम्हारा दास हूँ । मेरे माँ-बाप ! मुझे उदास न करो ।

४५६—क्या करूँ अब इस मनको ! यह विषयकी वासना तो नहीं छोड़ती, मनानेसे भी नहीं मानती । ठीक पतनकी ओर लिये जा रही है । हे हरि ! अब दौड़ो, नहीं तो मैं अब हूँबा ।

४५७—और कोई नहीं दिखायी देता जो इस मनको रोक रखे । एक घडी भी एक स्थानमे नहीं रहता, बन्धन तड़ातड़ तोड़कर भागता है । विपयोंके भँवरभरे भवसागरमें कूदा चाहता है । आशा-तृष्णा, कल्पना-पापिनी मेरा नाश करनेपर तुल्ली हुई है । हे नारायण ! तुम अभी देख ही रहे हो ।

४५८—परमार्थपथमें धन, स्त्री और मान—तीन बड़ी खाइयाँ हैं । पहले तो परमार्थके पथमें चलनेवाले पथिक ही बहुत थोड़े होते हैं । फिर जो होते हैं, उनमेंसे कुछ तो पहली पैसेकी खाईमें ही खो जाते हैं । इससे जो बचते हैं, वे आगे बढ़ते हैं । इनमेंसे कुछको दूसरी खाई (स्त्रीकी) खा जाती है । इससे भी बचकर जो आगे बढ़े, वे तीसरी खाई (मानकी) में खपते हैं । इन तीनों खाइयोंको जो पार कर जाते हैं, वे ही भगवत्कृपाके पात्र होते हैं, पर ऐसा पुरुष बिरला ही होता है ।

४५९—विरक्तके लिये धन गोमांस है । स्पर्श करनेको कौन कहे, वह उसकी ओर ताकतातक नहीं ।

४६०—रीछनी गुदगुदाकर प्राण डर लेती है, वैसे ही परमार्थी पुरुष यह जाने कि कामिनीका सङ्ग नाश करनेवाला है और उससे दूर रहे ।

४६१—प्राण जाय तो भी एकान्तमें या लोकान्तमें कभी स्त्रियोंसे सम्भाषण न करे ।

४६२—हे नारायण ! स्त्रियोंका सङ्ग न हो । काठ-पत्थर और मिट्टीकी भी स्त्रीकी मूर्तियाँ सामने न हों । उनकी माया ऐसी है कि

भगवान्का स्मरण नहीं होता, भगवान्का भजन नहीं होता, उनसे परचा हुआ मन वशमे नहीं होता । उनके नेत्रोंके कटाक्ष और हाव-भाव इन्द्रियोंके रास्ते मरणके कारण होते हैं । उनका लावण्य केवल दुःखका मूल है ।

४६३—वैष्णवके लिये परस्त्री रुक्मिणीमाताके समान है ।

४६४—परधन और परदाराकी इच्छा पामरोंके ही चित्तमें उठा करती है ।

४६५—नाम और मानके पीछे दुनिया तबाह है ।

४६६—परमार्यके सावकको चाहिये कि लोगोंके फेरमें कभी न पड़े । लोग दोमुँहे होते हैं—ऐसा भी कहते हैं, वैसा भी कहते हैं । वमनकी तरह जन-सङ्गको त्याग दे । जो अपना हित चाहता हो, वह जनको त्यागकर हरिभजनका सरल मार्ग आदर और प्रेमसे स्वीकार करे ।

४६७—हे मन ! मायाजालमें मन फँसो । काल अब ग्रसना चाहता है । आओ, श्रीहरिकी शरण आओ ।

४६८—इस ससारसे जो म्छा, उसीने सिद्ध पन्थपर पैर रक्खा ।

४६९—वर-बाहरकी सब उपाधि दूर करनेके लिये एकान्तवास ही सर्वोत्तम उपाय है ।

४७०—केवल एकान्त ही आधी समाधि है ।

४७१—भोगोंका स्वरूप जान लेनेपर उनमें रस आना बंद हो जायगा । फिर अपने-आप ही उनमें अरुचि हो जायगी । वे खारे

लगने लगे और ज्यों-ज्यों उनमें अरुचि होगी—उनकी इच्छाका नाश होगा, त्यों-ही-त्यों भगवत्प्राप्तिकी—नित्य सुन्दर और अनन्तको पानेकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठेगी ।

४७२—भगवत्प्रेम जैसे-जैसे बढ़ता है—‘कर्ता भगवान् हैं; मैं नहीं, यह जो कुछ है भगवान् का है मेरा नहीं;’ यह भाव जैसे-जैसे बलवान् हो उठता है वैसे-वैसे अहंकारकी आँधी भी बढ़ होती जाती है ।

४७३—अहङ्कार, लोकप्रियता, मान—ये सब लोकैषणाओंके बादल उत्कट भक्तिका सूर्योदय होते ही गल गये ।

४७४—पापकी मैं गठरी हूँ । दण्ड दो मुझे हे नारायण ! और मेरा मान-अभिमान उतारो । प्रभो ! मैं न तेरा हुआ न ससार-का । दोनोंसे गया । केवल चोर बना रहा ।

४७५—जन-मान साधकको धरतीपर पटककर उसके परमार्थका सत्यानाश करनेवाला है ।

४७६—लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं, पर मुझसे बड़ सुनो नहीं जाती, जी छटपटाया करता है । तू म जिसमें मिलो, हे हरि ! ऐसी कोई कला बताओ, मृगजलके पीछे मत लगाओ । अब मेरा हित करो, इस जलती हुई आगसे निकालो ।

४७७—संतचरणोंकी रज जहाँ पड़ती है, वहाँ वासना-बीज सहज ही जल जाता है । तब राम-नाममें रुचि होती है और घड़ी-घड़ी मुख बढ़ने लगता है । कण्ठ प्रेमसे गद्गद होता, नयनोंसे नीर बहता और हृदयमें नाम-रूप प्रकट होता है, यह बड़ा ही सुलभ-सुन्दर साधन है, पर पूर्व-पुण्यसे यह प्राप्त होता है ।

४७८—काय, वचन, मनसे मैं हरिदासोंका दास हूँ ।

४७९—संत-मिलनकी बड़ी इच्छा थी, बड़े भाग्यसे वह मिलन हुआ । इससे सब परिश्रम सफल हो गया ।

४८०—हरिभक्त मेरे प्यारे खजन हैं । उनके चरण मैं अपने हृदयपर धरूँगा । कण्ठमें जिनके तुलसीकी माला है, जो नामके धारक हैं, वे मेरे भव-नदीके तारक हैं । आलस्यके साथ हो, दम्भसे हो अथवा भक्तिसे हो, जो हरिका नाम गाते हैं, वे मेरे परलोकके साथी हैं ।

४८१—कोई कैसा भी हो, यदि हरिनाम लेनेवाला है तो वह धन्य है ।

४८२—हरि-कथा-माताका अमृतक्षीर जिनके सत्सङ्गसे सेवन कर पाता हूँ, उन दयालु हरिभक्तोंके दासोंका मैं दास हूँ ।

४८३—अखण्ड नाम-स्मरणका आनन्द अहर्निश प्राप्त हुए बिना चित्तशुद्धिका साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

४८४—नाम-स्मरणका चसका लगना है बड़ा कठिन । पर एक बार जहाँ चसका लगा, वहाँ फिर एक पल भी नामसे खाली नहीं जाता ।

४८५—नाम-स्मरण यह है कि चित्तमें रूपका ध्यान हो और मुखमें नामका जप हो । अन्तःकरणमें ध्यान जमता जाय, ध्यानमें चित्त रँगता जाय, चित्तकी तन्मयता होती जाय, यही वाणीमें नामके बैठ जानेका लक्षण है ।

४८६—चित्तमें ध्यान न हो तो न सही, पर वाणीमें तो हो—यह नाम-स्मरणकी पहली सीढ़ी है ।

४८७—हे हरि ! तुम्हारे प्रेम-सुखके सामने वैकुण्ठ बेचारा क्या है !

४८८—धन्य है वह काल जो गोविन्दके सङ्कल्प बहिन करता हुआ आनन्दरूप होकर बहा जा रहा है ।

४८९—गुण गाते हुए, नेत्रोंसे रूप देखते हुए तृप्ति नहीं होती । प्रभु मेरे कितने सुन्दर हैं, जलभरे मेघ-जैसी श्याम कान्ति कैसी शोभा देती है । सब मङ्गलोंका यह सार है, सुख-सिद्धियोंका भण्डार है, यहाँ सुखका क्या बार-बार है ।

४९०—मुखमें नाम हो तो चरणोंमें मुक्ति लोटती है । बहुतों-को इसकी प्रतीति हो चुकी है ।

४९१—जीभको एक बार नामकी चाट ढग जानी चाहिये, फिर प्राण जानेपर भी नामको वह नहीं छोड़ती । नामचिन्तनमें ऐसा विलक्षण माधुर्य है ।

४९२—चीनी और मिठास जैसे एक हैं, वैसे ही नाम और नामी भी एक ही हैं, पर वह अनुभव नामस्मरणानन्द भोगनेवालोंको ही प्राप्त होता है ।

४९३—नाम-चिन्तनसे जन्म-जरा-मय-व्याधि छूट जाते हैं, भवरोग सदाके लिये नष्ट हो जाता है, ससार-पाश छिन्न-भिन्न हो जाता है ।

४९४—हरि-प्रेमका चसका बदनसे रसना रसीली हो जाती है । इन्द्रियोंकी दौड थम जाती है, अनुपम सुख स्वयं घर ढूँढता हुआ चला आता है ।

४९५—जब हरिप्रेमका चसका लगता है, तब एक हरिके सिवा और कुछ भी नजर नहीं आता ।

४९६—नाम लेते मन शान्त होता है, जिह्वासे अमृत श्रवण लगता है और लाभके बड़े अच्छे शकुन होते हैं ।

४९७—जहाँ भी बैठें, खेलें, भोजन करें, वहाँ तुम्हारे नाम गायेंगे । राम-कृष्णके नामकी माला गूँथकर गलेमें डालेंगे ।

४९८—आसन, शयन, भोजन, गमन सर्वत्र सब कामोंमें श्रीहरिका सङ्ग रहे । गोविन्दसे यह अखिल काल सुकाल है ।

४९९—अब भगवान्को छोड़ और कुछ बोलना ही नहीं है । बस, यही एक नियम बना लिया है । काम, क्रोध भी भगवान्को दे चुका है ।

५००—वही अन्न पवित्र है जिसका भोग हरिचिन्तनमें है, वही भोजन स्वादिष्ट है जिसमें श्रीहरि मिश्रित हैं ।

५०१—तुम्हारा यह श्रीमुख हे हरि ! ऐसा दीखता है जैसे सुखका ही ढला हुआ हो, इसे देख मेरी भूख-प्यास हर जाती है । तुम्हारे गीत गाते-गाते रसना मीठी हो गयी । चित्त तृप्त हो गया ।

५०२—तुम्हारे कोमल चरण चित्तमें धारण कर लिये, कण्ठमें नामकी एकावली डाल ली । काया शीतल हुई, चित्त पीछे फिरकर विश्रान्ति-स्थानमें पहुँच गया, अब आगे संसारकी ओर नहीं आता है । मेरे सब हौसले पूरे हुए । सब कामनाएँ श्रीगोपालने पूरी कर दीं ।

५०३—नाम लेनेसे कण्ठ आर्द्र और शरीर शीतल होता है । इन्द्रियाँ अपना व्यापार भूल जाती हैं । यह मधुर सुन्दर नाम

अमृतको भी मात करता है। इमने मेरे चित्तपर अधिकार कर लिया है। प्रेमरससे शरीरकी कान्तिको प्रसन्नता और पुष्टि मिली। यह नाम ऐसा है कि इससे क्षणमात्रमें त्रिविध ताप नष्ट होते हैं।

५०४—यह नामस्मरण ऐसा है कि इससे श्रीहरिके चरण चित्तमें, रूप नेत्रोंमें और मुखमें आता है और यह जीवको हरि-प्रेमका आनन्दामृत पान कराकर उसका जीवत्व हर लेता है। तब हरि ही रह जाते हैं।

५०५—नामस्मरणसे वह चीन ज्ञात हुई जो अज्ञात थी, वह दिखायी देने लगा जो पहले नहीं देखा गया, वह वाणी निकली जो पहले मौन थी, वह मिलन हुआ जो पहले चिरविरहमें छिपा था और यह सब आप-ही-आप हो गया।

५०६—भजनकी ओर चित्त ज्यों-ज्यों झुकता है, त्यों-त्यों भगवत्सान्निध्यका पता लगता है। पर यह अनुभव उसीको मिल सकता है, जो इसे करके देखे।

५०७—श्रीहरिकी शपथ नामको छोड़ उद्धारका और कोई उपाय मेरे नहीं है।

५०८—चारों वेद, छहो शास्त्र और अठारहों पुराणका सार-तत्त्व सुनाता हूँ, वह है श्रीरामका नाम।

५०९—नर-जन्मकी सार्थकता भगवान्‌के मिलनमें ही है।

५१०—भगवान्‌की भक्तिमें ही भगवान्‌का रूप दिखायी देता है।

उपास्यदेव ध्यानमें बैठकर चित्तमें खेलने लगते हैं, स्वप्न देकर आदेश सुनाते हैं । ऐसी प्रतीति होती है कि वह पीठपर हैं और उनका प्रेम बढ़ता जाता है, तब उनसे मिलनेके लिये जी छटपटाने लगता है, तब प्रत्यक्ष दर्शन भी होते हैं और यह अनुभूति होती है कि वह निरन्तर हमारे समीप हैं और अन्तमें यह अवस्था आती है कि अंदर-बाहर वही हैं, और वही सब भूतोंके हृदयमें हैं । उन्हें छोड़ ब्रह्माण्ड-में और कोई नहीं, मेरे अंदर वही हैं और मैं भी वही हूँ ।

५२७—समरस हुए भक्त भक्तिका आनन्द छटनेके लिये भगवान् और भक्तका द्वैत केवल मनकी मौजसे बनाये रहते हैं ।

५२८—हवाको हिलाकर देखनेसे वह आकाशसे अलग जान पड़ती है, पर आकाश तो ज्यों-का-त्यों ही रहता है । वैसे ही भक्त शरीरसे कर्म करता हुआ भक्त-सा जान पड़ता है, पर अन्तःप्रतीतिसे वह भगवत्स्वरूप ही रहता है ।

५२९—सिद्धान्त अद्वैतका और मजा भक्तिका, यही तो भागवत-धर्मका रहस्य है ।

५३०—वसुदेवसुत देवकीनन्दन ही सर्वरूपाकार सर्वदिक्-नेत्र और सर्वदेशनिवास परमात्मा हैं और भक्तोंकी प्रीतिके वश अमूर्त होकर भी व्यक्त हुए हैं ।

५३१—जैसा जिसका भाव हो, भगवान् वैसे ही हैं ।

५३२—मार्गकी प्रतीक्षा करते-करते नेत्र थक गये । इन नेत्रोंको अपने चरण-कमल कब दिखाओगे ? तुम मेरी मैया हो; दयामयी छाया हो । मेरे लिये तुम्हारा ऐसा कठोर हृदय कैसे हो गया ? मेरी बोंहें, हे मेरे प्राणधन हरि ! तुमसे मिलनेको फड़क रही हैं ।

५३३—हे हरि, हे दीनजनतारक ! तुम्हारा यह सुन्दर सगुणरूप मेरे लिये सब कुछ है । पतितपावन ! तुमने बड़ी बेर लगायी, क्या अपना वचन भूल गये ? घर-गिरस्ती जलाकर तुम्हारे आँगनमें आ बैठा हूँ । इसकी तुम्हें कुछ सुघ ही नहीं है । हे मेरे जीवनसखा ! रिस मत करो, अब उठो और मुझे दर्शन दो !

५३४—जीकी बड़ी साध यही है कि तुम्हारे चरणोंसे भेंट हो । इस निरन्तर वियोगसे चित्त अत्यन्त व्याकुल है ।

५३५—आत्मस्थितिका विचार क्या करूँ ? क्या उद्गार करूँ ? चतुर्भुजको देखे बिना धीरज ही नहीं बँध रहा है । तुम्हारे बिना कोई बात हो यह तो मेरा जी नहीं चाहता । नाथ ! अब चरणोंके दर्शन कराओ ।

५३६—मेरे प्राण ! एक बार मिलो और अपनी छातीसे लगाओ ।

५३७—ये आँखें फूट जायँ तो क्या हानि है । जब ये पुरुषोत्तमको नहीं देख पातीं । अब प्रभुके बिना एक क्षण भी जीनेकी इच्छा नहीं ।

५३८—अब अपना श्रीमुख दिखाओ, इससे इन आँखोंकी भूख बुझेगी ।

५३९—अब आकर मिलो । पीठपर हाथ फेरकर अपनी छातीसे लगा लो ।

५४०—मुझसे आकर मिलोगे, दो-एक बातें करोगे तो इसमें तुम्हारा क्या खर्च हो जायगा ?

५४१—जो लोग अरूपकी इच्छा करते हों उनके लिये आप

५११—भक्तिका भेद जो जानता है, उसके द्वारपर अष्ट महासिद्धियाँ लोटा करती हैं, 'जाओ' कहनेसे भी नहीं जाती ।

५१२—सब रास्ते सँकरे हो गये, कल्लिमें कोई साधन नहीं बनता । भक्तिका पंथ बड़ा सुलभ है । इस पंथमें सब कर्म श्रीहरिके समर्पित होते हैं, इससे पाप-पुण्यका दाग नहीं लगता और जन्म-मृत्युका बन्धन कट जाता है ।

५१३—भक्तिमार्गपर चलनेवालेके सहायक स्वयं श्रीभगवान् होते हैं ।

५१४—दोनों हाथ उठाकर भगवान् पुकारकर कहते हैं कि मेरे जो भक्त हैं, उनका मैं ही सहायक हूँ—'न मे भक्तः प्रणश्यति ।'

५१५—भक्तिमार्ग ही ऐसा मार्ग है कि जीव अनन्यभावसे भगवान्की शरणमें जत्र जाता है, तब भगवान् उसे गोदमें उठा लेते हैं ।

५१६—जप करो, तप करो, अनुष्ठान करो, यज्ञ-याग करो, सतोंने जो-जो मार्ग चलाये हैं, उन सबको चलाओ । संतोंके वचनोंको सत्य मानकर तुमलोग नारायणकी शरणमें जाओ ।

५१७—सभी मार्ग ठीक हैं, परंतु मुझे तो प्रेम-निर्झर चाहिये । तुम्हारी भक्तिका रस चाहिये ।

५१८—तुम भगवान् हो और मैं भक्त हूँ, यह जो नाता है यह कभी न टूटे और भक्तिका रंग कभी फीका न पड़े, यही तुम्हारे चरणोंमें मेरी विनती है ।

५१९—प्रेम बोला नहीं जा सकता, बताया नहीं जा सकता, उठाकर हाथपर रखा नहीं जा सकता । यह चित्तका अनुभव है, चित्त ही जान सकता है ।

५२०—भगवान्का चिन्तन करना, उनका नाम लेना, उनके रूपमें तन्मय हो जाना ही मेरा तप है, यही मेरा योग, यही मेरा यज्ञ, यही मेरा ज्ञान, यही मेरा जप-ध्यान, यही मेरा कुलचार और यही मेरा सर्वस्व है ।

५२१—कर्म-ज्ञान-योगमें जो-जो कमी हो उसकी पूर्ति हरिप्रेम-से हो जाती है, इसलिये भक्तियोग ही सबसे श्रेष्ठ योग है । नारायण भक्तिके वश होते हैं ।

५२२—भक्ति-प्रेम-सुख औरोंसे नहीं जाना जाता; चाहे वे पण्डित, बहुपाठी या ज्ञानी हों । आत्मनिष्ठ जीवनमुक्त भी हों तो भी उनके लिये भक्ति-सुख दुर्लभ है । नारायण यदि कृपा करें तो वह यह रहस्य जाना जा सकता है ।

५२३—सगुण और निर्गुण दोनों ही जिसके अङ्ग हैं, वह हमारे संग खेला करता है ।

५२४—सगुणका स्वरूप देखते ही भूख-प्यास भूल जाती और मन प्रेममय हो जाता है ।

५२५—दीपक हाथमें ले लेनेसे घरमें सब जगह उजाला हो जाता है । वैसे ही प्रभुकी मूर्ति जब ध्यानमें बैठ जाती है, तब समग्र चैतन्य दृष्टिमें समा जाता है ।

५२६—भगवान्की मूर्तिका दर्शन, स्पर्श, भजन-पूजन, कथ कीर्तन, मनन-चिन्तन करते रहनेसे जिन उपास्यदेवकी वह मूर्ति है :

उपास्यदेव ध्यानमें बैठकर चित्तमें खेलने लगते हैं, स्वप्न देकर आदेश सुनाते हैं । ऐसी प्रतीति होती है कि वह पीठपर हैं और उनका प्रेम बढ़ता जाता है, तब उनसे मिलनेके लिये जी छटपटाने लगता है, तब प्रत्यक्ष दर्शन भी होते हैं और यह अनुभूति होती है कि वह निरन्तर हमारे समीप हैं और अन्तमें यह अवस्था आती है कि अंदर-बाहर वही हैं, और वही सब भूतोंके हृदयमें हैं । उन्हें छोड़ ब्रह्माण्ड-में और कोई नहीं, मेरे अंदर वही हैं और मैं भी वही हूँ ।

५२७—समस्त हुए भक्त भक्तिका आनन्द छूटनेके लिये भगवान् और भक्तका द्वैत केवल मनकी मौजसे बनाये रहते हैं ।

५२८—हवाको हिलाकर देखनेसे वह आकाशसे अलग जान पड़ती है, पर आकाश तो ज्यों-का-त्यों ही रहता है । वैसे ही भक्त शरीरसे कर्म करता हुआ भक्त-सा जान पड़ता है, पर अन्तःप्रतीतिसे वह भगवत्स्वरूप ही रहता है ।

५२९—सिद्धान्त अद्वैतका और मजा भक्तिका, यही तो भागवत-धर्मका रहस्य है ।

५३०—वसुदेवसुत देवकीनन्दन ही सर्वरूपाकार सर्वदिक्-नेत्र और सर्वदेशनिवास परमात्मा हैं और भक्तोंकी प्रीतिके वश अमूर्त होकर भी व्यक्त हुए हैं ।

५३१—जैसा जिसका भाव हो, भगवान् वैसे ही हैं ।

५३२—मार्गकी प्रतीक्षा करते-करते नेत्र थक गये । इन नेत्रोंको अपने चरण-कमल कब दिखाओगे ? तुम मेरी मैया हो; दयामयी छाया हो । मेरे लिये तुम्हारा ऐसा कठोर हृदय कैसे हो गया ? मेरी बाँहें, हे मेरे प्राणधन हरि ! तुमसे मिलनेको फड़क रही हैं ।

५३३—हे हरि, हे दीनजनतारक ! तुम्हारा यह सुन्दर सगुणरूप मेरे लिये सब कुछ है । पतितपावन ! तुमने बड़ी बेर लगायी, क्या अपना वचन भूल गये ? घर-गिरस्ती जलाकर तुम्हारे आँगनमें आ बैठा हूँ । इसकी तुम्हें कुछ सुध ही नहीं है । हे मेरे जीवनसखा ! रिस मत करो, अब उठो और मुझे दर्शन दो !

५३४—जीकी बड़ी साध यही है कि तुम्हारे चरणोंसे भेंट हो । इस निरन्तर वियोगसे चित्त अत्यन्त व्याकुल है ।

५३५—आत्मस्थितिका विचार क्या करूँ ? क्या उद्धार करूँ ? चतुर्भुजको देखे बिना धीरज ही नहीं बँध रहा है । तुम्हारे बिना कोई बात हो यह तो मेरा जी नहीं चाहता । नाथ ! अब चरणोंके दर्शन कराओ ।

५३६—मेरे प्राण ! एक बार मिलो और अपनी छातीसे लगाओ ।

५३७—ये आँखें फूट जायँ तो क्या हानि है । जब ये पुरुषोत्तमको नहीं देख पातीं । अब प्रभुके बिना एक क्षण भी जीनेकी इच्छा नहीं ।

५३८—अब अपना श्रीमुख दिखाओ, इससे इन आँखोंकी भूख बुझेगी ।

५३९—अब आकर मिलो । पीठपर हाथ फेरकर अपनी छातीसे लगा लो ।

५४०—मुझसे आकर मिलोगे, दो-एक बातें करोगे तो इसमें तुम्हारा क्या खर्च हो जायगा ?

५४१—जो लोग अरूपकी इच्छा करते हों उनके लिये आप

अरूप बनिये । पर मैं तो सरूपका प्रेमी हूँ । मैं तो आपके सगुण-साकार रूप-रसका प्यासा हूँ ।

५४२—आपके चरणोंमें मेरा चित्त लगा है । मैं तो अज्ञानी ही हूँ । भला बच्चा भी कहीं आपसे दूर रहने योग्य बननेके लिये सयानोंकी बराबरी कर सकता है ।

५४३—ज्ञानी पुरुषोंकी बराबरी मैं अजान होकर कैसे कर सकता हूँ । बच्चा जब सयाना हो जाता है तब माता उसे दूर रखती है; अजान शिशु तो माताकी गोदमें ही स्थान पाता है ।

५४४—जो ब्रह्मज्ञानी हों उन्हें मोक्ष (छुटकारा) दे दो, पर मुझे मत छोड़ो । मुझे मोक्ष न चाहिये ।

५४५—तुम्हारे नामका जो नेह लगा है, वह अब छूटने-वाला नहीं ।

५४६—रसना तुम्हारे ही नामकी रसिक हो गयी है, आँखें तुम्हारे ही चरणोंके दर्शनकी प्यासी हैं । यह भाव अब मेरा बदलनेवाला नहीं । इसलिये तुम अब मेरे इस प्रेमरसको सूखने मत दो । अपनेसे मुझे अब दूर मत करो । मैं तुम्हारा मोक्ष नहीं चाहता, तुम्हींको चाहता हूँ ।

५४७—ऐसे मौन साधे क्यों बैठे हो । मेरी बातका जवाब दो । मेरा पूर्वसंचित सारा पुण्य तुम हो, तुम्हीं मेरे सत्कर्म हो, तुम्हीं मेरे स्वधर्म हो, तुम्हीं नित्य नियम हो । हे नारायण ! मैं तुम्हारे कृपावचनोंकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।

५४८—प्रेमियोंके हे प्रियोत्तम ! हे सर्वोत्तम ! मुझसे बोलो । शरणागतको महाराज ! पीठ न दिखाओ, यही मेरी विनय है ।

जो तुम्हें पुकार रहे हैं, उन्हें चट उत्तर दो, जो दुखी हैं उनकी टेर सुनो, उनके पास दौड़े आओ । जो थके हैं उन्हें दिलासा दो और हमें न भूलो, यही तो हे नारायण ! मेरी तुमसे प्रार्थना है ।

५४९—कम-से-कम एक बार यही न कह दो कि 'क्यों तंग कर रहे हो, यहाँसे चले जाओ ।' हे हरि ! तुम ऐसे निठुर क्यों हो गये ।

५५०—साधु-संतोंसे तुम पहले मिले हो, उनसे बोले हो, वे भाग्यवान् थे, क्या मेरा इतना भाग्य नहीं । आजतक तुमने किसीको निराश नहीं किया; और मेरे जीकी लगन तो यही है कि तुमसे मिलूँ, इसके बिना मेरे मनको कल नहीं पड़ती ।

५५१—अब तुम्हारी ही शरण ली है; क्योंकि तुम्हारा कोई भी दास विफलमनोरथ नहीं हुआ ।

५५२—अकालपीडित भूखेके सामने मिष्ठान्न परोसा हुआ थाल आ जाय अथवा घातमें बैठी हुई बिल्ली मक्खनका गोला देख ले तो उसकी जो हालत होती है, वही मेरी हालत हुई है । तुम्हारे चरणोंमें मन ललचाया है, मिलनेके लिये प्राण सूख रहे हैं ।

५५३—तुम्हारे बिना हे प्राणेश्वर ! मुझपर ममत्व रखनेवाला इस विश्वमें और कौन है ? किससे हम अपना सुख-दुःख कहें, कौन हमारी भूख प्यास बुझायेगा ।

५५४—हमारे तापको हरनेवाला और कौन है ? हम अपना सवाल किससे लगावें ? कौन हमारी पीठपर प्यारसे हाथ फेरेगा ?

५५५—दौड़ी आओ, मेरी मैया ! अब क्या देखती हो ? अब धीरज नहीं रहा । वियोगसे व्याकुल हो रहा हूँ । अब जीको ठंडा

करो, अबतक रोते ही बीता है । कब यह मस्तक तुम्हारे चरणोंमें रखूंगा, यही एक ध्यान है ।

५५६—सोल्ह हजार तुम बन सकते हो, सोल्ह हजार नारियोंके लिये तुम सोल्ह हजार रूप धारण कर सकते हो, पर इस अधमके लिये एक रूप धारण करना भी तुम्हारे लिये इतना कठिन हो गया है ?

५५७—भगवन् ! तुम्हारी उदारता मैं समझ गया । मैं तो तुम्हारे चरणोंपर 'मस्तक रखूँ और तुम अपने गलेका हार भी मेरी अङ्गुलिमें न डालो । हाँ, समझा ! जो छाछ भी नहीं दे सकता, वह भोजन क्या करावेगा ?

५५८—द्वारपर खड़ा मैं कबसे पुकार रहा हूँ, पर 'हाँ' तक कहनेकी जरूरत आप नहीं समझते ? कोई अतिथि आ जाय तो शब्दोंसे उसको संतोष दिखानेमें क्या खर्च हुआ जाता है ?

५५९—भगवन् ! तुम भरमाने-भटकानेमें बड़े कुशल हो तो मैं भी बड़ा अड़ियल हूँ । तुम्हें मौन साधे बैठ रहना ही अच्छा लगता है तो क्या इतनेसे ही मैं तुम्हारा पछा छोड़ दूँगा ?

५६०—सचमुच ही परमात्मन् ! तुमसे ही तो मैं निकला हूँ । तब तुमसे अलग कैसे रह सकता हूँ ?

५६१—भगवन् ! तुम्हारे प्रेमकी खातिर, तुम्हारी एक बातके लिये, तुम्हारे दर्शन पानेके लिये मैं क्या नहीं कर सकता ! पर आज्ञा तो दो, कुछ बोली तो ।

५६२—मेरा चित्त तुमसे मिलनेके लिये छटपटा रहा है और तुम ऐसे हो कि सायत देख रहे हो ! मैं दोषी हूँ, अपराधी हूँ, पापी

हूँ, इसलिये मुझपर क्रोध मत करो । इस अनजान बालकको रुलाओ मत ।

५६३—अपनेको पापी कहूँ तो आपके चरणोंका स्मरण करता हूँ । मेरा पाप क्या आपके चरणोंसे भी अधिक बलवान् है ?

५६४—भगवन् ! हम विष्णुदास हैं । हमारा सब बड़-भरोसा तुम हो । पर इस कालको देखता हूँ हमारे ही ऊपर हुकूमत चला रहा है ।

५६५—भगवन् ! मैं तो आपका बच्चा हूँ न ? बच्चेसे क्या जोर अजमाना ? देखो, दीनानाथ ! अपने विरदकी लज रखो ।

५६६—भगवन् ! अब मेरा तिरस्कार करते हो ? ऐसा ही करना था तो पहले अपने चरणोंका स्नेह क्यों दिया ? हमारे प्राण ही लेने थे तो दृष्टिमें ही क्यों आये ?

५६७—भगवन् ! मैंने अपना सम्पूर्ण शरीर आपके चरणोंमें समर्पित किया है और आप क्या मेरा छूत मानते हैं या मेरे सामने आते हुए लजाते हैं ? हृदयेश ! प्रेम-दान कर मुझे मना लो ।

५६८—आपके चरणोंमें क्या जोर अजमाऊँ ? मेरा तो यही अधिकार है कि दास होकर करुणाकी भिक्षा माँगूँ ।

५६९—तुम्हारे श्रीमुखके दो शब्द सुन पाऊँ, तुम्हारा श्रीमुख देख लूँ, बस, यही एक आस लगी है ।

५७०—भगवन् ! मुझसे आप कुछ बोलते नहीं । क्यों इतना दुखी कर रहे हैं । प्राण कण्ठमें आ गये हैं । मैं आपके वचनकी बाट जोह रहा हूँ । मैं भगवान्का कहाता हूँ और भगवान्से ही मेंट नहीं । इसकी मुझे बड़ी लज्जा आती है ।

५७१—भगवन् ! मेरे प्रेमका तार मत तोड़ो । आपकी कृपा होनेपर मैं ऐसा दीन-हीन न रहूँगा । पेट भरनेपर क्या संसारसे कहना पड़ता है कि मेरा पेट भरा ? तृप्ति चेहरेसे ही मालूम हो जाती है, चेहरेकी प्रसन्नता ही उसकी पहचान है ।

५७२—सतीको बखालङ्कार पहनाकर चाहे जितना सिंगारिये, पर जबतक पतिका सङ्ग उसे नहीं मिलता, तबतक वह मन-ही-मन कुढ़ा करती है, वैसे ही तुम्हारे दर्शन बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता ।

५७३—भगवन् ! तुमसे यदि मेरी प्रत्यक्ष भेंट नहीं हुई और कोरी बातें ही करते रहे तो ये सत मुझे क्या कहेंगे । इसको भी तनिक विचारो ।

५७४—जिसने भगवान्‌के साक्षात् दर्शन नहीं किये, संतोंमें उसकी मान्यता नहीं । सत् और भक्त वही है जिसे भगवान्‌का सगुण-साक्षात्कार हुआ हो । भोजनके बिना तृप्ति कहाँ ?

५७५—भगवान् आलिङ्गन देकर प्रीतिसे इन अङ्गोंको शान्त करेंगे और अमृतकी दृष्टि डालकर मेरे जीको ठंडा करेंगे । गोदमें उठा लेंगे और भूख-प्यास भी पूछेंगे और पीनाम्बरसे मेरा मुँह पोछेंगे । प्रेमसे मेरी ओर देखते हुए मेरी ठुड़ी पकड़कर मुझे सान्त्वना देंगे । मेरे माँ-बाप हे विश्वम्भर ! अब ऐसी ही कुछ कृपा करो ।

५७६—मेरे माँ-बाप मुझे प्रत्यक्ष बनकर दिखाइये । आँखोंसे देख लूँगा तब तुमसे बातचीत भी करूँगा, चरणोंमें लिपट जाऊँगा । फिर चरणोंमें दृष्टि लगाकर हाथ जोड़कर सामने खड़ा रहूँगा । यही मेरी उत्कट वासना है । नारायण ! मेरी यह कामना पूरी करो ।

५७७-अभिलाषा मेरी यह है कि आपकी-मेरी बातचीत हो और उससे सुख बढ़े । आँखे भरकर आपका श्रीमुख देखूँ । यह मैं आपके चरणोंको साक्षी रखकर सच-सच कहता हूँ ।

५७८-तुम्हारा प्रेममुख छोड़कर हम जीवन्मुक्त किसलिये हों ? कौन ऐसा अभाग होगा जो इसे लात मार दे ?

५७९-हे गोपिकारमण ! अब मुझे अपना रूप दिखाओ, जिसमें मैं अपना मस्तक आपके चरणोंपर रखूँ । तुम्हारा श्रीमुख देखूँगा । तुम्हें आलिङ्गन करूँगा, तुम्हारे ऊपरसे राई-नोन उतारूँगा । तुम पूछोगे तब अपनी सब बात कहूँगा । एकान्तमें बैठकर तुमसे मुखकी बातें करूँगा ।

५८०-मुझ अनाथके लिये हे नाथ ! अब तुम एक बार चले ही आओ ।

५८१-तुम्हारे लिये जीव तड़प रहा है । हृदय अकुला रहा है । चित्त तुम्हारे चरणोंमें लगा है । तुम्हारे बिना अब रहा नहीं जाता ।

५८२-गरुड़के पैरोंपर बार-बार मस्तक रखता हूँ । हे गरुड़जी ! उन हरिको शीघ्र ले आइये, मुझ दीनको तारिये । भगवान्‌के चरण जिन लक्ष्मीजीके हाथोंमें हैं, उनसे गिड़गिड़ाता हूँ कि हे लक्ष्मीजी ! उन हरिको शीघ्र ले आइये और मुझ दीनको तारिये । हे शेषनाग ! आप हृषीकेशको जगाइये ।

५८३-हे नारायण ! तुम्हें उन गोपालोंने अपने पुण्यवान् नेत्रोंसे कैसा देखा होगा । उनके उस सुखके लोभसे मेरा मन ललचाया है । मुझे वह आनन्द कब मिलेगा ? तुम्हारे श्रीमुखकी ओर टकटकी लगाये रहनेका आनन्द कैसा होगा ? अनुभवके-बिना

मैं उसे कैसे जानूँ ? तुम्हारा रूप इन आँखोंसे कब देखूँगा ? तुम्हारे आळिङ्गनका आनन्द कब लाभ करूँगा, चित्त प्रतिक्षण यही सोचता है ।

५८४—वह श्यामघननील, उनका वह पीताम्बर, वह मुकुट, वे कुण्डल, वह चन्दनकी खौर, वह निर्मल कौस्तुभमणि और वह वैजयन्ती माला, वह सुखनिर्मित श्रीमुख, ऐसे वह सुकुमार मदनमूर्ति श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं और उनके सखा गोपाल अनिमेष लोचनोंसे उनके सुन्दर मुखकमलकी ओर आनन्दानुभवसे स्थिर होकर देख रहे हैं, यह सम्पूर्ण दृश्य नेत्रोंके सामने नाच रहा है ।

५८५—अपने नेत्रोंसे श्रीकृष्णको जीभर कब देखूँगा, श्रीकृष्ण अपनी बाहोंसे मुझे कब अपनी छातीसे लगावेंगे, प्रतिक्षण मेरे चित्तमें यही लालसा लगी रहती है ।

५८६—निगमके वनमें भटकते-भटकते क्यों थके जा रहे हो ? ग्वालोंके घर चले आओ, यहाँ वह रस्सीसे बँधे हैं ।

५८७—गीताका जिन्होंने उपदेश किया वही मेरे कन्हैया यहाँ खड़े हैं ।

५८८—तुम्हारा श्रीमुख और श्रीचरण मैं देखूँगा—जरूर देखूँगा । उसीमें मन लगा अधीर हो उठा है । पाण्डवोंको जब-जब कष्ट हुआ, तब-तब स्मरण करते ही तुम आ गये । द्रौपदीके लिये तुमने उसकी चोलीमें गाँठ बाँध दी । गोपियोंके साथ कौतुक करते हो, गौओं और ग्वालोंको सुख देते हो; अपना वही रूप मुझे दिखा दो । तुम तो अनायके नाथ और शरणागतोंके आश्रय हो । मेरी यह कामना पूरी करो ।

५८९—कृष्ण ही मेरी माता हैं, कृष्ण ही मेरे पिता हैं, जीके जीवन एक कृष्ण ही हैं ।

५९०—अनन्त ब्रह्माण्ड जिसके उदरमें है, वह हरि नन्दके घर बालक हैं ।

५९१—अंदर हरि, बाहर हरि, हरिने ही अपने अंदर बंद कर रखा है ।

५९२—कटिमें सुवर्णाम्बर सुशोभित हो रहा है और गलेमें पैरोंतक वनमाला लटक रही है । उन सुन्दर मधुर वनश्यामको देखते हुए नेत्रोंसे मानो प्राण निकल पड़ते हैं ।

५९३—श्रीकृष्ण लीला-विग्रह हैं । उनका शरीर लोकाभिराम और ध्यान-धारण मङ्गलप्रद हैं । वेदोंका जन्मस्थान, षट्शास्त्रोंका समाधान, षड्दर्शनोंकी पहेली—ऐसा यह श्रीकृष्णका पूर्णवितार है ।

५९४—भक्तिका रहस्य जानना हो तो आओ, श्रीवृन्दावन-लीलाका आश्रय करो ।

५९५—चारों वेद जिसकी कीर्ति बखानते हैं, योगियोंके ध्यानमें जो एक क्षणभरके लिये भी नहीं आता, वह ग्वालिनोंके हाथ बँध जाता है, भावुक ग्वालिनें उसे पकड़ रखती हैं । इन भक्तिनोंके पास वह गिड़गिड़ाता हुआ आता है और सयाने कहते हैं कि वह तो मिलता ही नहीं ।

५९६—इन मोरी अहीरिनोंके पूर्वपुण्यका हिसाब कौन लगा सकता है, जिन्होंने मुरारिको खेलाया—अन्तःसुखसे खेलाया और बाह्यसुखसे भी उन्हें पाकर अपनेको अर्पण कर दिया । भगवान् ने उन्हें धन्य मान लिया । जिन्होंने एकनिष्ठभावसे उन्हें जाना । श्रीकृष्ण-

में जिनका तन-मन लग गया, जो घर-द्वार और पति-पुत्रतकको मूल गर्यो, जिनके लिये धन, मान और खजन विष-से हो गये, वे एकान्तवनमें भगवान्‌के साथ जा मिलीं ।

५९७—देहकी सारी भावना, सारी सुध-बुध बिसार दी, तब वही नारायणकी सम्पूर्ण पूजा-अर्चा है । ऐसे भक्तोंकी पूजा भगवान्‌ भक्तोंके जाने बिना ले लेते हैं और उनके माँगे बिना उन्हें अपना ठाँव दे देते हैं ।

५९८—इन ग्वालिनोका भी कैसा महान्‌ पुण्य था, वे गाय, भैंस और अन्य पशु भी कैसे भाग्यवान्‌ थे । ग्वालिनोको जो सुख मिला वह दूसरोंके लिये, ब्रह्मादिके लिये भी दुर्लभ है ।

५९९—गोपियाँ रासरंगमें समरस हुईं; उसी प्रकार हमारी चित्तवृत्तियाँ श्रीकृष्णप्रेममें सराबोर हो जायँ ।

६००—भक्तसमागमसे सब भाव हरिके हो जाते हैं, सब काम बिना बताये हरि ही करते हैं । हृदय-सम्पुटमें समाये रहते हैं और बाहर छोटी-सी मूर्ति बनकर सामने आते हैं ।

६०१—श्रीहरि सब भूतोंमें रम रहे हैं; जल, थल, काठ, पत्थर—सबमें विराज रहे हैं; पृथ्वी, जल, अग्नि, समीर, गगन—इन पञ्च महाभूतोंको और स्थावर-जङ्गम सब पदार्थोंको व्यापे हुए है । उनके सिवा ब्रह्माण्डमें दूसरी कोई वस्तु ही नहीं, यही शास्त्र-सिद्धान्त है और यही सत्तोका अनुभव है ।

६०२—मनुष्य किसी भी वर्ण या जातिमें पैदा हुआ हो वह यदि सदाचारी और भगवद्भक्त है तो वही सबके लिये वन्दनीय और श्रेष्ठ है । कसौटी जाति नहीं है, कसौटी है साधुता—भगवद्भक्ति ।

६०३—मैं अपना दोष और अपराध कहाँतक कहूँ ? मेरी दयामयी मैया ! मुझे अपने चरणोंमें ले ले । यह संसार अब बस हुआ । अब मेरा चिन्ता-जाळ काट डालो और हे हृदयधन ! मेरे हृदयमें आकर अपना आसन जमाओ ।

६०४—अपना चित्त शुद्ध हो तो शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, सिंह और साँप भी अपना हिंसा-भाव भूल जाते हैं, विष अमृत हो जाता है, आघात हित होता है, दुःख सर्वसुखस्वरूप फल देनेवाला बनता है, आगकी लपट ठंडी-ठंडी हवा हो जाती है । जिसका चित्त शुद्ध है, उसको सब जीव अपने जीवनके समान प्यार करते हैं । कारण, सबके अन्तरमें एक ही भाव है ।

६०५—आघात करनेवाला ढोहा भी पारसके स्पर्शमात्रसे सोना हो जाता है । दुष्टजन भी संतोंके स्पर्शमें आकर संत बन जाते हैं ।

६०६—जो कोई नारायणका प्रिय हो गया, उसका उत्तम या कनिष्ठ वर्ण क्या ? चारों वर्णोंका यह अधिकार है, उसे नमस्कार करनेमें कोई दोष नहीं ।

६०७—चित्तकी उलटी चालमें मैं फँस गया था, मृगजलने मुझे भी धोखा दिया था, पर भगवान्ने बड़ी कृपा की जो मेरी आँखें खोल दीं । तुमने मेरी गुहार सुनी, इससे मैं निर्भय हो गया हूँ ।

६०८—प्रभु अपने भक्तको दुखी नहीं करते, अपने दासकी चिन्ता अपने ही ऊपर उठा लेते हैं । सुखपूर्वक हरिका कीर्तन करो, हर्षके साथ हरिके गुण गाओ । कलिकाळसे मत डरो, कलिकालका निवारण तो सुदर्शनचक्र आप ही कर लेंगे । भगवान् अपने भक्तोंको कभी छोड़ते ही नहीं ।

६०९—हरिका नाम ही बीज है और हरिका नाम ही फल है। यही सारा पुण्य और सारा धर्म है। सब कलाओंका यही सार मर्म है। 'निर्लज्ज नामसङ्कीर्तनमें' सब रसोंका आनन्द एक साथ आता है।

६१०—सब तीर्थोंकी मुकुटमणि यह हरिकथा है—यह ऊर्ध्ववाहिनी परमामृतकी धारा भगवान्‌के सामने बहती रहती है। भगवान्‌पर इस सुधाधाराका अभिषेक होता रहता है।

६११—संतोंका मुख्य कार्य जीवोंको मोह-मायाकी निद्रासे जगा देना होता है, स्वयं जगे रहते हैं, दूसरोंको जगा देते हैं, जीवोंको अभयदान देते हैं और उनका दैन्य नष्ट कर उन्हें खानन्दसाम्राज्यपदपर आरूढ़ करते हैं।

६१२—संतोंके उपकार माता-पिताके उपकारसे भी अधिक है। सब छोटी-बड़ी नदियाँ जिस प्रकार अपने नाम-रूपोंके साथ जाकर ऐसी मिल जाती हैं जैसे उनका कोई अस्तित्व ही न हो, उसी प्रकार त्रिभुवनके सब सुख-दुःख संतोंके बोधमहार्णवमें विलीन हो जाते हैं।

६१३—खोल, खोल, आँखें खोल। बोल, अभीतक क्या आँख नहीं खुली? अरे, अपनी माताकी कोखमें क्या तू पत्थर पैदा हुआ? तैने जो यह नर-तनु पाया है यह बड़ी भारी निधि है; जिस विधिसे कर सके इसे सार्थक कर। संत तुझे जगाकर पार उतर जायेंगे, तू भी पार उतरना चाहे तो कुछ कर।

६१४—अनेक योनियोंमें भटकनेके बाद यह नर-नारायणकी जोड़ी मिली है। नर-तनु-जैसा ठाँव मिळा है, नारायणमे अपने चित्तका भाव लगा।

६१५—सुन रे सजन ! अपने स्वहितके लक्षण सुन । मनसे गोविन्दका सुमिरन कर, नारायणका गुणगान कर, फिर बन्धन कैसा ?

६१६—जो मन करेगा वही पाओगे । अभ्याससे क्या नहीं होता ?

६१७—श्रीहरिकी शरणमें जाओ, उन्हींके होकर रहो, उनके गुणगानमें मग्न हो जाओ, संसार जो हौआ बनकर सामने आया है, इसे भगा दो और इसी देहसे, इन्हीं आँखोंसे मुक्तिका आनन्द छटो ।

६१८—दिन-रातका पता नहीं । यहाँ तो अखण्ड ज्योति जगमगा रही है । इसका आनन्द जैसे हिलोरें मारता है; उसके सुखका वर्णन कहाँतक करूँगा ।

६१९—श्रीहरिके प्रसादसे सब दुःख नष्ट हो जाते हैं । यही भव-रोगकी ओषधि है । जन्म, जरा, सब व्याधि और मृत्यु इससे दूर हो जाती हैं । उस श्यामसुन्दरकी छबिको अपनी आँखों देख लो, कुटिल, खल, कामियोंका स्पर्श अपनेको न होने दो । मुखसे निरन्तर विष्णुसहस्रनामकी माला फेरते रहो ।

६२०—बहुत बोलना छोड़ दो और सावधान होकर कुसङ्गसे बचते रहो ।

६२१—अनुताप करते हुए भगवान्से यह कहो, मैं तो अनाथ हूँ, अपराधी हूँ, कर्महीन हूँ, मन्दमति और जडबुद्धि हूँ । हे कृपानिधे ! हे मेरे माता-पिता ! अपनी वाणीसे कभी मैंने तुम्हें याद नहीं किया । तुम्हारा गुणगान भी न सुना और न

गाया । अपना हित छोड़ लोक-लाजके पीछे मरा किया । हरि-कीर्तन, संतोंका सङ्ग कभी मुझे अच्छा नहीं लगा । परनिन्दामें बड़ी रुचि थी, दूसरोंकी खूब निन्दा की । परोपकार न मैंने किया, न दूसरोंसे कभी कराया । दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें कभी दया न आयी । ऐसा व्यवसाय किया जो न करना चाहिये और उससे पाया तो क्या अपने कुटुम्बका भार ढोता फिरा । तीर्थोंकी कभी यात्रा नहीं की, केवल इस पिण्डके पालन करनेमें ही हाथ-पैर मारता रहा । मुझसे न संत-सेवा बनी, न दान-पुण्य बना, न भगवान्की मूर्तिकी दर्शन और पूजन-अर्चन ही बना । कुसङ्गमें पड़कर अनेक अन्याय और अधर्म किये । मैंने अपना आप ही सत्यानाश किया, मैं अपना-आप ही वैरी बना । भगवन् ! तुम दयाके निधान हो, मुझे इस भवसागरके पार उतारो !

६२२—भवसागरको तैरकर पार करते हुए चिन्ता किस बातकी करते हो ? उस पार तो 'वइ' कटिपर कर धरे खड़े हैं । जो कुछ चाहते हो उसके वही तो दाता हैं । उनके चरणोंमें जाकर लिपट जाओ ! वइ जगत्खामी तुमसे कोई मोल नहीं लेंगे, केवल तुम्हारी-भक्तिसे ही तुम्हें अपने कंधेपर उठा ले जायेंगे । प्रभु जहाँ प्रसन्न हुए तहाँ मुक्ति और मुक्तिकी चिन्ता क्या ? वहाँ दैन्य और दारिद्र्य कहाँ ?

६२३—ससारमें बने रहो, पर हरिको न भूलो । हरिनाम जपते हुए न्याय-नीतिसे सब काम करते चलो । इससे संसार भी सुखद होता है ।

६२४—सुख यव-बराबर है तो दुःख पहाड़-बराबर । संसारके विषयमें सबका यही अनुभव है । माँ-बाप, स्त्री-पुत्र, सङ्गी-साथी, धन-दौलत, राजा-महाराजा कोई भी हमें क्या मृत्युसे बचा सकता है ? यह शरीर तो काळका कलेवा है ।

६२५—कौड़ी-कौड़ी जोड़कर करोड़ रुपये इकट्ठे करो, पर साथ तो एक लँगोटी भी न जायगी ।

६२६—सङ्गी-साथी एक-एक करके चले । अब तुम्हारी भी बारी आवेगी । क्या गाफिल होकर बैठे हो ? काल सिरपर सवार है, अब भी सावधान हो जाओ, इससे निस्तार पानेका कुछ उपाय करो ।

६२७—तुम्हारी देह तो नहीं रहेगी, इसे काल खा जायगा । अब भी जागो, नहीं तो धोखा खाओगे, नशेके बीच मारे जाओगे ।

६२८—पर-उपकार करो, पर-निन्दा मत करो, परस्त्रियोंको माँ-बहन समझो । प्राणिमात्रमें दया-भाव रखो ।

६२९—घर-गृहस्थीके प्रपञ्चमें लगे रहते हुए भी एक बात न भूलना—यह क्षणकालीन द्रव्य, दारा और परिवार तुम्हारा नहीं है । अन्तकाळमें जो तुम्हारा होगा वह तो एक श्रीहरि ही है, उमीको जाकर पकड़ो ।

६३०—भगवान्‌को चाहते हो तो चित्तको मलिन क्यों रखते हो ? अभिमान, अकड़, आलस्य, लोकलज्जा, चञ्चलता, असद्व्यवहार, मनोमालिन्य इत्यादि कूडा-करकट किसलिये जमा किये हुए हो ? केवल बाइरी भेष बना लेनेसे थोड़े ही कोई भक्त होता है ।

६३१—आग लगे उस बनावटी स्वाँगमें जिसके भीतर

कालिमा भरी हुई है । वखोंको छपेटकर पेट बड़ा कर लेनेसे, गर्भवती होनेकी बात उड़ानेसे, दोहदका खाँग भरनेसे बच्चा थोड़े ही पैदा होता है, केवल हँसी होती है ।

६३२—इन्द्रियोंका नियमन नहीं, मुखमें नाम नहीं, ऐसा जीवन तो भोजनके साथ मक्खी निगल जाना है । ऐसा भोजन क्या कभी सुख दे सकता है ?

६३३—संसारकी सारी आशाओ और अभिलाषाओंका त्याग किये बिना भगवान् नहीं मिलते ।

६३४—जो जी-जानसे भगवान्को चाहते हैं, वे अपने प्रेमको सावधानीसे बचाये रहे, प्रतिष्ठाको शूकरीविष्टा समझ लें, वृथा वादमें न उलझें, अहङ्कारी तार्किकोंके सङ्गसे दूर रहें और कोई ढोंग-पाखण्ड न रचें ।

६३५—खाँग बनानेसे भगवान् नहीं मिलते । निर्मल चित्तकी प्रेमभरी चाह नहीं तो जो कुछ भी करो, अन्त केवल 'आह' है !

६३६—सबके अलग-अलग राग हैं । उनके पीछे अपने मन-को मत बाँटते फिरो । अपने विश्वासको जतनसे रखो, दूसरेके रंगमें न आओ ।

६३७—मिलो उन्हींमें जो सर्वतोभावसे समरसमें मिले हों, वे ही तुम्हारे कुल-परिवार हैं । वाद-विवादमें पडोगे तो फदेमें फँसोगे ।

६३८—भक्तोंके मेलेका जो आनन्द है, उसका कुछ भी आस्वाद अविश्वासीको नहीं मिलता । वह सिद्धान्तमें कंकड़ीकी तरह अलग ही रहता है ।

६३९—भगवान्की पूजा करो तो उत्तम मनसे करो । उसमें बाहरी दिखावेका क्या काम ? जिसको जनाना चाहते हो वह अन्तरकी बात जानता है । कारण सच्चोंमें वही सच है ।

६४०—भक्तिकी जाति ऐसी है कि सर्वस्वसे हाथ धोना पड़ता है ।

६४१—नेत्रोंमें अश्रु-विन्दु नहीं, हृदयमें छटपटाहट नहीं तो भक्ति काहेकी ? वह तो भक्तिकी विडम्बना है, व्यर्थका जन-मन-रञ्जन है । जबतक दृष्टिसे दृष्टि नहीं मिली तबतक मिलन नहीं होता ।

६४२—अहंता नष्ट हो, भगवान्के स्तुति-पाठमें सच्ची भक्ति हो, हृदयकी सच्ची लगन हो, हरिचरणोंमें पूरी निष्ठा हो तब काम बने ।

६४३—सेवकके तनमें जबतक प्राण हैं तबतक स्वामीकी आज्ञा ही उसके लिये प्रमाण है ।

६४४—भगवान्के होकर रहो । ज्ञानलव-दुर्विदग्ध तार्किकोंकी अपेक्षा अपढ़, अनजान, भोले-भाले लोग ही अच्छे होते हैं । मूर्ख बल्कि अच्छे हैं, ये विद्वान् तार्किक तो किसी कामके नहीं ।

६४५—भगवान्के लिये सर्वस्वसे हाथ धोनेको तैयार हो जाना पूर्वपुण्यके बिना नसीब नहीं होता ।

६४६—इस ससारमें आये हो तो अब उठो, जल्दी करो और उन उदार प्रभुकी शरणमें जाओ । यह देह तो देवताओकी है, धन सारा कुवेरका है, इसमें मनुष्यका क्या है ? देने-दिखानेवाला, ले जाने-लिवा ले जानेवाला तो कोई और ही है । इसका यहाँ क्या धरा है, रे मूर्ख ! क्यों नाशवान्के पीछे भगवान्की ओर पीठ फेरता है ?

६४७—भगवान् ने जो इन्द्रियों दी है उन्हें भगवान् के काममें क्यों नहीं लगा देते ? मुखसे हरिका कीर्तन करो, कानोंसे उनकी कीर्ति सुनो, नेत्रोंसे उन्हींका रूप देखो । इसीके लिये तो ये इन्द्रियाँ हैं ।

६४८—संसारका बोझ सिरपर लादे हुए दौड़नेमें बड़े खुश हैं । अरे निर्लज्ज ! अपने संसारीपनपर—ब्रैलकी तरह इस बोझके ढोनेपर इतना क्यों इतराता है ?

६४९—परद्रव्य और परनारीका अभिषेक जहाँ हुआ वहींसे भाग्यका हास आरम्भ हुआ ।

६५०—परस्त्री और परधन बड़े खोटे हैं । बड़े-बड़े इनके चक्करमें मटियामेट हो गये । इन दोनोंको छोड़ दे, तभी अन्तमें सुख पायेगा ।

६५१—राम और कृष्ण नाम सीधे-सीधे दो और उस श्याम-रूपको मनसे स्मरण करो ।

६५२—पेटमें अन्न न हो तो शृङ्गारकी क्या शोभा ? उसी प्रकार श्रीहरिके प्रेम बिना कोई ज्ञान किसी कामका नहीं ।

६५३—श्रीहरि-गोविन्द-नामकी धुन जब लग जायगी तब यह काया भी गोविन्द बन जायगी, भगवान् से कोई दुराव, कोई भेदभाव नहीं रह जायगा । मन आनन्दसे उछलने लगेगा, नेत्रोंसे प्रेम बहने लगेगा । कीट भृङ्ग बनकर जैसे कीटरूपमें फिर अलग नहीं रहता वैसे तुम भी भगवान् से अलग नहीं रहोगे ।

६५४—सकुचकर ऐसे छोटे क्यों बन गये हो । ब्रह्माण्डका आचमन कर लो । पारण करके संसारसे हाथ धो लो । बहुत देर हुई, अब देर मत करो ।

६५५—शास्त्र जिस चीजको छोड़ देनेको कहे, उसे, चाहे वह राज्य ही क्यों न हो, तृणवत् त्याग दे । शास्त्र जिसे ग्रहण करनेको कहे, चाहे वह विष ही क्यों न हो, उसे जरूर ग्रहण करे ।

६५६—मार्गमें अघेके आगे जैसे आँखवाला चलकर उसे रास्ता बताता है, उसी तरह संत महापुरुष भी धर्मका आचरण करके जो अज्ञानी हैं उन्हें धर्मका तत्त्व बतलाते हैं ।

६५७—सत पहाड़की चोटीपर खड़े होकर पुकार रहे हैं—भगवान् की शरण लो, प्राणिमात्रमें उसीका भजन करो । गो, खर, गज, श्वान सबको समानरूपसे वन्दन करो ।

६५८—जन्मके प्रसङ्गसे ली-देहका जो स्पर्श हुआ सो हुआ, पर उसके बाद सम्पूर्ण जीवनमें कभी वह स्पर्श न हो—ऐसा जिसका कठिन ब्रह्मचर्य है वही सच्चा ब्रह्मचारी है ।

६५९—फिर चलो, फिर चलो रे जीव ! नहीं तो गोते खाओगे । मायानदीकी इस वाढ़में बह जाओगे । भवनदीका पानी, प्यारे ! बड़े वेगसे खींचता है और बड़े-बड़े तैराकोंको उठाकर नीचे गिराता है । ससार क्षणभङ्गुर है, इसका कोई भरोसा नहीं । यह दुर्लभ नरतन छूट जायगा तब पीछे पछताओगे ।

६६०—जो गये हुएका स्मरण नहीं करता, मिले हुएकी इच्छा नहीं रखता, अन्तःकरणमें मेरुके समान अचल रहता है, जिसका अन्तःकरण मैं-मेरा भूला रहता है वही निरन्तर संन्यासी है ।

६६१—निरन्तर सदभ्यास करो, चित्तको परमपुरुषके मार्गमें लगा दो, फिर शरीर रहे चाहे जाय ।

६६२—अपनी पूज्यता अपनी आँखो न देखे, अपनी कर्ति अपने कानो न सुने, ऐसा न करे जिससे लोग यह पहचान ले कि यह अमुक है । बृहस्पतिके समान सर्वज्ञता प्राप्त हो तो भी महिमाके भयसे अज्ञानियोंकी भौंति रहे । अपना चातुर्य छिपावे, अपना महत्त्व बिसार दे और अपना बावलापन लोगोंको दिखावे ।

६६३—दुलत्ती झाड़नेवाली गौ जैसे अपना दूध चुराती है, बेश्या जैसे अपनी बस चुराती है, कुलबधू जैसे अपने अङ्ग छिपाती है वैसे ही अपना सत्कर्म छिपाओ ।

६६४—कमलपर भौरे जो पैर रखते हैं, बड़े हल्के रहते हैं, इस भयसे कि कहीं केसर कुचल न जाय । उसी प्रकार सर्वत्र परमाणुवत् जीव भरे हुए हैं, यह जानकर संत-महात्मा दयावृत्तिसे धरतीपर बहुत ही हल्के पैर रखता है । वह समस्त प्राणियोंके नीचे अपना जी बिछाता है ।

६६५—ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे संत स्वभावतः सह न ले; और वह सह लेता है इसका उसे कोई स्मरण भी नहीं रहता ।

६६६—साधुके लिये अपना-पराया कुछ भी नहीं, सारे विश्व-से ही उसकी जान-पहचान है, बड़ा पुराना नाता है । हवाका चलना जैसे सीधा होता है वैसे ही उसका भाव सरल होता है, उसमें शङ्का या आकाङ्क्षा नहीं होती ।

६६७—मौके पास जाते बच्चेको जैसे कोई सोच-सङ्कोच नहीं होता, वैसे ही संतके लिये लोगोंको अपना मन देते कोई शङ्का नहीं होती । उसके लिये कोई कोना-अंतरा नहीं हुआ करता । उसकी दृष्टिमें कपट नहीं होता, बोलनेमें सदेह नहीं होता । दसों इन्द्रियों

उसकी सरल, निष्प्रपञ्च और निर्मल होती हैं और उसके पञ्चप्राणोंके स्तर आठों प्रहर मुक्त रहते हैं ।

६६८—भागते हुए मेघोंके साथ आकाश नहीं दौड़ता, वैसे ही संत पुरुषका मन चळते हुए शरीरके साथ नहीं चला करता, ध्रुव-जैसा स्थिर रहता है ।

६६९—समुद्रमें गङ्गाजल जैसे मिलकर भी मिलता रहता है, वैसे ही संत पुरुष भगवत्स्वरूप होकर भी भगवान्‌को सर्वस्व देकर भजता रहता है ।

६७०—जो तीर्थोंमें, पवित्र जलशयोंके किनारे, सुन्दर तपोवनोंमें और गुहाओंमें रहना पसंद करता है, एकान्तसे जिसकी अत्यन्त प्रीति होती और जनपदसे जिसका जी ऊबा हुआ होता है, उसे ज्ञानकी मनुष्याकार मूर्ति ही जानो ।

६७१—पञ्चतत्त्वोंकी देह बनी और फिर कर्मोंके गुणोंसे बँधकर जन्म-मृत्युका चक्र काट रही है । कालानलके कुण्डमें यह मक्खनकी आहुति है । मक्खीका पङ्ख हिलते-न-हिलते इसका काम तमाम हो जाता है । इस देहकी तो यह दशा है ।

६७२—भगवान् प्रेम, सुख और शान्तिके निकेतन है । प्रेम, सुख और शान्ति उनका स्वरूप ही है ।

६७३—शक्ति, बुद्धि, स्वतन्त्रता रहते दूसरोंकी देखा-देखी कल्याणकारी धर्ममार्गकी उपेक्षा करके सर्वथा अहितकर अधर्मके मार्गपर चलना अपनी ही आन्तरिक दुर्बलताका द्योतक है ।

६७४—कायेन, वाचा, मनसा अपने पास जो द्रव्य हो उसके द्वारा वैरी भी आर्त होकर आवे तो उसे विमुख न जाने देना; वृक्ष

जैसे फल, फल, छाया, मूल, पत्र सब कुछ जो कोई पथिक आ जाय उसके सामने हाजिर करनेमें नहीं चूकता, वैसे ही प्रसङ्गानुसार श्रान्त पथिक कोई आ जाय तो अपने धन-धान्यादिके द्वारा उसके काम आना । इसका नाम है दान ।

६७५—दान सर्वस्व देना ही है, अपने लिये खर्च करना व्यर्थ गँवाना है । ओषधि दूसरोंको फल देती है और स्वयं सूख जाती है । उसी प्रकार हे वीर ! स्वरूपकी प्राप्तिके लिये प्राण, इन्द्रिय और शरीरको घिसना ही तप है ।

६७६—अपने गुणोंसे दूसरोंके दोष दूर करके उनकी ओर देखना चाहिये ।

६७७—सात्त्विक ज्ञान वही है जिसमें उस ज्ञानके साथ ज्ञाता और ज्ञेय हृदयमें एक हो जाते हैं । सूर्य जैसे अन्धकारको नहीं देखता, नदियाँ समुद्रको नहीं देखतीं, अपनी छाया अपनेसे अलग करके पकड़ी नहीं जानी, वैसे ही जिस ज्ञानको शिवादिसे लेकर तृणपर्यन्त अपनेसे भिन्न नहीं दिखायी देते वह सात्त्विक ज्ञान है, वही मोक्ष-लक्ष्मीका भुवन है ।

६७८—अरे ! अठनेसे राजाके साथ सोनेवाली दासी भी राजाकी बराबरी करती है । फिर मैं तो साक्षात् विश्वेश्वर हूँ । मेरे मिलनेपर भी जीव-ग्रन्थि न छूटे ऐसा कैसे हो सकता है ? ऐसा निपट झूठ कानमें भी न पड़ने दो ।

६७९—दोनों दर्पण उठकर एक दूसरेके पास आने-सामने आ गये । अब बताइये कौन किसको देख रहा है ?

६८०—झींसे डरना बचपनमें होता है । पर जो बच्चे नहीं उनके लिये होआ क्या ? वैसे ही मृत्युको भी कौन माने ।

६८१—फल देकर फूल सूख जाता है, फल रस पकनष्ट होता है । रस भी तृप्ति देकर समाप्त होता है । आहुति अग्निमें डालकर हाथ हट जाता है । गीत आनन्द पाकर मौन जाता है । वैसे ही सत्-चित्-आनन्द-पद द्रष्टाको दिखाकर हो जाते हैं ।

६८२—भगवान्‌के द्वारपर पलभर तो खडे रहो ।

६८३—चारों वेद, छहो शास्त्र, अठारहों पुराण हरिके गीत गाते हैं ।

६८४—दिन-रात प्रपञ्चके लिये इतना कष्ट करते भगवान्‌को क्यों नहीं भजते ?

६८५—जप, तप, कर्म, धर्म हरिके बिना सब श्रम व्यर्थ हैं ।

६८६—हरि, हरि, हरि ! जिसकी वाणी यह मन्त्र जपत उसे मोक्ष मिलता है ।

६८७—शास्त्रका प्रमाण है, श्रुतिका वचन है कि 'नारायण ही सब जपोंका सार है ।

६८८—भाव मत छोड । सदेह छोड़ दे, गला फाड़कर र कृष्णको पुकार ।

६८९—एक नामका ही तत्त्व मनसे दृढ धर ले । हरि तुझ करुणा करेंगे ।

६९०—'राम-कृष्ण-गोविन्द' नाम सरल है । गद्गद है वाणीसे इसका पहले जप कर ।

७१२—जो आँखें ईश्वरकी ताबेदारीमें रहना भला नहीं मानतीं, उनका तो फूट जाना ही अच्छा है । जो जीभ ईश्वरकी चर्चा नहीं करती, वह गुँगी ही रहे तो अच्छा । जो कान सत्य नहीं सुनते, वे बहरे ही रह जायँ तो अच्छा और जो तन ईश्वरकी सेवामें नहीं लगता, उसका न रहना ही अच्छा है ।

७१३—जन्मके पहले तू ईश्वरका जिनना प्यारा था, उनना ही मृत्युपर्यन्त बना रहे ऐसा आचरण कर ।

७१४—धन-दौलत कमानेके पीछे क्यों पड़े हुए हो ? तुम्हारी जबरियातोंको पूरा करने और तुम्हारे देखभाळ रखनेका सारा भार तो उस ईश्वरने ही ले रक्खा है । यदि उसका भरोसा करोगे तो सब तरहसे शान्ति और सुख पाओगे ।

७१५—जो इस नाशवान् संसारमें आसक्त नहीं है, वही अनुभव-सिद्ध ज्ञानी ऋषि है । तल्लीन होकर ईश्वरका गुण गाना, मत्त होकर सगीत सुनना और प्रभुकी अधीनता मानकर काम करना ही सतका धर्म है ।

७१६—प्रायश्चित्तकी तीन सीढ़ियाँ हैं—आत्मग्लानि, दूसरी बार पाप न करनेका निश्चय और आत्मशुद्धि ।

७१७—प्रभुके मार्गमें प्राणतक देनेकी तैयारी न हो तो उसके प्रति प्रेम है, ऐसा मानना ही नहीं चाहिये ।

७१८—ईश्वरमें निमग्न होनेमें ही अपने मनका नाश है ।

७१९—अन्तःकरणमें उपजा हुआ ईश्वर-दर्शनका एक कण-जितना उत्साह भी स्वर्गके लाखों मन्दिरोंमें जानेकी मिठाससे भी अधिक मीठा है ।

७२०—सच्चा संत जब बाहरसे चुपचाप होता है तब वह भीतर-ही-भीतर ईश्वरसे वान करता रहता है और जब उसके नेत्र मुँदे होते हैं तब वह ईश्वरकी महिमा अथवा उसके स्वरूपको देखता रहता है ।

७२१—भले ही तुम पैदल चलते रहो, परंतु मनपर तो सवारी गोंठे ही रहना ।

७२२—ईश्वरको जानकर भी उससे प्रेम न करना असम्भव है । जो परिचय प्रेमशून्य है, वह परिचय ही नहीं ।

७२३—ईश्वर जिसपर खुश होता है, उसे नदीकी-सी दानशीलता, सूर्यकी-सी उदारता और पृथ्वीकी-सी सहनशीलता प्रदान करता है ।

७२४—ये सब वाद-विवाद, शब्दाडम्बर और अहता ममता तो परदेके बाहरकी बातें हैं । परदेके भीतर तो नीरवता, स्थिरता, शान्ति और आनन्द व्याप्त है ।

७२५—साधनाके लिये जो कुछ करना पड़े सब करना, परंतु उसमें भी प्रभुकृपाका प्रताप ही समझना, अपना पुरुषार्थ नहीं ।

७२६—जो ईश्वरके नजदीक आ गया, उसे किस बातकी कमी ? सभी पदार्थ और सारी सम्पत्ति उसकी ही है, क्योंकि उसका परमप्रिय सखा सर्वव्यापी और सारी सम्पत्तिका स्वामी है ।

७२७—जो अपना परिचय ईश्वर-ज्ञानी कहकर देता है, वह मिथ्याभिमानि है । जो यह कहता है कि मैं उसे नहीं जानना, वही बुद्धिमान् है ।

७२८—सारी दुनिया तुझे अपना ऐश्वर्य और स्वामित्व भी सौंप दे तो तू कुछ न जाना और सारी दुनियाकी गरीबी भी तेरे हिस्सेमें

६९१—नामसे बढकर कोई तत्त्व नहीं है । व्यर्थ और रास्तोंमें मत भटक ।

६९२—हरिके बिना यह सारा संसार झूठा व्यवहार है; व्यर्थका आना-जाना है ।

६९३—नाम-मन्त्र-जपसे कोटि पाप नष्ट होगा । कृष्णनामका सकल्प पकड़े रह ।

६९४—निरन्तर हरिका ध्यान करनेसे सब कर्मोंके बन्धन कट जाते हैं । राम-कृष्ण-नाम-उच्चारणसे सब दोष दिगन्तमें भाग जाते हैं ।

६९५—हे गोपाल ! हे हरि ! हे जगत्त्रयजीवन ! यह मन तेरे ही ध्यानमें लग जाय, एक क्षण भी खाली न जाय ।

६९६—तन-मन तेरे ही चरणोंमें शरणाळङ्कृत किये है । रुक्मिणीदेवीवर मेरे बाप हैं । मैं और कुछ नहीं जानता ।

६९७—हरि आदिमें है, हरि अन्तमें है, हरि सब भूतोमें व्यापक है । हरिको जानो, हरिको बखानो, वही मेरे माँ-बाप हैं ।

६९८—हृदयमें भगवान्‌के निराकार रूपका ध्यान, नेत्रोंसे भगवत्-लीलाका दर्शन और जीभसे राम-नामका जप । इतना हो सके तो फिर और करना ही क्या रहा ?

६९९—श्रीरामके नामका स्मरण करो । यह सञ्जीवनी ओषधि है ।

७००—जिसकी कहीं गति नहीं, उसके लिये एकमात्र अवलम्बन राम-नाम है ।

७०१—अलख-अलख क्या बकता फिरता है, एक सीधा मुक्तिका मार्ग श्रीराम-नाम जप ।

७०२—अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई आज अभी सुधर जाय यदि तू बुरी संगति छोड़कर श्रीरामका होकर श्रीराम-नामका जप करने लगे ।

७०३—राम-नाम-स्मरण करनेसे सब सिद्धियाँ हाथ आ जाती हैं और प्रत्येक पाप परम आनन्द प्राप्त होता है ।

७०४—रामका मुझे सहारा हो, रामका बल हो, राम-नाममें विश्वास हो और आनन्दमङ्गलके साथ मैं श्रीराम-नामका स्मरण करूँ । लोक और परलोकका बनानेवाला श्रीराम-नाम ही है ।

७०५—श्रीरामका स्मरण करते ही जो हृदय प्रेमसे पिघल नहीं उठता, वह फट जाय; जिन नेत्रोंमें आँसू नहीं आते, वे फूट जायँ और जो शरीर पुलकित नहीं होता, वह जल जाय ।

७०६—हरिका सुयश सुनकर जिन नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छलक न आवें उनमें तो मुट्ठीभर धूल डाल देनी चाहिये ।

७०७—हे मन ! सबसे फीका हो, केवल श्रीहरिसे ही सरस रह ।

७०८—अब तुझे पाकर औरोंके सामने हाथ-क्या पसारूँ ? प्रभुका होकर जगत्से अब क्या याचना ?

७०९—जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष और श्रीहरि-चरणोंमें प्रीति । बस, इसके आगे सुख है क्या वस्तु !

७१०—अपने निर्वाहके लिये जो चिन्ता अथवा प्रपञ्च नहीं करता, वही सच्चा विश्वासी है ।

७११—जिसका मन पवित्र नहीं उसका कोई काम पवित्र नहीं होता ।

७१२—जो आँखें ईश्वरकी तावेदारीमें रहना भला नहीं मानतीं, उनका तो फूट जाना ही अच्छा है । जो जीभ ईश्वरकी चर्चा नहीं करती, वह गूँगी ही रहे तो अच्छा । जो कान सत्य नहीं सुनते, वे बहरे ही रह जायँ तो अच्छा और जो तन ईश्वरकी सेवामें नहीं लगता, उसका न रहना ही अच्छा है ।

७१३—जन्मके पहले तू ईश्वरका जितना प्यारा था, उतना ही मृत्युपर्यन्त बना रहे ऐसा आचरण कर ।

७१४—धन-दौलत कमानेके पीछे क्यों पड़े हुए हो ? तुम्हारी जरूरियातोंको पूरा करने और तुम्हारे देखभाल रखनेका सारा भार तो उस ईश्वरने ही ले रक्खा है । यदि उसका भरोसा करोगे तो सब तरहसे शान्ति और सुख पाओगे ।

७१५—जो इस नाशवान् ससारमें आसक्त नहीं है, वही अनुभव-सिद्ध ज्ञानी ऋषि है । तल्लीन होकर ईश्वरका गुण गाना, मत्त होकर सगीत सुनना और प्रभुकी अवीनता मानकर काम करना ही संतका धर्म है ।

७१६—प्रायश्चित्तकी तीन सीढ़ियाँ हैं—आत्मग्लानि, दूसरी बार पाप न करनेका निश्चय और आत्मशुद्धि ।

७१७—प्रभुके मार्गमें प्राणतक देनेकी तैयारी न हो तो उसके प्रति प्रेम है, ऐसा मानना ही नहीं चाहिये ।

७१८—ईश्वरमें निमग्न होनेमें ही अपने मनका नाश है ।

७१९—अन्तःकरणमें उपजा हुआ ईश्वर-दर्शनका एक कण-जितना उत्साह भी स्वर्गके लाखों मन्दिरोंमें जानेकी मिठाससे भी अधिक मीठा है ।

७२०—सच्चा संत जब बाहरसे चुपचाप होता है तब वह भीतर-ही-भीतर ईश्वरसे वान करता रहता है और जब उसके नेत्र मुँदे होते हैं तब वह ईश्वरकी महिमा अथवा उसके स्वरूपको देखता रहता है ।

७२१—भले ही तुम पैदल चलते रहो, परंतु मनपर तो सवारी गाँठे ही रहना ।

७२२—ईश्वरको जानकर भी उससे प्रेम न करना असम्भव है । जो परिचय प्रेमशून्य है, वह परिचय ही नहीं ।

७२३—ईश्वर जिसपर खुश होता है, उसे नदीकी-सी दानशीलता, सूर्यकी-सी उदारता और पृथ्वीकी-सी सहनशीलता प्रदान करता है ।

७२४—ये सब वाद-विवाद, शब्दाडम्बर और अहता ममता तो परदेके बाहरकी बातें हैं । परदेके भीतर तो नीरवता, स्थिरता, शान्ति और आनन्द व्याप्त है ।

७२५—साधनाके लिये जो कुछ करना पड़े सब करना, परंतु उसमें भी प्रभुकृपाका प्रताप ही समझना, अपना पुरुषार्थ नहीं ।

७२६—जो ईश्वरके नजदीक आ गया, उसे किस बातकी कमी ? सभी पदार्थ और सारी सम्पत्ति उसकी ही है; क्योंकि उसका परमप्रिय सखा सर्वव्यापी और सारी सम्पत्तिका स्वामी है ।

७२७—जो अपना परिचय ईश्वर-ज्ञानी कहकर देता है, वह मिथ्याभिमानी है । जो यह कहता है कि मैं उसे नहीं जानना, वही बुद्धिमान् है ।

७२८—सारी दुनिया तुझे अपना ऐश्वर्य और स्वामित्व भी सौंप दे तो तू फूल न जाना और सारी दुनियाकी गरीबी भी तेरे हिस्सेमें

आ जाय तो उससे नाराज न होना । चाहे जैसी हालत हो, एक उस प्रभुका काम बजानेका ध्यान रखना ।

७२९—जो मनुष्य लौकिक लालसाके वशमें होकर ऋषि-मुनियोंके हृदयस्थ हरिकी आवाजकी अवगणना करता है, उसे तो ग्लानिका कफन ओढ़कर अपमानकी श्मशान-भूमिमें ही जलना पड़ता है, और जो इन्द्रियों और भोगेच्छाको दुर्बल बनाकर लौकिक पदार्थोंसे दूर रहता है, वह सत्य, सुख, शान्तिकी चादर ओढ़कर सम्मानकी भूमिमें स्वयं श्रीहरिकी गोदमें सो जाता है ।

७३०—ईश्वरको जाननेवालेका हृदय निर्मल काँचकी हॉडीमें जलते हुए दीपकके समान है । उसका प्रकाश सर्वत्र फैलता है । खुद उसे तो फिर डर ही कैसा ?

७३१—इन असंख्य तारों और नभोमण्डलके सिरजनहारकी नजर तू जहाँ कहीं भी होगा वहीं रहेगी—ऐसा विचारकर सदा-सर्वदा सावधान और पवित्र रहना ।

७३२—किन-किन बातोंसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है ? गूँगे, बहरे और अन्धेपनसे । प्रभुके सिवा न कुछ बोलो, न सुनो और न देखो ।

७३३—मनुष्यका सच्चा कर्तव्य क्या है ? ईश्वरके सिवा किसी दूसरी चीजसे प्रीति न जोड़ना ।

७३४—ईश्वरके भजन-पूजनमें जो दुनियाकी सारी चीजोंको भूल जाता है, उसे सभी चीजोंमें ईश्वर-ही-ईश्वर दिखलायी देने लगता है ।

७३५—सभी हालतोंमें प्रभु और प्रभुभक्तोंका दास होकर रहना ही अनन्य और एकनिष्ठ भक्ति करना है ।

७३६—अपने प्यारेके श्रवण, मनन, कीर्तन आदिमें जो बाधाएँ हैं, उन्हें दूर करना सच्चे प्रभु-प्रेमका चिह्न है।

७३७—भीतरसे प्रभुकी गाढ भक्ति करना, किंतु बाहरसे उसे प्रकट न होने देना साधुताका मुख्य चिह्न है।

७३८—ईश्वरकी उपासनामें मनुष्य ज्यों-ज्यों डूबता जाता है, त्यों-त्यों प्रभुदर्शनके लिये उसकी आतुरता बढ़ती जाती है। यदि एक पलके लिये भी उस प्रभुका साक्षात्कार हो जाता है तो वह उस स्थितिकी अधिकाधिक इच्छामें लीन हो जाता है।

७३९—जो साधक हजारों भुवनोंकी दौलतके भी लुभाये न लुभा, वही ईश्वरके द्वारेमें बात करने लायक है।

७४०—जो मनकी मलिनतासे रहित, दुनियाके जंजालसे मुक्त और लौकिक तृष्णासे विमुक्त है, वही सच्चा संत है।

७४१—जिस किसीने साधु पुरुषोंका सहवास किया है, वही ईश्वरको पा सका है।

७४२—जब मेरी जीभ अद्वितीय ईश्वरकी महिमा और गुण गाने लगी, तब मैंने देखा भूलोक और स्वर्गलोक मेरी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। हाँ, लोग इसे देख नहीं पाये।

७४३—ईश्वरको पानेके लिये जिसका हृदय तरस रहा है, उसीका जन्म धन्य है, उसीकी माता धन्य है। कारण, उसका सर्वस्व तो उस ईश्वरमें समाया हुआ है।

७४४—जो मनुष्य ईश्वरमें लीन रहता है और सुनने तथा देखने लायक उसीको समझता है, उसने सब कुछ सुन लिया है, देख लिया है और जान लिया है।

७४५—अगर तुम दुनियाकी खोजमें जाओगे तो दुनिया तुमपर चढ़ बैठेगी, उससे विमुख होओगे तब ही उसे पार कर सकोगे ।

७४६—फकीर वह हैं जिसे आज और कल—किसी दिनकी परवा नहीं, जो अपने और प्रभुके सम्बन्धके आगे लोक और परलोक दोनोंको तुच्छ समझता है ।

७४७—बिना ईश्वरका नाम लिये कोई भी वात विचारने अथवा करनेसे बड़ी विपत्तिका सामना करना पड़ता है ।

७४८—जो प्रभुको पाता है, वह अपने रूपमें न रहकर प्रभुके रूपमें समा जाता है ।

७४९—मुँह बंद रखो । ईश्वरके सिवा दूसरी बात ही मत करो । मनमें भी ईश्वरके सिवा और किसी बातका चिन्तन न करो । इन्द्रियों और अपने कार्योंके द्वारा वैसे ही काम करो जिनसे ईश्वर खुश हो ।

७५०—एकान्तमें प्रभुके साथ बैठनेवालेका लक्षण है ससारकी सब वस्तुओं और दूसरे सब मनुष्योंकी अपेक्षा प्रभुहीको अधिक प्यार करना ।

७५१—जो छोटे-छोटे प्राणियोंसे प्यार नहीं कर सकता, वह ईश्वरसे क्या प्यार करेगा ?

७५२—सत्तों और भक्तोंकी सेवा करना, उनके उपदेशोंका श्रवण करना, उनके सग रहना और उनके आचरणोंका अनुकरण करना यही सच्चा सुख प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है ।

७५३—भगवान् नारायण ही सर्वोपरि है और उनके चरणोंमें

अपनेको सर्वतोभावेन समर्पित कर देना ही कल्याणका एकमात्र उपाय है ।

७५४—यदि माता खीझकर बच्चेको अपनी गोदसे उतार भी देती है तो भी बच्चा उसीमें अपनी लौ लगाये रहता है और उसीको याद करके रोता-चिल्लाता और छटपटाता है । उसी प्रकार हे नाथ ! तुम चाहे मेरी कितनी उपेक्षा करो और मेरे दुःखोंकी ओर ध्यान न भी दो तो भी मैं तुम्हारे चरणोंको छोड़कर और कहीं नहीं जा सकता । तुम्हारे चरणोंके सिवा मेरे लिये कोई गति ही नहीं ।

७५५—यदि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीका सबके सामने तिरस्कार भी करे तो भी वह उसका परित्याग नहीं कर सकती । इसी प्रकार चाहे तुम मुझे कितना ही दुतकारो, मैं तुम्हारे अभय-चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं जानेकी बात भी नहीं सोच सकता । तुम चाहे मेरी ओर आँखें उठाकर भी न देखो, मुझे तो केवल तुम्हारा और तुम्हारी कृपाका ही अवलम्बन है ।

७५६—तुम्हारे चरणोंको छोड़कर मैं जाऊँ भी कहाँ ? मेरे लिये और आश्रय ही क्या है ? तुम चाहे मेरे कष्टोंका निवारण न करो, मेरा हृदय तो तुम्हारी ही दयासे द्रवीभूत होगा ।

७५७—बादल चाहे किसानको भूल जाय, परंतु किसान तो सदा निर्निमेष दृष्टिसे बादलकी ओर ही ताकता रहता है । इस प्रकार हे नाथ ! मेरी अभिलाषाके एकमात्र विषय तुम ही हो । जो तुम्हे चाहता है, उसे त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे कोई मतलब नहीं ।

७५८—जिसका चित्त अखिल सौन्दर्यके भण्डार भगवान् नारायणके चरणकमलोंका चंचरीक बन चुका है, वह क्या एक

नारीके रूपपर आसक्त हो सकता है ! जबतक जगत्के किसी भी पदार्थमें आसक्ति है तबतक प्रभुचरणोंमें प्रीति कहाँ ?

७५९—हे प्रभो ! अब ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी वाणी केवल तुम्हारा ही गुणगान करे, मेरे हाथ तुम्हारे ही पैर पछोटे, मेरा मस्तक तुम्हारे ही चरणोंमें झुके, मेरे नेत्र सर्वत्र तुम्हारे ही दर्शन करें, मेरे कान तुम्हारे ही गुणोंका श्रवण करें, मेरे चित्तके द्वारा तुम्हारा ही चिन्तन हो और मेरे हृदयको तुम्हारा ही स्पर्श प्राप्त हो ।

७६०—किसी जंगली हरिनको फँसानेके लिये पाळतू हरिनकी आवश्यकता होती है, इसी प्रकार भगवान् नारायण भी भक्तोंके द्वारा ही संसारासक्त जीवोंका उद्धार करते हैं ।

७६१—जो आदमी अपना सारा संसार और अपने जीवनको प्रभुके अर्पण नहीं कर देता, वह दुनियाके इस भयानक जंगलको पार कर ही नहीं सकता ।

७६२—ईश्वरका स्मरण करो तो ऐसा कि फिर दूसरी बार उसे याद ही न करना पड़े ।

७६३—शरीर, वाणी, मन तीनों मेरे नहीं । उन्हे तो मैं ईश्वरको सौंप चुका हूँ । मेरा न लोक है, न परलोक । दोनोंकी जगह है परमेश्वर ।

७६४—अपने सब काम भूलकर सदा ईश्वरका स्मरण करते रहो ।

७६५—अगर उस करुणासागरकी करुणाकी एक वूँद भी तुमपर गिर जाय, तो दुनियामें किसीसे कुछ भी माँगनेकी तुम्हें जरूरत नहीं रह जायगी ।

७६६—ब्रह्म, यही करना है कि हम, केशव भगवान्‌पर निर्भर करना सीख लें; अपना सब कुछ उन्हें सौंपकर उनके हाथकी कठपुतली बन जायँ । वे जब, जो, जैसे करें—उसीमें हमें आनन्द-का अनुभव हो ।

७६७—भगवदाश्रय और भगवन्नामसे पापोंका समूल नाश हो जाता है, यह निश्चित है ।

७६८—मनुष्यके किसी भी प्रयत्नसे भगवान्‌की प्राप्ति असम्भव ही है । प्रभुकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग प्रेम ही है । यह प्रेम शुद्ध, सात्त्विक और निष्काम होना चाहिये ।

७६९—ईश्वर आनन्दमय हैं, वे लीला-रस-विस्तारके लिये ही सृष्टि-रचना करते हैं । इस सृष्टिमें उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है । अनादिकालसे बिलग हुए जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही उनके द्वारा सृष्टिलीलाका सूत्रपात होता है ।

७७०—परमात्माके दर्शनमें लीन होकर उसका स्मरण करना भी भूल जाओ, यही ऊँचा-से-ऊँचा स्मरण है ।

७७१—सारे ससारका एक ग्रास बनाकर भी यदि बालकके मुँहमें दे दिया जाय तो भी वह भूखा ही रहेगा । जिसका मन खान-पान और गहने-कपड़ेमें ही बसा है, उसकी स्थिति पशुसे भी गयी-ब्रीती है ।

७७२—दुनियाकी सारी चीजोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र प्रभुकी ओर लग जाओ । इस दुनियाको आज नहीं तो कल छोड़ना ही है ।

७७३—ईश्वर अपने भक्तसे बार-बार कहता है कि तू दुनियासे विमुख हो जा और मेरी ओर आ । और कुछ चाहे जितना करता

रह, पर याद रख, बिना मेरी ओर आये तुझे सच्ची शान्ति और सुख मिलनेका ही नहीं । इसलिये पूछता हूँ—कबतक तू मुझसे भागता फिरेगा, कबतक मुझसे विमुख रहेगा ?

७७४—पढ़ने-ओढ़नेमें सादगीका खयाल रखना । शौकीनीकी पोशाक और आढंबरसे परे ही रहना ।

७७५—भक्त ज्यों ही प्रभुका सर्वभावसे आश्रय लेता है, त्यों ही परमेश्वर उसकी रक्षा, योगक्षेमका सारा भार अपने हाथमें ले लेते हैं ।

७७६—ईश्वरपर सतत दृष्टि रखना ही ईश्वरीय ज्ञानका फल है ।

७७७—पूरे जागे हुए मनका यही अर्थ है कि ईश्वरके सिवा दूसरी किसी चीजपर चले ही नहीं । जो मन हरिकी प्रीतिमें डूब गया फिर उसे दूसरे किसीकी क्या जरूरत ?

७७८—जैसे मल्लसे धोनेपर मल दूर नहीं होता, वैसे ही भोग-प्राप्ति-जनित सुखसे भोगकी अप्राप्तिजनित दुःख नहीं मिट सकता । कीचड़से कीचड़ धुलता नहीं वर और भी बढ़ता है ।

७७९—हे प्रभो ! आपके सिवा मेरा कोई नहीं । आप मेरे हैं तो फिर सब कुछ मेरा है । मुझे अपनेसे जरा भी अलग न करिये । मेरे सामने अपने सिवा और किसीको न आने दें ।

७८०—मनुष्यका सच्चा कर्तव्य क्या है ? ईश्वरके सिवा किसी दूसरी चीजसे प्रीति न जोड़ना ।

७८१—विधि-विधानके सारे जालको छिन्न-भिन्न करके मन, बुद्धि, चित्त और प्राणको प्रभुमें एकनिष्ठ होकर अर्पित करे ।

७८२—ससारके समस्त राग-द्वेषको मिटाकर मनुष्य प्रभु-प्रेम और हृदयकी सच्ची प्रार्थनाकी साधना करे ।

७८३—किसी भी लौकिक अथवा पारलौकिक पदार्थको प्रभुसे न जाँचो । वह तुम्हारी आवश्यकताको तुम्हारी अपेक्षा अधिक जानता है और तुम्हें जब जिस वस्तुकी आवश्यकता होगी, वह दयालु प्रभु पहुँचा देगा । तुम्हारा बस एक काम है, चारों ओरसे चित्तको समेटकर प्रभुके चरणोंमें बसा दो ।

७८४—ज्ञानी, तपस्वी, शूर, कवि, पण्डित, गुणी—कौन है इस संसारमें जिसे मोहने भरमाया नहीं, कामने नचाया नहीं, यह जगत् तो काजलकी कोठरी है, कलंकसे बचनेका बस, एक ही उपाय है भगवान्‌का सतत स्मरण ।

७८५—जिस पापके आरम्भमें ईश्वरका भय और अन्तमें ईश्वरसे याचना होती है, वह पाप भी साधकको ईश्वरके समीप ले जाता है; किन्तु जिस तपश्चर्याके आरम्भमें अहंभाव और अन्तमें अभिमान होता है, वह तप भी तपस्वीको ईश्वरसे दूर ले जाता है ।

७८६—अहकारी साधकको 'साधक' नहीं कहा जा सकता, वह तो महा अपराधी है; परंतु प्रभुकी प्रार्थना करनेवाला एक पापी भी 'साधक' है ।

७८७—बिना पश्चात्तापके सच्ची साधनाका आरम्भ नहीं होता । इसीलिये ईश्वरसाधनाका पूर्व अङ्ग है पश्चात्ताप । ईश्वरस्मरणके समय तो पश्चात्तापके विचारोंको भी दूर कर देना चाहिये जिससे सब इष्ट वस्तुओंका स्थान एक ईश्वर ग्रहण कर ले ।

७८८—जिस समय लोग 'उन्मत्त' और 'मस्त' कहकर मेरी निन्दा करेंगे तभी मेरे मनमें गूढ़ तत्त्वज्ञान उदय होगा ।

७८९—सहनशील ऋषि और कृतज्ञ-वनवान्‌में श्रेष्ठ कौन ?
 सहनशील ऋषि । धनवान्‌ चाहे जितना भला हो, पर उसका मन
 लक्ष्मीमें लिप्त रहता है, किंतु एक ऋषिका हृदय तो लगा रहता है
 अपने प्रभुमें ।

७९०—जो मनुष्य जीवन-निर्वाहके लिये नीतिपूर्वक व्यवहार
 करता है, वह भी ईश्वरकी महिमाको समझता है, परंतु जो मनुष्य ईश्वरके
 लिये ही जीवन-निर्वाह करता है, वह तो ईश्वरको प्राप्त करता है ।

७९१—तुम प्रभुको तो जानते हो न ? तो अब तुम और
 कुछ भी न जानो तो कोई हानि नहीं । ईश्वर तुम्हें जानता है न;
 तो अब कोई दूसरा तुम्हें नहीं जाने तो कोई हानि नहीं ।

७९२—जो मनुष्य ईश्वरको छोड़कर दूसरेसे स्नेह करता है,
 वह क्या कभी सुखी हो सकता है ?

७९३—जवत्‌क ममत्व है तभीतक दुःख है । जहाँ ममाव दूर
 हुआ कि सब अपना-ही-अपना है । आसक्तिको छोड़कर व्यवहार करो,
 धन, स्त्री तथा कुटुम्बियोंमें अपनेपनके भावको भुलाकर व्यवहार करो ।

७९४—परपुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाली स्त्री बाहरसे घाके
 कार्योंमें व्यस्त रहकर भी भीतर-ही-भीतर उस नूतन जारसङ्गम रूपी
 रसायनका ही आखादन करती रहती है । इसी प्रकार बाहरसे तो
 तुम राजकार्योंको भले ही करते रहो; किंतु हृदयसे सदा उन्हीं
 हृदयरमणके साथ क्रीडा-विहार करो ।

७९५—जो स्त्रियोंके हाव-भाव और कटाक्षोंसे घायल नहीं
 होता, जिसके चित्तको क्रोधरूपी अग्नि संताप नहीं पहुँचा सकती
 और जिसे प्रचुर विषयलोभरूपी बाण विद्ध नहीं कर सकते, यानी

जिसकी दृष्टिमें संसारी सभी भोग तृणके समान हैं, वह धीर महापुरुष इस सम्पूर्ण त्रिलोकीको बात-क्री-बातमें जीत सकता है।

७९६—सर्वोत्तम सिद्धान्त तो यह है कि घरका पूर्ण रीतिसे परित्याग ही कर देना चाहिये, किंतु यदि घरको पूर्णरीत्या त्याग करनेका सामर्थ्य न हो तो घरमें रहकर सब कार्य श्रीकृष्णके ही निमित्त—उनके प्रीत्यर्थ ही करे; क्योंकि श्रीकृष्ण सभी प्रकारके अनर्थोंको मोचन करनेवाले हैं।

७९७—संग किसीका करना ही न चाहिये। सभी प्रकारके संगोंका एकदम परित्याग कर देना चाहिये; किंतु यदि सब प्रकारके संगोंका परित्याग करनेमें समर्थ न हो सके तो सज्जन और संत-महात्माओंका ही संग करना चाहिये, क्योंकि संगसे जो काम उत्पन्न होता है, उसकी ओषधि संत ही हैं।

७९८—भगवत्सेवामें जो अनुकूल पड़े, उसीका चिन्तन करना और जो भगवत्तत्त्वोंमें विघातक हों, उनका सर्वथा त्याग करना।

७९९—जिस प्रकार पतिव्रता स्त्रीको इस बातका पूर्ण विश्वास होता है कि जिसने मेरा एक बार अग्निके सम्मुख पाणिग्रहण किया है वह मेरी अवश्य रक्षा करेगा, उसी प्रकार श्रीकृष्णपर भरोसा रखना कि वे हमारी अवश्य ही रक्षा करेंगे।

८००—भगवान्को आत्मनिवेदन करनेपर उनके प्रति भारी दीनता रखना।

८०१—झायाको छोड़कर असली आनन्दको खोजो, तुम्हें शान्ति मिलेगी।

७८९—सहनशील ऋषि और कृतज्ञ-वनवान्मे श्रेष्ठ कौन ?
 सहनशील ऋषि । धनवान् चाहे जितना भला हो, पर उसका मन
 लक्ष्मीमें लिप्त रहता है; किंतु एक ऋषिका हृदय तो ढगा रहता है
 अपने प्रभुमें ।

७९०—जो मनुष्य जीवन-निर्वाहके लिये नीतिपूर्वक व्यवहार
 करता है, वह भी ईश्वरकी महिमाको समझता है; परंतु जो मनुष्य ईश्वरके
 लिये ही जीवन-निर्वाह करता है, वह तो ईश्वरको प्राप्त करता है ।

७९१—तुम प्रभुको तो जानते हो न ? तो अब तुम और
 कुछ भी न जानो तो कोई हानि नहीं । ईश्वर तुम्हें जानता है न,
 तो अब कोई दूसरा तुम्हें नहीं जाने तो कोई हानि नहीं ।

७९२—जो मनुष्य ईश्वरको छोड़कर दूसरेसे स्नेह करता है,
 वह क्या कभी सुखी हो सकता है ?

७९३—जबतक ममत्व है तभीतक दुःख है । जहाँ ममत्व दूर
 हुआ कि सब अपना-ही-अपना है । आसक्तिको छोड़कर व्यवहार करो,
 धन, स्त्री तथा कुटुम्बियोंमें अपनेपनके भावको भुलाकर व्यवहार करो ।

७९४—परपुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाली स्त्री बाहरसे घरके
 कार्योंमें व्यस्त रहकर भी भीतर-ही-भीतर उस नूतन जारसङ्गम रूपी
 रसायनका ही आस्वादन करती रहती है । इसी प्रकार बाहरसे तो
 तुम राजकार्योंको भले ही करते रहो; किंतु हृदयसे सदा उन्हीं
 हृदयरमणके साथ क्रीडा-विहार करो ।

७९५—जो स्त्रियोंके हाव-भाव और कटाक्षोंसे घायल नहीं
 होता, जिसके चित्तको क्रोधरूपी अग्नि संताप नहीं पहुँचा सकती
 और जिसे प्रचुर विषयलोभरूपी बाण विद्ध नहीं कर सकते, यानी

जिसकी दृष्टिमें ससारी सभी भोग तृणके समान हैं, वह धीर महापुरुष इस सम्पूर्ण त्रिलोकीको बात-की-बातमें जीत सकता है ।

७९६—सर्वोत्तम सिद्धान्त तो यह है कि घरका पूर्ण रीतिसे परित्याग ही कर देना चाहिये; किंतु यदि घरको पूर्णरीत्या त्याग करनेका सामर्थ्य न हो तो घरमें रहकर सब कार्य श्रीकृष्णके ही निमित्त—उनके प्रीत्यर्थ ही करे; क्योंकि श्रीकृष्ण सभी प्रकारके अनर्थोंको मोचन करनेवाले हैं ।

७९७—संग किसीका करना ही न चाहिये । सभी प्रकारके संगोंका एकदम परित्याग कर देना चाहिये; किंतु यदि सब प्रकारके संगोंका परित्याग करनेमें समर्थ न हो सके तो सज्जन और सत-महात्माओंका ही संग करना चाहिये, क्योंकि संगसे जो काम उत्पन्न होता है, उसकी ओषधि संत ही हैं ।

७९८—भगवत्सेवामें जो अनुकूल पड़े, उसीका चिन्तन करना और जो भगवत्तत्त्वोंमें विवातक हों, उनका सर्वथा त्याग करना ।

७९९—जिस प्रकार पतिव्रता स्त्रीको इस बातका पूर्ण विश्वास होता है कि जिसने मेरा एक बार अग्निके सम्मुख पाणिग्रहण किया है वह मेरी अवश्य रक्षा करेगा, उसी प्रकार श्रीकृष्णपर भरोसा रखना कि वे हमारी अवश्य ही रक्षा करेंगे ।

८००—भगवान्को आत्मनिवेदन करनेपर उनके प्रति भारी दीनता रखना ।

८०१—छायाको छोड़कर असली आनन्दको खोजो, तुम्हें शान्ति मिलेगी ।

८०२—जब हृदयमें किसीसे कुछ लेनेकी इच्छा ही नहीं तब जैसा ही धनी वैसा ही गरीब ।

८०३—कीर्ति तो पतिव्रता है, पुश्तली नहीं । उसने तो एक ही पुरुष श्रीहरि को वरण कर लिया है, इसलिये तुम उसकी आशा-को छोड़ दो, छोड़ दो, छोड़ दो ।

८०४—भक्तिमार्गकी ओर बढ़नेवाले साधकको कामिनी, काञ्चन और कीर्तिके स्वरूप पद, प्रतिष्ठा, पैसा, पुत्र, परिवार आदि जो यावत् प्रेमपदार्थ हैं, उनका परित्याग करके तब इस पथकी ओर अग्रसर होना चाहिये ।

८०५—जिसके हृदयमें सच्ची श्रीकृष्णभक्ति है, उससे बढ़कर श्रेष्ठ कोई हो ही नहीं सकता । श्रेष्ठपनेकी यही पराकाष्ठा है ।

८०६—श्रवण, कीर्तन ही प्रमु-प्रेम-प्राप्तिका मुख्य उपाय है और सब उपाय तथा आश्रयोंका परित्याग करके श्रीहरिकी ही शरण लेनी चाहिये ।

८०७—गङ्गा की धाराकी तरह मनकी गति श्रीहरिकी ही ओर बहती रहे । फिर श्रीकृष्ण दूर नहीं रहते । वे तो आकर भक्तसे लिपट जाते हैं । यही तो उनकी भक्तवत्सलता है ।

८०८—साधु-महात्मा-संत तथा भगवद्भक्तोंके चरणोंमें दृढ़ अनुराग रखो । वे कैसे भी हों उनकी निन्दा कभी मत करो । सबको ईश्वर-बुद्धिसे नम्र होकर प्रणाम करो । तुम्हारा कल्याण होगा ।

८०९—श्रीकृष्ण-कृष्ण रटिये और वृन्दावनमें बसिये, इसीमें परम कल्याण है ।

८१०—वैराग्य होनेपर मान-प्रतिष्ठा, इन्द्रियखाद और लोक-लजकी परवा ही नहीं रहती ।

८११—त्यागी होकर भी जो परमुखापेक्षी बना रहता है, वह तो कुत्तुरके समान है ।

८१२—त्यागीको अपनी वृत्ति सदा स्वतन्त्र रखनी चाहिये । भिक्षा माँगकर खाना ही उसके लिये परम भूषण है ।

८१३—जो त्यागी होकर अपनी जिह्वाको वशमें नहीं कर सकता, घर छोड़नेपर भी जिसे भिक्षाका संकोच है, वह तो इन्द्रियोंका गुलाम है । परमार्थका पथ उससे बहुत दूर है ।

८१४—विरागीको निरन्तर नाम-जप करते रहना चाहिये ।

८१५—समयपर रूखा-सूखा जो भी भिक्षामें प्राप्त हो जाय, उसीपर निर्वाह करके केवल कृष्णकथाकीर्तनके निमित्त इस शरीरको धारण किये रहना चाहिये ।

८१६—सभी शास्त्रोंका सार यही है कि श्रीकृष्णकीर्तन और नामस्मरण ही संसारमें सुखका सर्वश्रेष्ठ साधन है । प्रेमकी उपलब्धि नामस्मरणसे ही हो सकती है ।

८१७—जिसे प्रेमकी प्राप्ति करनी हो, उसे सबसे पहले साधु-संग करना चाहिये ।

८१८—भजन, कीर्तन, सत्संग, भगवत्-लीलाओंका स्मरण यही मुख्य धर्म है ।

८१९—अदोषदर्शी होना वैष्णवोंके लिये सबसे मुख्य काम है ।

८२०—ग्राम्यकथा कभी श्रवण नहीं करनी चाहिये ।

ग्राम्यवथा सुननेसे चित्तमें वे ही बातें स्मरण होती हैं जिससे भजनमें चित्त नहीं लगता ।

८२१—विषयी लोगोंकी बातें करनेसे चित्त विषयमय बन जाता है ।

८२२—सुखादिष्ट अन्न और चमकीले वस्त्रसे वचना चाहिये ।

८२३—हृदयमें अभिमान आतेही सभी साधन नष्ट हो जाते हैं ।

८२४—सदा, सर्वत्र और सब अवस्थाओंमें भगवन्नामका जप करते रहना चाहिये । नाम-जपसे श्रीकृष्ण-चरणोंमें प्रीति उत्पन्न होती है ।

८२५—मानसिक पूजा ही सर्वश्रेष्ठ पूजा है ।

८२६—जहाँतक हो, विषयी धनिक पुरुषोंके अन्नसे तो वचना चाहिये ।

८२७—आध्यात्मिक शास्त्रोंके श्रवण, भगवान्‌के नाम-कीर्तन, मनकी सरलता, सत्पुरुषोंका समागम, देशभिमानके त्यागका अभ्यास—इन भागवतधर्मोंके आचरणसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, फिर वह अनायास ही भगवान्‌में आसक्त हो जाता है ।

८२८—सोच करनेसे कोई लाभ नहीं है, सोच करनेवाला केवल दुःख ही भोगता है । जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको त्याग देता है, जो ज्ञानसे तृप्त है और बुद्धिमान् है, वही सुख पाता है ।

८२९—सदाचारके पालनसे मनुष्य दीर्घ आयु, मनचाही संतान और अटूट सम्पत्ति पाता है । इससे अल्पमृत्यु आदिका भी नाश होता है ।

८३०—सब प्रकारसे अपने हितके कार्य करने चाहिये—जो

बहुत बोलते हैं, उनसे कुछ नहीं होता । संसारमें ऐसा कोई उपाय नहीं, जिससे सब लोग प्रसन्न हो सकें ।

८३१—अरे, विषयोंमें इतना क्यों रम रहा है ? कभी उनसे मुख नहीं मोड़ता, श्रीहरिका भजन कर जिससे यमके फदेमें न पड़ना पड़े ।

८३२—जिस गृहस्थमें सत्य, धर्म, धृति और त्याग नामक चार धर्म होते हैं, उसे मरकर इस लोकसे परलोकको प्राप्त होनेपर सोच नहीं करना पड़ता ।

८३३—जिसके चित्तसे राग-द्वेषका नाश हो गया है, वही ज्ञानी, गुणी, दानी और ध्यानी है ।

८३४—मनके अहंकारको छोड़कर ऐसी जवान बोलनी चाहिये जिससे दूसरोंको भी शान्ति पहुँचे और अपनेको भी शान्ति मिले ।

८३५—रातको सोना और दिनका खाना भूलकर, सारी बकवाद छोड़कर दिन-रात श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये ।

८३६—जैसे शत्रु हुए विना मित्रकी कीमत नहीं मालूम होती, वैसे ही प्रेमकी शक्तिके व्यवहारका स्थान न हो तो प्रेमकी शक्तिका भी पता नहीं लगता ।

८३७—लोग भौंति-भौतिकी चर्चा किया करते हैं, परंतु उन्हें अपने भीतरी और बाहरी जीवनकी जाँच तथा समालोचना करनी चाहिये, अपनेकार्य तथा स्वभावकी ओरसे सदा सावधान रहना चाहिये और सन्मार्ग कभी नहीं छोड़ना चाहिये । यही सर्वोत्तम कार्य है ।

८३८—प्रेमका परिचय केवल स्तुतियोंसे नहीं मिलता, अनेक दुःख झेलकर, समस्त स्वार्थको तिलाञ्जलि देकर प्रेमको प्रमाणित करना पड़ता है ।

ज्ञाता और शास्त्रके ज्ञाता बहुत हैं, ब्रह्मको जाननेवाले भी मिल सकते हैं, परंतु अपने अज्ञानको जाननेवाले तो बिरले ही होते हैं।

८५७—मुक्तपुरुषको कष्ट अवश्य होता है, पर उसको उस कष्टमें राग-द्वेष नहीं होता, वह उसे संसारका धर्म समझकर सहता है, सुख-दुःखोंसे उसकी वृत्तिमें चञ्चलता नहीं आती, यही बद्ध और मुक्तका भेद है।

८५८—भगवान्की पूजाके लिये सात पुष्प उपयोगी हैं—
१—अहिंसा, २—इन्द्रियसंयम, ३—प्राणियोंपर दया, ४—क्षमा,
५—मनको वशमें करना, ६—ध्यान और ७—सत्य; इन्हीं फूलोंसे
भगवान् प्रसन्न होते हैं।

८५९—तारे तभीतक जगमगाते हैं, जबतक कि सूर्य नहीं उगता। इसी प्रकार जबतक ज्ञानका उदय नहीं होता, तभीतक मनुष्य विषयोंमें लगा रहता है।

८६०—भगवत्प्राप्त पुरुष भगवद्भजनको छोड़कर दूसरेका पथप्रदर्शक नहीं बनता; क्योंकि वह अपने प्रभुके सिवा किसीको भी रक्षक, शिक्षक या मार्गदर्शक नहीं देखता।

८६१—बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती, भक्ति बिना भगवान् प्रसन्न नहीं होते और भगवत्कृपा बिना जीवको सपनेमें भी शान्ति नहीं मिल सकती।

८६२—जैसे पक्षी रातको आकर पेड़पर बसेरा करते हैं और दिन उगते ही उड़ जाते हैं, वैसी ही हालत कुटुम्बकी समझनी चाहिये।

८६३—धन, स्त्री और पुत्रोंमें ही चित्त लगा रक्खा है; विपत्तिमें काम आनेवाले मित्र भगवान्की खोज क्यों नहीं करता ?

८६४—जो असंतोषी है, वही दद्रि है; जो इन्द्रियोंके वशमें है, वही कृपण है; जिसकी बुद्धि विषयोंमें फँसी हुई नहीं है, वही स्वतन्त्र है ।

८६५—दुःख पानेपर भी सामनेवालेको कड़वे वचन नहीं कहने चाहिये । ऐसे किसी काममें बुद्धि नहीं लगानी चाहिये जिससे दूसरेका द्रोह होता हो, ऐसी वाणी नहीं बोलनी चाहिये जिससे लोगोंको उद्वेग हो ।

८६६—जिसके घरसे अतिथि निराश लौट जाता है, उसका सैकड़ों घड़े घोड़ा होम भी व्यर्थ है । अतिथिकी जात-पाँत, विद्या आदि न पूछकर देवता समझकर उसका सत्कार करना चाहिये; क्योंकि अतिथिमें सब देवता बसते हैं ।

८६७—तुममें, हममें तथा सब प्राणियोंमें सर्वत्र एकमात्र भगवान् विष्णु ही व्याप्त हैं, फिर असहिष्णु होकर क्यों वृथा कोप करते हो ? सबके अंदर एकमात्र आत्माको देखो और भेदज्ञानको नष्ट कर दो ।

८६८—किसीकी हिंसा न करो या किसीको कष्ट न दो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो; शरीर, मन और वचनसे न्याय करो, किसीसे कोई आशा न करो ।

८६९—एक दिन सुमेरु पर्वत भी गिर पड़ता है, समुद्र भी सूख जाता है, पृथ्वी भी नष्ट हो जाती है, फिर इस क्षणभङ्गुर शरीरकी तो बात ही कौन-सी है ?

८७०—लोगोंके सामने अपना दोष स्वीकार करनेमें जिसको जरा-सा भी सकोच नहीं होता; इतना ही नहीं, परंतु जो इसीमें अपनी भलाई समझता है तथा अपने अच्छे काम दूसरोंको जनाने-

८३९—जो खच्छ मनसे ईश्वरका स्मरण किया करता है, उसके लिये किसी दूसरे मित्रकी आवश्यकता नहीं है ।

८४०—जिसके संगसे सत्य, पवित्रता, दया, मौन, बुद्धि, श्री, लज्जा, कीर्ति, क्षमा, शम, दम और सौभाग्यका नाश हो, ऐसे अशान्त, मूर्ख, लियोंके बशमें रहनेवाले, देहाभिमानी मनुष्योंका संग कभी नहीं करना चाहिये ।

८४१—कुसंग बिल्कुल छोड़ देनी चाहिये; क्योंकि उसमें काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और अन्तमें सर्वनाश हो जाता है ।

८४२—मूर्खलोग ही असंतोषी होते हैं । असंतोषकी कोई सीमा नहीं है, परंतु संतोषसे ही परम सुख मिलता है ।

८४३—दुराचारी मनुष्यकी जगत्में निन्दा होती है, वह सदा दुःख भोगता है, रोगी रहता है और उसकी आयु बहुत कम होती है ।

८४४—संतोष हुए बिना कामका नाश नहीं होता और कामना रहते कभी स्वप्नमें भी सुख नहीं हो सकता । कामना श्रीरामके भजन बिना नहीं मिटती ।

८४५—जो तेरे लिये काँटे बोवें, तू उनके लिये भी फूल बो ।

८४६—धनकी लालसासे जमीनको खोदा, पहाड़ोंकी धातुओंको फूँका, समुद्र-यात्रा की, बड़े प्रयत्नसे राजाओंको खुश किया, मन्त्र-सिद्धिके लिये श्मशानमें रातें बितायीं, पर कहीं भी एक फूटी कौड़ी न मिली । हे तृष्णे ! तू अब तो मेरा पिण्ड छोड़ ।

८४७—प्रेम ही प्रमुखा ऐश्वर्य है । जिसको प्रेम मिल जाता है, उसे सब कुछ मिल जाता है ।

८४८—केवल उपासनासे ही आत्माकी उन्नति और पूर्णता नहीं होती, उसके लिये प्रेम चाहिये । प्रेमसे ही आत्माका पूर्ण विकास होता है ।

८४९—तुम जितना प्रयत्न संसारके विषयोंकी प्राप्तिके लिये करते हो, उतना यदि परमधामके लिये करो तो तुम्हे वहाँ अवश्य ही स्थान मिले ।

८५०—यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि कोई मनुष्य तुम्हारा भला-बुरा नहीं कर सकता, जो कुछ होता है, ईश्वरहीका किया होता है ।

८५१—गोविन्दके गुण नहीं गानेसे जीवन व्यर्थ जा रहा है, रे मन ! श्रीहरिको वैसे ही भज जैसे मछली जलको भजती है ।

८५२—दृढ़निश्चयी, कोमलस्वभाव, इन्द्रियविजयी, क्रूर कर्म करनेवालोंका सग न करनेवाला, अहिंसक पुरुष इन्द्रियदमन और दानके द्वारा स्वर्गको जीत लेता है ।

८५३—ब्रह्मचर्य, तप, शौच, संतोष, प्राणिमात्रके साथ मैत्री और भगवान्की उपासना—ये सबके पालन करने योग्य धर्म हैं ।

८५४—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिको छोड़कर यह देखो कि 'मैं कौन हूँ' । आत्मज्ञानसे रहित मूर्खोंको घोर नरकोंमें गिरना पड़ता है ।

८५५—अच्छी हालतमें सभी बन्धु हैं, बुरी हालतके बन्धु दुर्लभ हैं । जो बिगड़ी हालतका साथी है, वही सच्चा बन्धु है । मित्र वही जो विपत्तिके समय मनुष्यका साथ दे न कि बीती हुई बातोंके लिये उल्लाहना देनेमें ही सिर खपावे ।

८५६—नीतिको जाननेवाले, प्रारब्धको जाननेवाले, वेदके

ज्ञाता और शास्त्रके ज्ञाता बहुत हैं, ब्रह्मको जाननेवाले भी मिल सकते हैं, परंतु अपने अज्ञानको जाननेवाले तो बिरले ही होते हैं।

८५७—मुक्तपुरुषको कष्ट अवश्य होता है, पर उसको उस कष्टमें राग-द्वेष नहीं होता, वह उसे ससारका धर्म समझकर सहता है, सुख-दुःखोंसे उसकी वृत्तिमें चञ्चलता नहीं आती, यही बद्ध और मुक्तका भेद है।

८५८—भगवान्की पूजाके लिये सात पुष्प उपयोगी हैं—
१—अहिंसा, २—इन्द्रियसंयम, ३—प्राणियोंपर दया, ४—क्षमा,
५—मनको वशमें करना, ६—ध्यान और ७—सत्य; इन्हीं फूलोंसे
भगवान् प्रसन्न होते हैं।

८५९—तारे तभीतक जगमगाते हैं, जबतक कि सूर्य नहीं उगता। इसी प्रकार जबतक ज्ञानका उदय नहीं होता, तभीतक मनुष्य विषयोंमें लगा रहता है।

८६०—भगवत्प्राप्त पुरुष भगवद्भजनको छोड़कर दूसरेका पथप्रदर्शक नहीं बनता; क्योंकि वह अपने प्रभुके सिवा किसीको भी रक्षक, शिक्षक या मार्गदर्शक नहीं देखता।

८६१—बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती, भक्ति बिना भगवान् प्रसन्न नहीं होते और भगवत्कृपा बिना जीवको सपनेमें भी शान्ति नहीं मिल सकती।

८६२—जैसे पक्षी रातको आकर पेड़पर बसेरा करते हैं और दिन उगते ही उड़ जाते हैं, वैसी ही हालत कुटुम्बकी समझनी चाहिये।

८६३—धन, स्त्री और पुत्रोंमें ही चित्त लगा रक्खा है; विपत्तिमें काम आनेवाले मित्र भगवान्की खोज क्यों नहीं करता ?

८६४—जो असंनोषी है, वही दद्रि है; जो इन्द्रियोंके वशमें है, वही कृपण है; जिसकी बुद्धि विषयोंमें फँसी हुई नहीं है, वही स्वतन्त्र है ।

८६५—दुःख पानेपर भी सामनेवालेको कड़वे वचन नहीं कहने चाहिये । ऐसे किसी काममें बुद्धि नहीं लगानी चाहिये जिससे दूसरेका द्रोह होता हो, ऐसी वाणी नहीं बोलनी चाहिये जिससे लोगोंको उद्वेग हो ।

८६६—जिसके घरसे अतिथि निराश लौट जाता है, उसका सैकड़ों घडे धीका होम भी व्यर्थ है । अतिथिकी जात-पाँत, विद्या आदि न पूछकर देवता समझकर उसका सत्कार करना चाहिये; क्योंकि अतिथिमें सब देवता बसते हैं ।

८६७—तुममें, हममें तथा सब प्राणियोंमें सर्वत्र एकमात्र भगवान् विष्णु ही व्याप्त हैं, फिर असहिष्णु होकर क्यों वृथा कोप करते हो ? सबके अंदर एकमात्र आत्माको देखो और भेदज्ञानको नष्ट कर दो ।

८६८—किसीकी हिंसा न करो या किसीको कष्ट न दो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, शरीर, मन और वचनसे न्याय करो, किसीसे कोई आशा न करो ।

८६९—एक दिन सुमेरु पर्वत भी गिर पड़ता है, समुद्र भी सूख जाता है, पृथ्वी भी नष्ट हो जाती है, फिर इस क्षणभङ्गुर शरीरकी तो बात ही कौन-सी है ?

८७०—लोगोंके सामने अपना दोष स्वीकार करनेमें जिसको जरा-सा भी संकोच नहीं होता; इतना ही नहीं, परंतु जो इसीमें अपनी भलाई समझता है तथा अपने अच्छे काम दूसरोको जनाने-

की जो बिल्कुल इच्छा नहीं रखता और जो दृढ़ संकल्पवाला है, वही सत्यनिष्ठ और सच्चा साधक है ।

८७१—पिता-माताका सम्मान करो, व्यभिचार मत करो, चोरी मत करो, झूठी गवाही न दो, दूसरेकी चीजपर मन न चलाओ ।

८७२—अपने अंदरके बुरे भाव अहंकार, भय और अज्ञानको पहले दूर करना चाहिये, तभी जीवन प्रभुमय बन सकता है ।

८७३—आत्मा नित्य सिद्ध है, इसकी प्रतीतिके लिये देश, काळ अथवा शुद्धि आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं है ।

८७४—भगवान्‌के नाममें रुचि, जीवोंपर दया और भक्तोंका सेवन—इन तीन साधनोंके समान और कोई साधन नहीं ।

८७५—जिस गृहस्थमें सत्य, धर्म, धृति और त्याग नामक चार धर्म होते हैं, वही मरकर इस लोकसे परलोकको प्राप्त होकर सोच नहीं करता ।

८७६—जो दूसरेको बदनाम करके नाम कमाना चाहते हैं, उनके मुँहपर ऐसी काळिख लगेगी जो मरनेपर भी नहीं धुलेगी ।

८७७—जिस घरमें साधुकी निन्दा होती है, वह समूळ नष्ट हो जाता है, उसकी नींव, नाम और जगहका भी पता नहीं लगता ।

८७८—हरिनामरूपी गोलीके साथ प्रेम, भक्ति, आग्रह, एकाग्रता और निष्ठारूप अनुपान रहनेसे इन्द्रियरूप रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

८७९—माया-मोहको छोड़कर श्रीरामका भजन करना चाहिये ।
(ऐसे भजनरूपी) पारसका स्पर्श किये बिना (मनुष्य-शरीररूपी) लोहा दिन-दिन छीज रहा है ।

८८०—जबतक मनुष्य पहले गाँवको नहीं छोड़ देता, तबतक दूसरे गाँवको नहीं पहुँच सकता । इसी प्रकार जबतक संसारका सम्बन्ध नहीं छोड़ा जाता, तबतक प्रभुके धाममें नहीं पहुँचा जा सकता ।

८८१—आदमी वह काम तो नहीं करता जो उसके वशमें है, परंतु वह करता है जो दूसरोंके वश है अर्थात् वह अपने दोषोंका त्याग तो नहीं करता पर दूसरोंके दोष छुड़ाया चाहता है ।

८८२—हम यदि अपने आसुरी गुणोंसे ही दूसरेके साथ बर्ताव करेंगे, तो उसके अदरसे भी वे आसुरी गुण निकलकर बर्ताव करने लगेंगे ।

८८३—नम्रताका कवच पहन लेनेपर कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता । कपासकी रूई तलवारसे भी नहीं कटती ।

८८४—वही पूत सपूत है जो मन लगाकर भगवान्की भक्ति करता है, जिससे जरा-मरणसे छूटकर अजर-अमर हो जाता है ।

८८५—चराचर सभी दृश्य केवल मनके कारण हैं । जब यह मन अमन हो जाता है, तब द्वैतका कोई अनुभव ही नहीं रहता ।

८८६—ममता और अभिमानसे शून्य तथा चिन्तासे परे रहनेवाला पुरुष अपने घरमें रहता हुआ भी कभी किसी कर्ममें आसक्त नहीं होता ।

८८७—जो दूसरेसे वैर रखते हैं, परायी स्त्री और पराये धनकी ओर ताकते हैं तथा परनिन्दा करते हैं, वे पापी पामर मनुष्य देहधारी राक्षस हैं ।

८८८—साधुकी जाति न पूछो, उससे तो ज्ञानका उपदेश लो; तलवारका मोल करो; म्यानसे क्या काम है ?

८८९—सदा सच बोलना चाहिये । कलियुगमें सत्यका आश्रय लेनेके वाद और किसी साधन-भजनकी आवश्यकता नहीं । सत्य ही कलियुगकी तपस्या है ।

८९०—जब मिले तभी मित्रका आदर करो, पीछेसे प्रशंसा करो और जरूरतके वक्त बिना सकोच सहायता करो ।

८९१—दुर्जन यदि विद्वान् हो तो भी उसका सङ्ग नहीं करना चाहिये; क्योंकि मणिसे सुशोभित सोंप क्या भयानक नहीं होता ?

८९२—तन, मन और वचनकी एकता रखनी चाहिये ।

८९३—जो मनुष्य दूसरे लोगोंके सामने तो भगवान्की बातें करता है और अपने मनमें सदा मान प्राप्त करनेकी तथा दूसरी सांसारिक चिन्ताओंमें लगा रहता है, वह कभी-न-कभी वेइज्जत होकर जरूर आफतमें पड़ेगा ।

८९४—स्वार्थ ही सारे अपराधों और पापोंकी जड़ है और स्वार्थकी जड़ अज्ञान है ।

८९५—जिसने कामनाओंका नाश कर मनको जीत लिया और शान्ति प्राप्त कर ली, वह राजा हो या रक, संसारमें उसको सुख-ही-सुख है ।

८९६—कुमार्गपर चलनेवाला बिना जीता हुआ मन ही परम शत्रु है । मनको जीतकर समत्वको प्राप्त होना ही भगवान्की मुख्य आराधना है ।

८९७—ससारमें वैराग्यरूपी सौभाग्यका पात्र, प्रसन्नचित्त, विषयोंकी आशासे रहित और यथाप्राप्त प्रारब्धफल भोगनेवाला पुरुष इसी जन्ममें कृतार्थ हो जाता है ।

८९८—विश्वास, प्रेम और नियमसे रामनामका जप करो, फिर आदि, मध्य और अन्त—तीनों ही कालमें कल्याण है ।

८९९—मूर्खोंका संग न करना, विद्वानोंका संग करना और पूजनीय पुरुषोंका सत्कार करना उत्तम और शुभकारक कर्म है ।

९००—मन, वचन और शरीरसे पूर्णरूपसे संयमी रहना ही ब्रह्मचर्य है ।

९०१—धनकी तीन गतियाँ हैं—दान, भोग और नाश । जो मनुष्य न तो दान देता है और न भोगता है, उसके धनका नाश हो जाता है ।

९०२—पापोंके कटनेके लक्षण ये हैं—१—पाखण्डियोंसे अलग रहना, २—असत्यका त्याग करना, ३—अहंकारी मनुष्योंसे दूर रहना, ४—भगवान्की तरफ आगे बढ़ना, ५—केवल कल्याणके ही मार्गपर चलना, ६—अधर्म, अनीति और पापकर्मोंको छोड़नेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करना, ७—किये हुए पापोंको नष्ट करनेके लिये योग्य प्रायश्चित्त करना और ८—नालायकके साथ नालायकी न करना ।

९०३—यदि अपना मन बदल जाय—साफ हो जाय तो अपने आप ही व्यवहार—वर्तारमें परिवर्तन हो जायगा और उसका असर प्रतिपक्षीपर देर-सबेर पड़ेगा ही ।

९०४—जो मनुष्य यह चाहता है कि प्रभु सदा मेरे साथ रहें, उसे सत्यका ही सेवन करना चाहिये । भगवान् कहते हैं कि मैं केवल सत्यप्रिय लोगोंके ही साथ रहता हूँ ।

९०५—बहुत प्रश्न करना मूर्खताकी निशानी है । मूर्ख

घंटेभरमें जितने प्रश्न कर बैठता है, बुद्धिमान् उनका पूरा उत्तर सात वर्षमें भी नहीं दे सकता ।

९०६—इच्छाको रानी बना लो या दासी, रानी बनाकर उसकी आज्ञामें चलोंगे तो वह दुःखके कुण्डमें डुबो देगी और दासी बनाकर अपनी आज्ञामें रक्खोगे तो सारे सुखोंकी प्राप्ति होगी ।

९०७—हरिसे नहीं, तू तो हरिके जनसे प्रेम कर, हरि तो माल-मुल्क ही देते हैं, पर हरि-जन तो साक्षात् हरिको ही दे देते हैं ।

९०८—जरा-सी कामना रहते भगवान् नहीं मिलते । तागेमें अगर जरा-सा भी खूदा हो तो वह सूर्यमें नहीं जा सकता ।

९०९—सभी प्राणियोंके अंदर भगवान् श्रीहरि आत्मरूपसे विराजमान है; अतः सब प्राणियोंको भगवान्का निवासस्थान समझकर किसीसे भी द्रोह न कर ऐसा करनेसे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

९१०—शान्त, धर्ममय, प्रिय और सत्यवचन ही सुभाषण हैं । ऐसी बात कहनी चाहिये जो आत्माके विरुद्ध न हो और जिससे किसीको दुःख न पहुँचे ।

९११—सज्जनको झूठ जहर-सा लगता है और दुर्जनको सच विषके समान लगता है । वे इनसे वैसे ही दूर भागते हैं, जैसे आगसे पारा ।

९१२—जहाँतक हो, चुप रहो और जरूरत पडनेपर उतना ही बोलो, जितना काम हो ।

९१३—जबतक मनुष्य लौकिक जीवनमें रहता है, तबतक वह अलौकिक सुख-सम्पत्तिका मजा नहीं पा सकता ।

९१४—सच्ची माता वह है जो अपने बालकोंके क्रोध, द्वेष और ईर्ष्यारूपी रोगोंको प्रेमरूपी दवासे नष्ट करना सिखाती है और असली वैद्य वह है जो आनन्दी स्वभाव और शुभ भावना रखने और उत्तम कर्म करनेकी शिक्षा देता है, जिनसे शरीर और हृदयको बल मिलता है । आनन्दी स्वभाव ही सबसे श्रेष्ठ दवाका काम देता है ।

९१५—मनुष्य-देह बार-बार नहीं मिलेगी, इसलिये इसको पाकर भगवान्‌का भजन, सेवन और सुकृतका सौदा कर लो ।

९१६—सबके साथ दयालुताका बर्ताव करो, चाहे वे किसी भी दशामें क्यों न हों । क्रोधकी अवस्थामें भी दयापूर्ण शब्दोंका ही प्रयोग करो ।

९१७—लोभ महापापकी खान है । अधर्मी झूठ लोभका मन्त्री है, तृष्णा स्त्री है जो उसे अन्धा कर देती है । लोभसे मनुष्यको न तो उन्नति-अवनतिका पता रहता है और न कालका भय ।

९१८—जैसे माता अपने गर्भको जतनसे रखती है, जिसमें कहीं ठेस न लग जाय, इसी प्रकार भक्तिको भी जतनसे छिपाकर रखना चाहिये ।

९१९—जो मनुष्य पापके द्वारा कुटुम्बका भरण-पोषण करता है, उसको महाघोर अन्धतामिस्त्रनामक नरकमें जाना पड़ता है, उस नरकको भोगनेके बाद वह और भी नीची योनियोंमें जाकर भौंति-भौंतिके कष्ट भोगता है । फिर जब पापका फल भोगकर शुद्ध होता है, तब उसे मनुष्य-योनि मिलती है ।

९२०—शरीरके द्वारा किये हुए दोषोंसे मनुष्योंको स्थावर (वृक्ष आदि) योनि मिलती है, वाणीद्वारा किये हुए कर्मोंके

दोषसे पशु-पक्षी-योनि मिलती है और मनद्वारा किये हुए कर्मोंके दोषसे चाण्डालकी योनि मिलती है ।

९२१—पिताके कर्जको चुकानेवाले तो पुत्र आदि भी होते हैं, परंतु भव-बन्धनको छुड़ानेवाला तो अपने सिवा और कोई नहीं है ।

९२२—लालच बुरी बला है । जिन्होंने धन पैदा करके उसे अच्छे कामोंमें लगाना नहीं सीखा, उनकी बुरी दशा होती है, इससे तो धन न होना ही अच्छा है, जो व्यर्थकी चिन्ता तो न हो ।

९२३—जो लोग सुखकी आशासे विषयोंके पीछे भटकते रहते हैं, उनकी दशा मणिको पानेकी आशासे उसकी परछाईको पकड़नेके लिये व्यर्थ प्रयास करनेवाले मूढ़ मनुष्यकी-सी है ।

९२४—जो कुछ मिले उसीमें सतोष करना और दूसरोंसे डाह न करना, यही शान्तिके खजानेकी कुंजी है ।

९२५—दुर्बल मस्तिष्कके मनुष्य ही सकटोंसे घबराकर उसके वशमें हो जाते हैं, मनोबलसे सम्पन्न पुरुष तो सकटोंको पैरों-तले दबाकर उनपर सवार हो जाता है ।

९२६—सत्यके पायेपर खड़े रहनेसे जो आनन्द मिळता है, उसकी तुलना अन्य किसी प्रकारके आनन्दसे नहीं की जा सकती ।

९२७—जो मनुष्य सदा चिन्तामें डूबे रहते हैं, निरन्तर भयभीत रहते हैं, मनको सदा क्रोधसे पूर्ण रखते हैं, वे सदा ही प्रायः आधे बीमार रहते हैं । चिन्तामे डूबे रहनेवालेको अन्न अच्छी तरह कभी नहीं पचता ।

९२८—हृदयकी सरलता और निर्मलता ही ईश्वरीय ज्योति है, यह ज्योति ही ईश्वरके मार्गको दिखलाती है ।

९२९—अधिक जनसमुदायमें बसनेकी रुचि ही बाँधनेवाली रस्सी है, पुण्यात्मा लोग इस रस्सीको तोड़कर एकान्तमें तप करते हैं, पापीलोग इसी रस्सीमें दिनोंदिन दृढ़ताके साथ बाँधते जाते हैं ।

९३०—भगवान् संसारके आश्रय-स्थल हैं, जगत्के बन्धु हैं, वे सभीके प्राणोंके रक्षक हैं, सर्वथा प्रेममय हैं, इसी कारण सबमें अमेद-भाव रखते और सबकी रक्षा करते हैं, उनका स्नेह सबपर समान रहता है । इस बातको ज्ञानी जानते हैं, इसीसे वे उनसे प्रेम रखते हैं, मूढ़ इस रहस्यको नहीं जानते, इसीलिये उनसे द्वेष करते हैं ।

९३१—प्रसन्नता, आत्मानुभव, परमशान्ति, तृप्ति, आनन्द और परमात्मामें स्थिति—ये विशुद्ध सत्त्वगुणके धर्म हैं । इनसे मुमुक्षु पुरुष नित्यानन्द-रसको प्राप्त करता है ।

९३२—चन्दनके पेड़ जब उगते हैं, तभी वे अपने आसपास सुगन्ध नहीं फैला देते, जब उनकी कलम की जाती है, तभी वे चारों ओर अपनी सुगन्ध फैलाते हैं । इसी प्रकार संकटमें मनुष्यके गुणोंका विकास होता है ।

९३३—चित्तको पवित्र करने-जैसा कल्याणकारक साधन और कोई है नहीं, क्योंकि चित्त ही चिन्तामणिकी भाँति सब पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाली भूमि है ।

९३४—जिसके विचार और चिन्तन पवित्र हैं, उससे अपवित्र क्रिया बन ही नहीं सकती, उससे तो विशुद्ध कर्म ही होते हैं ।

९३५—हे भिक्षुओ ! जबतक तुमलोग ब्रह्मचारियोंसे कायिक, वाचिक, मानसिक मित्रता रखोगे, भीखका अन्न समान भावसे

चाँटकर खाओगे तथा सत्-धर्मकी रक्षा करोगे और सत्-धर्मपर ही दृष्टि रखोगे, तबतक तुमलोगोंका पुण्य क्षय नहीं होगा ।

९३६—इन्द्रियोंको वशमें रखना, जीभको कावूमें रखना, सत्कार्यमें दृढसंकल्प रहना और भगवान्की इच्छापर खुश रहना, चाहे वह तुम्हारे प्रतिकूल ही हो, वस, यही सच्ची शूरता है ।

९३७—दया, नम्रता, दीनता, क्षमा, शील और संतोष—इन छःको धारण करके जो भगवान्को स्मरण करता है, वह निश्चय ही मोक्ष पाता है ।

९३८—शरीर खेत है, मनुष्य किसान है, पाप-पुण्य दो बीज हैं । जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल होता है ।

९३९—ईश्वरके आश्रित मनुष्यमें ये बातें होती हैं, १—उसकी विचारधारा सदा ईश्वरकी तरफ ही बहती है, २—ईश्वरमें ही उसकी स्थिति होती है और ३—ईश्वरकी प्रीतिके लिये ही उसके सारे कर्म होते हैं ।

९४०—जिस प्रकार रात्रि तारागणोंको प्रकाश देती है, उसी प्रकार सकल भी मनुष्यको प्रकाश देता है ।

९४१—हम जो अपने शत्रुओंके गुप्त इतिहासको पढ़ें तो हमें प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें इतना दुःख और शोक भरा मिलेगा कि फिर हमारे मनमें उनके प्रति जरा-सा भी शत्रुभाव नहीं रहेगा ।

९४२—धन, वैभव, कुटुम्ब, विद्या, दान, रूप, बल और कर्म आदिके गर्वसे धन्य होकर दुष्टलोग भगवान् और भगवान्के भक्त महात्माओंका तिरस्कार किया करते हैं ।

९४३—जैसे मुसाफिर राह चळते, रास्तेमें किसी एक जगहपर मिळ जाते हैं, फिर थोड़ी देर विश्राम करनेके बाद अपनी-अपनी राह चले जाते हैं, यही हाल हमारे सासारिक सम्बन्धोंका है। पहले प्रारब्धवश दो आदमी मिळते हैं, फिर प्रारब्धवश ही दोनों बिछुड़ जाते हैं। जो मनुष्य सासारिक सम्बन्धोंके इस मिथ्या रूपको अच्छी तरह समझ लेता है, उसे कोई दुःख नहीं सता सकता।

९४४—सम्पूर्ण भूत परमात्मासे ही उत्पन्न होते हैं, अतएव ये सब ब्रह्म ही हैं। ऐसा निश्चय करना चाहिये।

९४५—प्रेम-प्रेम सब चिछाते हैं, पर प्रेमको पहचानता कोई नहीं। जब आठों पहर तल्लीनता रहे, तभी प्रेम समझना चाहिये।

९४६—कवियोंने संतोंके हृदयको नवनीत-जैसा बतलाया है। परंतु उन्होंने भूल की; क्योंकि नवनीत अपने तापसे ही पिघल जाता है, पर सत तो दूसरोंके दुःखसे द्रवित होते हैं।

९४७—रातको पहले पहर सब जागते हैं, दूसरे पहर भोगी जागते हैं, तीसरे पहर चोर जागते हैं और चौथे पहर योगी जागते हैं।

९४८—पण्डित तो वह है जिसके प्रेम-चक्षु खुल गये हैं, जो ज्ञान और प्रेमके आवेशमें पशु, वनस्पति और पाषाणतकमें अपने ठाकुरको देखता और पूजता है।

९४९—लोग भला कहें या बुरा, उनकी बातोंपर ध्यान नहीं देना चाहिये। संसारके यश और निन्दाकी कोई परवा न करके ईश्वर-पथमें चलना चाहिये।

९५०—जैसे नमक और कपूर एक ही रंगके होते हैं, पर स्वादमें फर्क होता है, इसी प्रकार मनुष्योंमें भी पापी और पुण्यात्मा होते हैं ।

९५१—ससारमें वैसे ही रहो जैसे मुँहमें जीभ रहती है, जीभ कितना ही घी खा ले, परंतु चिकनी नहीं होती ।

९५२—जो दुखियोंपर दया करता है, धर्ममें मन रखता है, धरसे वैराग्यवान् होता है और दूसरोंका दुःख अपना-सा जानता है, उसीको अविनाशी भगवान् मिळते हैं ।

९५३—जिसने युद्धमें लाखों आदमियोंको जीत लिया वही असली विजयी नहीं है, वास्तविक विजयी तो वह है जिसने अपने आपको जीत लिया है ।

९५४—मनुष्योंके द्वारा जितना व्यवहार होता है, सब ब्रह्मकी सत्तासे होता है, किंतु अज्ञानवश वे इस बातको नहीं जानते । वास्तवमें बड़ा आदि सब मिट्टी ही तो हैं । पर हम घड़ेको मिट्टीसे भिन्न समझते हैं । यही तो अज्ञान है ।

९५५—बार-बार दुःख पानेपर भी मनुष्य विषयोंसे सुख पानेकी आशाको छोड़ता नहीं और बार-बार उन्हींको पकड़ता है । यही तो मोहकी महिमा है ।

९५६—जो मनुष्य अपनी वर्तमान स्थितिपर भली-भाँति विचार नहीं करता और इस विचारसे कि अन्तमें मुक्ति हो ही जायगी, पुरुषार्थकी ओर कोई ध्यान नहीं देता, वह मृत्युके अनिवार्य चक्रसे कभी नहीं बच सकता ।

९५७—अगर अपने भीतर और बाहर प्रकाश चाहते हो तो जीभरूप देहलीद्वारपर रामनामरूपी मणि-दीपकको रख दो—अर्थात् जीभसे रामनाम जपते रहनेसे बाहर-भीतर ज्ञानका प्रकाश हो जायगा ।

९५८—गाफ़िळके लिये साईका घर दूर है, परंतु जो बंदा उनकी हाजिरीमें सदा मौजूद है, उसके लिये तो साई हाजिराहज़र हैं ।

९५९—जिसके आचरणमें वैराग्य उतर आया हो वही सच्चा विरागी है । वाणीका वैराग्य सच्चा वैराग्य नहीं है ।

९६०—भगवान्का साकार रूप भी सत्य है और निराकार भी सत्य है । तुम्हें जो अच्छा लगे, उसीमें विश्वास कर, तुम उसे पुकारो तो तुम उसी एकको पाओगे । मिसरीकी डली चाहे जिस ओरसे, चाहे जिस ढगसे तोड़कर खाओ, वह मीठी लगेगी ही ।

९६१—उस विश्वासको लाओ जो भुवमें, प्रह्लादमें और नामदेवमें आया था । इसी विश्वासकी बदौलत सम्पूर्ण शङ्का, संदेह और झगड़े दूर हो जाते हैं ।

९६२—कामातुर मनुष्य ही कंगाल है । जो सदा संतुष्ट है, वह यथार्थ धनी है । इन्द्रियाँ ही मनुष्यत्वकी शत्रु हैं । विषयोंका अनुराग ही बन्धन है । संसार ही मनुष्यका चिररोग है । संसारसे निर्लिप्त होकर रहना ही इसकी एकमात्र दवा है ।

९६३—जैसे स्त्री नैहरमें रहती है, परंतु उसकी सुरति पतिमें लगी रहती है । इसी प्रकार भक्त जगत्में रहता है, परंतु वह हरिको कभी नहीं भूलता ।

९६४—ऊँची जातिका अहंकार कोई मत करो । साहेबके दरबारमें केवल भक्ति ही प्यारी है ।

९६५—पृथ्वीकी ओर देखकर पैर रखना, जलको कपड़ेसे छानकर पीना, वाणीको सत्यसे पवित्र करके बोलना और मनमें विचार करनेपर जो उत्तम प्रतीत हो, वही करना ।

९६६—मनको सन्मार्गपर ले जानेका पहला साधन 'सत्य' है, दूसरा 'ससारसे उपरामता' है, तीसरा 'अचारणकी उच्चता और पवित्रता' है और चौथा 'अपने अपराधोंके लिये प्रभुसे क्षमाकी प्रार्थना करना' है ।

९६७—कभी चरित्रसे पतित न होना चाहिये । गिरनेमें गौरव नहीं है । पतितावस्थासे पुनः-पुनः उठकर खड़े होओ, इसीमें परम गौरव है ।

९६८—जिस प्रकार दवाके बिना बीमारीको सहन करना कठिन है, उसी प्रकार ज्ञानके बिना सांसारिक प्रभुताको संभालना दुस्साध्य है । मनुष्य चारों ओर अज्ञानसे घिरा हुआ है, इसलिये वह भोग-लिप्साके पीछे पड़ जाता है ।

९६९—किसी चीजसे भी न चिढ़ो । काम उसी निर्लिप्त भावसे करो, जिस तरह वैद्यलोग अपने रोगियोंकी चिकित्सा करते हैं और रोगको अपने पास नहीं फटकने देते । सब उलझनोंसे मुक्त अथवा साक्षीकी भावनासे काम करो । स्वतन्त्र रहो ।

९७०—जब देहमेंसे श्वास निकल जायगा तब पछतायगा । इसलिये जबतक शरीरमें श्वास है, तभीतक रामका स्मरण करके उनका गुण गा ले ।

९७१—क्षणमात्रको प्राप्त होनेवाले थोड़े-से जीभके स्वादके लिये जीर्णोंकी हत्या करनी बड़ी ही नृशंसता है । भगवान्‌के

भेदोंसे भरे हुए अपने पेटको जानवरोंकी कब्र बनाना उसका निरादर करना है। एक चींटीको भी न सताओ; क्योंकि वह भी जीवधारी है और अपना जीव हर एकको प्यारा है।

९७२—अगर तेरे घटमें प्रेम है तो उसका ढिंढोरा न पीट। तेरे हृदयके भावको अन्तर्यामी जानते ही हैं।

९७३—रे मन ! तू बड़ा ही कठोर है, मेरे अंदरसे तू निकल क्यों नहीं जाता ? उस सुन्दर, सौंदर्य, सलोने रूप बिना तू रात-दिन कैसे जीता है ?

९७४—तीन चीजें हैं, जिनको जितना बढ़ाओगे, उतनी ही बढ़ती रहेंगी, इनसे सावधान रहो—भूख, नींद और मय।

९७५—भगवान्की अनन्य भक्तिसे मनुष्य सर्वजनोंके महेश्वर, समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले, वेदोंको उत्पन्न करनेवाले परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है।

९७६—मेरे सद्गुण मेरे साथ कभी बीमार नहीं पड़ते। इसी प्रकार वे मेरी कब्रमें भी मेरे साथ नहीं गड़ सकते।

९७७—जो मनुष्य मानव-जीवनका मूल्य नहीं समझता, वह दुखी और साधु पुरुषोंकी सेवासे मिलनेवाले माधुर्यका अनुमान नहीं कर सकता।

९७८—ईश्वरपर अपनी मर्जी मत चलाओ। शारीरिक आवश्यकताओंके सम्बन्धमें ईश्वरकी इच्छाको पूर्ण होने दो। सांसारिक आवश्यकताओंमें ईश्वरकी मर्जीको ही अपनी मर्जी बना लो।

९७९—जो मनुष्य अपने सुखके लिये किसी भी प्राणीको मारता है, वह जीते हुए और मरनेपर कहीं भी सुख नहीं पाता।

९८०—चारों अवस्थाओंको व्यर्थ खो दिया, श्रीहरिका नाम नहीं लिया । जब शरीर छूट जायगा, तब यमराजके यहाँ यमकी यातनाएँ सहनी पड़ेंगी । फिर पछतानेसे कुछ नहीं होगा ।

९८१—जिसने प्रेमका नियम नहीं लिया, जिसने कामको नहीं जीता और जिसने नेत्रोंसे अछखपुरुष भगवान्‌के दर्शन नहीं किये, उसका जीवन व्यर्थ है ।

९८२—बुद्धिमान् मित्र, विद्वान् पुत्र, पतिव्रता स्त्री, दयालु मालिक, सोच-विचारकर बोलनेवाला और विचारकर काम करने-वाला—इन छःसे हानि नहीं हो सकती ।

९८३—जो श्रीहरिके प्रेम-रसमें मतवाले हो रहे हैं, उनका विचार बहुत गहरा है । ऐसे साधु त्रिभुवनकी सम्पत्तिको तृणके समान समझते हैं ।

९८४—निरन्तर भगवत्‌तत्त्वका चिन्तन करो, नश्वर धनका चिन्तन छोड़ो । देखो, सारा संसार व्याधिरूप सर्पसे डसा जा रहा है और सब लोग शोकसे पीड़ित हो रहे हैं ।

९८५—दान, पश्चात्ताप, संतोष, संयम, दीनता, सत्य और दया—ये सात वैकुण्ठके दरवाजे हैं ।

९८६—भगवत्‌भजनमें दूसरोंकी निन्दा करना तथा भक्तोंके प्रति द्वेषभाव रखना महान् पाप है । जो अभक्त हैं, उनकी उपेक्षा करो, उनके सम्बन्धमें कुछ सोचो ही नहीं, उनसे अपना सम्बन्ध ही मत रखो । जो भगवद्भक्त हैं, उनकी चरणरजको सदा अपने सिरका आभूषण समझो । उसे अपने शरीरका सुन्दर सुगन्धित अङ्ग-राग समझकर सदा भक्तिपूर्वक शरीरमें मला करो ।

९८७—तपसे सब प्रकारके संताप नष्ट होते हैं, तपसे सभी दुःख, भय, शोक और मनका क्षोभ आदि विकार दूर होते हैं, तपस्वी भक्त ही यथार्थमें भगवन्नामका अधिकारी है ।

९८८—धर्मका निवास कहीं दूर नहीं है, धर्म सदा अपने ढूँढ़नेवालेके बगलमें ही बसता है । जिसने एक बार भी धर्मके लिये चेष्टा की, उसीको धर्म मिल जाता है । सज्जनोंको दूसरोंके दोषोंमें भी धर्मके दर्शन होते हैं ।

९८९—विवेकरहित वैराग्य हठवादिताका पागलपन है और केवल शाब्दिक ज्ञानसे तो मनुष्य स्वयं ही घबडा उठता है । इसलिये जिसमें विवेक और वैराग्य दोनों हैं, वही पुरुष भाग्यवान् साधु है ।

९९०—श्रद्धालु मनुष्यका हृदय ईश्वरका गुणानुवाद गाने और सुननेसे अत्यन्त पवित्र हो जाता है, भगवच्चर्चा ही उसका अन्न है, प्रभु-प्रेम उसकी शान्ति है, हरिका स्थान ही उसकी दूकान है, भजन-कीर्तन उसका व्यापार है, धर्मग्रन्थ उसकी सम्पत्ति है, भूलोक उसका खेत है, परलोक उसका खलियान है और प्रभु-प्राप्ति ही उसके परिश्रमका फल है ।

९९१—‘चलो-चलो’की पुकार तो सभी मचाते हैं, परंतु पहुँचता कोई बिरल ही है, क्योंकि इस मार्गमें ‘कनक’ और ‘कामिनी’की दो बड़ी घाटियाँ हैं ।

९९२—किसीके मनमें सच्चा प्रेम पैदा हो और वह साधन-भजन करनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो जाय तो उसे मार्ग बतलानेवाले सद्गुरु आप ही मिल जाते हैं, उसे गुरुकी खोज नहीं करनी पड़ती ।

- (२) मनकी बहुत-सी आशाएँ अधूरी ही रह गयीं और
 (३) परलोकके लिये कुछ साथ न ले चले ।

१००७—ज्ञानरूप अग्निके द्वारा सब कर्मोंका नाश हो जानेके कारण मनुष्य बिना किसी प्रतिबन्धके मुक्त हो जाता है ।

१००८—सबसे प्रेम बढ़ाइये, 'मेरे द्वारा दूसरेका कैसे हित हो'—निरन्तर यही बात सोचते रहिये और यथाशक्ति सबकी सेवा-सहायता कीजिये ।

१००९—यदि कोई कमजोर मनुष्य प्रभुके कार्यमें लग जाता है तो उसको भी अन्तमें प्रभुका बल मिल ही जाता है । इसी प्रकार यदि कोई बलवान् पुरुष लौकिक स्वार्थोंमें ही लगा रहता है तो अन्तमें उसे बलहीन तथा लाञ्छित होना पड़ता है ।

१०१०—जो मूढ़ लोग बाहरकी कामनाओंमें लगे रहते हैं, वे विषयासक्त पुरुष आधि-व्याधिरूपसे फैले हुए मृत्युके पाशमें बँधते हैं । इसलिये धीरे पुरुष नित्य अमृतत्वको जानकर अनित्य वस्तुओंकी इच्छा नहीं करते ।

१०११—शान्तस्वभाव रहो, किसीके द्वारा अपनेपर कैसा भी लाञ्छन लगाये जानेपर भी अपने मनको मत बिगाड़ो ।

१०१२—जो लोभी विषयोंकी आशाओंके दास बने हुए हैं, वे तो सभीके गुलाम हैं । जिन्होंने भगवान्में विश्वास करके आशाको जीत लिया है, वे ही भगवान्के सच्चे सेवक हैं ।

१०१३—बाहरी खाँगमें और सच्चे साधुमें उतना ही अन्तर है जितना पृथ्वी और आकाशमें । साधुका मन राममें लगा रहता है और खाँगधारीका जगत्के विषयोंमें ।

१०१४—जो फलके लिये भगवान्की सेवा करते हैं और मनसे कामनाका त्याग नहीं करते, वे चीजका चौगुना दाम चाहनेवाले लोग सेवक नहीं हैं ।

१०१५—जिसका मन परमात्मामें रहता है, परमात्मा उसकी सँभाल रखते हैं ।

१०१६—मनुष्य जब किसी उत्तम कार्यमें लग जाता है, तब उसके नीची श्रेणीके कार्य दूसरे लोग आप ही सँभाल लेते हैं । इसी प्रकार ज्यों-ज्यों अपने ध्येयकी ओर आगे बढ़त है, त्यों-ही-त्यों उसके सांसारिक और शारीरिक कार्य कुदरतके नियमसे उल्टे अच्छी तरह होने लगते हैं ।

१०१७—जिस विद्यासे लोग जीवन-संग्राममें शक्तिमान् नहीं होते, जिस विद्यासे मनुष्यके चरित्रका विकास नहीं होता और जिस विद्यासे मनुष्य परोपकार-प्रेमी और पराक्रमी नहीं बनता, उसका नाम विद्या नहीं है ।

१०१८—बदला लेनेका ख्याल छोड़कर क्षमा करना अन्धकारसे प्रकाशमें आना है और जीते-ही-जी नरककी जगह स्वर्गका सुख भोगना है ।

१०१९—असली सत्त्वगुणी भक्त लोग रातको मशहरीमें पड़े-पड़े ध्यान किया करते हैं । लोग समझते हैं कि वे सोते हैं, परंतु जिस समय सब लोग सोते हैं, उस समय वे परलोकका काम बनाया करते । वे बाहरका दिखावा बिल्कुल ही पसंद नहीं करते ।

१०२०—इस जगत्में करोड़ों आदमी प्रभुके उपासक कहलाते हैं, परंतु सच्चे उपासक कौन हैं तथा प्रभु किनके साथ

९९३—बहुत अधिक बोलनेसे व्यर्थ और असंख्य शब्द निकल जाते हैं । इसलिये कर्मक्षेत्रमें जितना कम बोलनेसे काम चले, उतना ही कम बोलना चाहिये ।

९९४—केवल मुँहसे ही ज्ञान बघारनेवाला पण्डित नहीं है, वह तो ठग है । पण्डित तो वही है जो ज्ञानके अनुसार बर्ताव करता है यानी जो कुछ कहता है वही करता है ।

९९५—जो पीछे बीत चुका या आगे होनेवाला है, उसकी चिन्ता न करो । लेकिन जो समय तुम्हारे हाथमें है, उसे अच्छे-से-अच्छे कार्यमें लगाओ ।

९९६—जो इस प्रकार जानता है कि यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर और अभय है, वह निश्चय ब्रह्म ही हो जाता है ।

९९७—तप करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, दान देनेसे ऐश्वर्य मिलते हैं, ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और तीर्थस्नानसे पाप नष्ट होते हैं ।

९९८—भगवान्‌के पवित्र, सुन्दर और मनोहर नामोंका तथा उनके अर्थोंका ज्ञान और उनकी अलौकिक लीलाओंका लज्जा छोड़कर कीर्तन करते हुए श्रेष्ठ भक्तको आसक्तिरहित होकर पृथ्वीपर विचरण करना चाहिये ।

९९९—क्रोध मनुष्यका बड़ा भारी वैरी है, लोभ अनन्त रोग है, सव प्राणियोंका हित करना साधुता है और निर्दयता ही असाधुपन है ।

१०००—जो चेतनको जड़ और जड़को चैतन्य कर सकते हैं ऐसे समर्थ श्रीरघुनाथजीको जो जीव भजते हैं, वे ही धन्य हैं ।

१००१—भगवान्‌का भजन-ध्यान करनेवाला मनुष्य उनको कृपासे परमानन्द और शान्तिको प्राप्त कर ले इसमें तो आश्चर्य ही क्या है, भगवान्‌के भक्तोंका आश्रय ग्रहण करके उनके वचनोंके अनुसार चलनेवाला अतिशय मूढ़ पुरुष भी दुःखोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

१००२—सदा याद करते रहनेकी तो एक ही वस्तु है । सदा-सर्वदा सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामोंके ही स्मरणसे प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है । सदा उसीका स्मरण करते रहना चाहिये ।

१००३—मनमें कामना रखकर भजन करनेसे सिर्फ उसका फल मिलता है, परंतु निष्काम भजनसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है । सांसारिक फल तो मनुष्यको भगवान्‌से दूर करता है, इसलिये निष्कामभावसे भगवान्‌का भजन करना ही श्रेष्ठ है ।

१००४—जबतक यह शरीर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जबतक आयु शेष नहीं हुई है, तभीतक परमात्माको पानेके लिये उपाय कर लो । जो मनुष्य यह सोचकर चुपचाप बैठा रहता है कि घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदेंगे, उसे जैसे जलना ही पड़ता है; यही दशा तुम्हारी होगी ।

१००५—भगवान्‌का नाम ही भव-रोगकी दवा है । अच्छा न लगनेपर भी नाम-कीर्तन करते रहना चाहिये, करते-करते क्रमशः नाममें रुचि हो जायगी ।

१००६—विषयी पुरुष नीचे लिखी तीन बातोंके लिये अफसोस करते हुए मरते हैं—(१) इन्द्रियोंके भोगोंसे तृप्ति नहीं हुई,

- (२) मनकी बहुत-सी आशाएँ अधूरी ही रह गयीं और
(३) परलोकके लिये कुछ साथ न ले चले ।

१००७—ज्ञानरूप अग्निके द्वारा सब कर्मोंका नाश हो जानेके कारण मनुष्य बिना किसी प्रतिबन्धके मुक्त हो जाता है ।

१००८—सबसे प्रेम बढ़ाइये, 'मेरे द्वारा दूसरेका कैसे हित हो'—निरन्तर यही बात सोचते रहिये और यथाशक्ति सबकी सेवा-सहायता कीजिये ।

१००९—यदि कोई कमजोर मनुष्य प्रभुके कार्यमें लग जाता है तो उसको भी अन्तमें प्रभुका बल मिल ही जाता है । इसी प्रकार यदि कोई बलवान् पुरुष लौकिक स्वार्थोंमें ही लगा रहता है तो अन्तमें उसे बलहीन तथा लाञ्छित होना पड़ता है ।

१०१०—जो मूढ़ लोग बाहरकी कामनाओंमें लगे रहते हैं, वे विषयासक्त पुरुष आधि-व्याधिरूपसे फैले हुए मृत्युके पाशमें बँधते हैं । इसलिये धीर पुरुष नित्य अमृतत्वको जानकर अनित्य वस्तुओंकी इच्छा नहीं करते ।

१०११—शान्तस्वभाव रहो, किसीके द्वाग अपनेपर कैसा भी लाञ्छन लगाये जानेपर भी अपने मनको मत बिगाडो ।

१०१२—जो लोभी विषयोंकी आशाओंके दास बने हुए हैं, वे तो सभीके गुलाम हैं । जिन्होंने भगवान्में विश्वास करके आशाको जीत लिया है, वे ही भगवान्के सच्चे सेवक हैं ।

१०१३—बाहरी स्वाँगमें और सच्चे साधुमें उतना ही अन्तर है जितना पृथ्वी और आकाशमें । साधुका मन राममें लगा रहता है और स्वाँगधारीका जगत्के विषयोंमें ।

१०१४—जो फलके लिये भगवान्की सेवा करते हैं और मनसे कामनाका त्याग नहीं करते, वे चीजका चौगुना दाम चाहनेवाले लोग सेवक नहीं हैं ।

१०१५—जिसका मन परमात्मामें रहता है, परमात्मा उसकी सँभाल रखते हैं ।

१०१६—मनुष्य जब किसी उत्तम कार्यमें लग जाता है, तब उसके नीची श्रेणीके कार्य दूसरे लोग आप ही सँभाल लेते हैं । इसी प्रकार ज्यों-ज्यों अपने ध्येयकी ओर आगे बढ़त है, त्यों-ही-त्यों उसके सांसारिक और शारीरिक कार्य कुदरतके नियमसे उल्टे अच्छी तरह होने लगते हैं ।

१०१७—जिस विद्यासे लोग जीवन-संग्राममें शक्तिमान् नहीं होते, जिस विद्यासे मनुष्यके चरित्रका विकास नहीं होता और जिस विद्यासे मनुष्य परोपकार-प्रेमी और पराक्रमी नहीं बनता, उसका नाम विद्या नहीं है ।

१०१८—बदला लेनेका ख्याल छोड़कर क्षमा करना अन्धकारसे प्रकाशमें आना है और जीते-ही-जी नरककी जगह स्वर्गका सुख भोगना है ।

१०१९—असली सत्त्वगुणी भक्त लोग रातको मशहरीमें पड़े-पड़े ध्यान किया करते हैं । लोग समझते हैं कि वे सोते हैं, परंतु जिस समय सब लोग सोते हैं, उस समय वे परलोकका काम बनाया करते । वे बाहरका दिखावा बिल्कुल ही पसंद नहीं करते ।

१०२०—इस जगत्में करोड़ों आदमी प्रभुके उपासक कहलाते हैं; परंतु सच्चे उपासक कौन हैं तथा प्रभु किनके साथ

हैं : जो ईश्वरसे डरकर चलते हैं तथा अपने-स्वार्थका नाश करके भी दूसरोंका हित करते हैं, वे ही सच्चे उपासक हैं और भगवान् भी उन्हींके साथ हैं ।

१०२१—मान-वड़ाई अथवा प्रतिष्ठाकी इच्छा करना मृत्युकी इच्छा करनेके समान है । अच्छे-अच्छे पुरुष भी इसमें फँसकर साधनसे च्युत हो जाते हैं । प्राण चाहे छूट जायँ; परंतु प्राणप्रियतम परम प्रेमास्पद प्रभुकी स्मृति एक क्षणके लिये भी हृदयसे न हटे ।

१०२२—जगत्की प्रभुता कैसी है जैसे सपनेमें मिला हुआ पराया खजाना । जागनेपर जैसे उस खजानेका कुछ भी नहीं रहता, वैसे ही जगत्की प्रभुता भी वास्तवमें कुछ भी नहीं है ।

१०२३—जैसे एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काठोंमें प्रवेश करके अनेक प्रकारके रूपवाला हो जाता है, इसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका हो जाता है ।

१०२४—अहंकारके कारण ही आत्माको 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि होती है और इसीके कारण यह सुख-दुःखादि देनेवाले जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त होता है ।

१०२५—यदि कोई पिता या पुत्र मर जाता है तो मूढ़ लोग ही उसके लिये छाती पीटकर रोया करते हैं । ज्ञानियोंके लिये तो इस असार संसारमें किसीका वियोग होना वैराग्यका कारण होता है और वह सुख-शान्तिका विस्तार करता है ।

१०२६—कछुएकी पीठपर चाहे बाल उग जायँ, वन्ध्याका पुत्र किसीको मार डाले, आकाशमें फूल फूल जायँ, मृग-जलसे

प्यास मिट जाय, खरगोशके सींग आ जायँ, अन्धकार सूर्यका नाश कर दे और बर्फमें अग्नि प्रकट हो जाय; परतु रामसे विमुख मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता ।

१०२७—ज्ञानीकी बुद्धिमें फल और हेतुसे आत्माकी पृथक्ता प्रत्यक्ष है, इसलिये उसके मनमें अनात्म-पदार्थोंमें 'मैं यह हूँ' ऐसा आत्मभाव नहीं हो सकता ।

१०२८—गोविन्द-विरहमें मेरा निमेषकाल भी युगके समान बीतता है । मेरी आँखोंने वर्षा-ऋतुका रूप धारण किया है और समस्त जगत् मुझे शून्य-सा प्रतीत होता है ।

१०२९—प्रभुको प्राप्त करनेका पहला साधन है—प्रभुको प्राप्त करनेका निश्चय । यह निश्चय होनेपर ही इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है, कुविचार क्षीण हो जाते हैं और उच्च अवस्था प्राप्त हो जाती है ।

१०३०—अरी बुद्धि चकवी ! तू भगवान्‌के चरण-सरोवरमें जा बस, जहाँ न तो कभी प्रेम-वियोग होगा और न रोग, दुःख या शोक ही हैं तथा रात-दिन 'राम-राम' की वर्षा हो रही है ।

१०३१—कल करना हो सो आज ही कर लो और जो आज करना हो, उसे अभी कर लो, पलमें मृत्यु हो जायगी, फिर कब करोगे । लोग कैसे वावले हैं जो झूठे सुखको सुख कहते हैं और मनमें मोद मानते हैं । अरे ! यह जगत् तो कालका चबेना है, कोई कालके मुखमें है तो कोई हाथमें ।

१०३२—जगत्‌का जीवन पानीके बुल्लेके समान है, एक उठता है तो दूसरा बिला जाता है ।

१०३३—कामवासना जाग्रत् होनेपर नामकी धुन लगा देनी चाहिये । जोर-जोरसे कीर्तन करने लगना चाहिये । कामवासना नाम-जप तथा नाम-कीर्तनके सामने कभी ठहर नहीं सकती ।

१०३४—परमात्मदेवको जान लेनेपर सारे बन्धनोंका नाश हो जाता है । क्लेशोंके क्षीण हो जानेसे जन्म-मृत्युका अभाव हो जाता है । परमात्माका ध्यान करनेसे तीनों देहोंका भेदन हो जाता है और वह केवल आत्मकाम विश्वके ऐश्वर्यको प्राप्त होता है ।

१०३५—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन इन्द्रियोंके विषयोंमें कामनासे प्रवृत्त नहीं होना चाहिये और मनसे उनके विरुद्ध भावना करके यानी विषय मिथ्या हैं और परिणाममें नरकोंमें ले जानेवाले हैं, ऐसा विचार करके उनके अति प्रसंगको छोड़ देना चाहिये ।

१०३६—यह समस्त विश्व भगवान्‌का ही विस्तृत रूप है । अतएव बुद्धिमानोंको चाहिये कि सबको अभेद-दृष्टिसे अपने ही समान देखें ।

१०३७—रागके समान संसारमें दुःखका अन्य कोई कारण नहीं है, राग ही सबसे बढकर दुःख देनेवाला है और त्यागके समान कोई सुखदाता नहीं है ।

१०३८—साधुओंके सङ्गसे श्रीभगवान्‌के पराक्रमका यथार्थ ज्ञान करानेवाली, हृदय और कानोंको सुख देनेवाली कथाएँ सुननेको मिलती हैं, उन कथाओंसे मोक्षरूप भगवान्‌में श्रद्धा होती है, श्रद्धासे रति और रतिसे भगवान्‌में भक्ति होती है ।

१०३९—बुद्धिमान्‌ धीर पुरुषोंको चाहिये कि और सब कर्मोंको छोड़कर आत्माके विचारमें तत्पर रहकर संसार-बन्धनसे छूटनेका यत्न करें ।

१०४०—धन चुराया गया, रोता क्यों है ? क्या चोर ले गये ? रो अपनी इस समझपर । प्यारे ! लेने-ले जानेवाला दूसरा कोई नहीं है, वह एक ही है जो नये-नये बहानोंसे तेरा दिल लिया चाहता है । गोपियोंके इससे बढकर और क्या भाग्य होंगे कि श्रीकृष्ण उनका मक्खन चुरावें । धन्य है वह, जिसका सब कुछ चुरा लिया जाय । मन और चित्ततक भी बाकी न रहे ।

१०४१—अहंकार करना व्यर्थ है । जीवन, यौवन, कुछ भी यहाँ नहीं रहेगा । सब तीन दिनोंका सपना है ।

१०४२—हे प्रभो ! तेरे सामने हाथ जोड़कर सच्चे हृदयसे इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि, मैं माँगूँ या न माँगूँ, मुझे ऐसी कोई चीज कभी न देना जो मुझे अच्छी लगनेपर भी मेरा बुरा करनेवाली हो और मेरी बुद्धिको कुमार्गपर ले जानेवाली हो ।

१०४३—समस्त अनैक्यमें ऐक्यको उपलब्ध करना और सारी विभिन्नताओंमें एक अभिन्न सद्वस्तुको हृदयमें धारण करना ही भारतीय साधनाका अन्तिम लक्ष्य है ।

१०४४—जिस प्रकार पारसके स्पर्श होते ही लोहा सोना हो जाता है, समुद्रमें बूँद गिरते ही उसमें मिल जाती है और गङ्गामें कोई नदी मिलते ही वह गङ्गा हो जाती है, उसी प्रकार सावधान, उद्योगी और दक्ष पुरुष संतोंकी संगति करते ही मोक्षको पा जाता है ।

१०४५—जिज्ञासु पुरुषको चाहिये कि वह समस्त इन्द्रियोंको मनमें लय करे, मनको व्यष्टि-बुद्धिमें लय करे, व्यष्टि-बुद्धिको महत् यानी समष्टि-बुद्धिमें लय करे और समष्टि-बुद्धिको शान्त आत्मामें लय करे ।

१०४६—जो मनुष्य दूसरोंकी आजीविकाका नाश करते हैं, दूसरोंके घर उजाड़ते हैं, दूसरेकी स्त्रीका उसके पतिसे बिछोड़ कराते हैं, मित्रोंमें भेद उत्पन्न करते हैं, वे अवश्य ही नरकमें जाते हैं ।

१०४७—पुत्र, स्त्री, मित्र, भाई और सम्बन्धियोंके मिलनेको मुसाफिरोके मिलनेके समान समझना चाहिये ।

१०४८—जैसे नींद छूटनेके साथ ही स्वप्नका भी नाश हो जाता है वैसे ही इस देहके नाश होनेके साथ ही सब सम्बन्धी भी छूट जाते हैं ।

१०४९—वे सत्यके उपासक महात्मा मुनि धन्य हैं, जिन्हें न किसीसे राग है और न किसीसे द्वेष है, जो सभी प्राणियोंमें समान भाव रखकर सबको समदृष्टिसे देखते हैं ।

१०५०—जिसका मन विषयोंमें नहीं है, जिसका मन निर्मल है, जिसकी इन्द्रियों विकारको प्राप्त नहीं होती, उसीका नाम वैष्णव है ।

१०५१—अपनी स्त्रीके सिवा अन्य किसी स्त्रीसे सम्बन्ध न रखे । किसी भी स्त्रीको अपने पास सहसा न रहने दे । अपनी स्त्रीसे भी उचित ही सम्बन्ध रखे और चित्तको कभी आसक्त न होने दे ।

१०५२—धान जवतक सीजता नहीं तभीतक उग सकता है, लेकिन एक बार भी सीज जानेपर वह नहीं उगता, ऐसे ही जीव एक बार ज्ञानाग्निमें पक गया तो फिर उसे जन्म लेना नहीं पड़ता । जवतक अज्ञान है तभीतक आना-जाना है ।

१०५३—जब विवेकके द्वारा मनकी सारी उपाधियाँ छूट जाती हैं । वैराग्यके उत्पन्न हो जानेसे गृहस्थीका बखेड़ा छूट जाता है, तब नुष्य अंदर और बाहर दोनों ओरसे मुक्त होकर योगी हो जाता है ।

१०५४—जिस क्षण भगवन्नामका स्मरण न हो, वही सबसे बड़ा दुःख है और भगवन्नामका स्मरण होता रहे तो शरीरको चाहे कितना भी क्लेश हो उसे परम सुख ही समझना चाहिये ।

१०५५—तुम्हारे सब सांसारिक बन्धन और सम्बन्ध तुम्हें विन्ता और दुर्भाग्यके वशमें डालते हैं । उनसे ऊपर उठो । ईश्वरसे अपनी एकताका अनुभव करो, वस तुम्हारा निस्तार है । तुम स्वयं मोक्षरूप हो ।

१०५६—जिस मनुष्यमें ईश्वरका स्मरण करनेकी शक्ति हो उसको गरीब या दीन न समझकर महान् धनवान् समझो । और जिसके पास यह ऊँची-से-ऊँची और बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति नहीं है, वह चाहे बड़ा भारी बादशाह हो; परतु असलमें वही गरीब और अनाथ है ।

१०५७—पिता-माता ईश्वरके प्रतिनिधिरूप हैं, साक्षात् प्रत्यक्ष देवता हैं । पिता-मातामें परमात्मसत्ताकी स्फूर्तिके दर्शन कर गाढ़ भक्तिभावसे इनकी सेवा करते रहनेसे भी निश्चय ही मनुष्यको सिद्धि मिल जाती है ।

१०५८—जिनको दूसरोंकी निन्दा करनेमें रस आता है, वे मित्र बनानेकी मीठी कला नहीं जानते । वे फूटका बीज बोकर अपने पुराने मित्रोंको दूर हटा देते हैं ।

१०५९—परमात्मा निश्चय ही हमें सुख देते हैं । यदि हमारे पीछे पाप न लगे तो हमारे सामने सदा कल्याण ही होता रहे ।

१०६०—महर्षियोंने प्रतिष्ठाको शूकरी-विष्ठाके समान अत्यन्त हेय बतलाया है, अतएव त्यागीको सदा कीटकी तरह प्रणिष्ठाहीन होकर विचरण करना चाहिये ।

१०६१—सब इन्द्रियोमेंसे यदि एक भी इन्द्रिय विचलित हो जाती है तो उससे इस मनुष्यकी बुद्धि ऐसे चली जाती है जैसे मशकमें जरा-सा छेद होनेपर तमाम जल निकल जाता है ।

१०६२—चैतन्यरूप वस्त्रसे युक्त महाभाग्यवान् पुरुष वस्त्रहीन, वस्त्रयुक्त अथवा मृगचर्मादि धारणकर उन्मत्तके समान, बालकके समान अथवा पिशाचादिके समान स्वेच्छानुसार भ्रमण्डलमें विचरते रहते हैं ।

१०६३—भगवान्की भक्ति करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है । उन्हींकी भक्ति करके परम शान्तिको प्राप्त करो ।

१०६४—मेधावी और बहुश्रुत सत्पुरुषोंका संग करो, क्योंकि जो महापुरुषोंकी शरण लेता है, वह उसको जानकर सुखे प्राप्त करता है ।

१०६५—जब एक रामकी ही शरण लेनेसे स्वार्थ और परमार्थ सहजमें ही सिद्ध हो जाते हैं, तब दूसरेके द्वारपर जाकर अपनी हीनता दिखलाना उचित नहीं ।

१०६६—मनुष्य ! उस दिनको याद रख जिस दिन तेरी देह छूट जायगी और गङ्गातटपर जाकर जला दी जायगी, यहाँका न कुछ संग जायगा और न कोई सहायक होगा ।

१०६७—जो दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेमें चतुर होते हैं, वे समझते हैं कि हम इसी तरहसे भगवान्को भी धोखा दे सकेंगे; परंतु सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ भगवान्के सम्बन्धमें ऐसा सोचना उनका निरा पागल्पन है ।

१०६८—मूर्ख समझता है कि वह इन्द्रियोंके सुख छूटता है, किंतु वह यह नहीं जानता कि अखच्छ विचार या कार्यके लिये

बदलेमें उसकी जीवन-शक्ति ही बिक जाती अथवा नष्ट हो जाती है ।

१०६९—हृदयकी सरलता और निर्मलता ईश्वरीय ज्योति है, यह ज्योति ही ईश्वरका मार्ग दिखलाती है । प्रभुसे क्षमाकी आशा इन साधनोंकी ओर खींचती है, प्रभुका भय ही पापसे निवृत्त करता है और प्रभु-महिमाका स्मरण ही इस सत्यके मार्गपर आगे बढ़ाता है ।

१०७०—भगवान्‌के दास कहलाकर जगत्‌की आशा मत रखो । जब समर्थ स्वामीको प्राप्त कर लिया तब किसीके सामने दीन क्यों होते हो ?

१०७१—जगत्‌की किसी भी वस्तुका विश्लेषण करनेपर उसमें सत्ता, प्रकाश, आनन्द, नाम और रूप—ये पाँच चीजें मिलती हैं । इनमें पहली तीन चीजें ब्रह्मकी अपनी हैं और शेष दो जगत्‌की हैं । अतएव नाम-रूपसे मन हटाकर सच्चिदानन्दमें अनुराग कर ।

१०७२—जबतक परमात्माके यथार्थ स्वरूपकी पहचान नहीं होती तभीतक अविद्यारूप संसार और संसारी जीव भासते हैं, वास्तव-स्वरूपकी पहचान होते ही जीव-भाव और दृश्यभाव निवृत्त होकर एक परब्रह्मरूप ही दृष्टिगोचर होने लगता है ।

१०७३—शोक, मोह, दुःख, सुख और देहकी उत्पत्ति यह सब मायाके ही कार्य हैं और यह संसार भी स्वप्नके समान बुद्धिका विकार ही है । इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है ।

१०७४—विषय-वासनाके वशमें होकर सांसारिक बन्धनोंमें फँसना मानवधर्म नहीं है । स्त्री, धन, पुत्र, पशु, घर, भूमि, हाथी, खजाना—ये सभी नाशवान्, क्षणभङ्गुर और चलायमान हैं । इनमें ममता

रखना भूल है । एकमात्र भगवान्की भक्तिसे प्राप्त मोक्ष ही अक्षय और सर्वश्रेष्ठ है, अतएव सभी मनुष्योंको भगवद्भक्तिमें लग जाना चाहिये ।

१०७५—ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होगी, इसमें कोई सदेह नहीं, परंतु उस ज्ञानकी कद्र करनेवाला शुद्ध मन भी तो होना चाहिये । वैराग्यके बिना ज्ञान कभी नहीं छहर सकता ।

१०७६—भोजनमें जहर मिला हो और यह बात भोजन करनेवालेको मादम हो जाय तो वह तुरंत थाली छोड़कर उठ जायगा, इसी प्रकार संसारकी अनित्यता और दुःखरूपताका पता लगते ही मनुष्यको वैराग्य हो जाता है । फिर वैराग्य मनसे हटता ही नहीं ।

१०७७—मैंने संसारके सुख-दुःख, जीवन-मरण तथा जरा और रोग देख लिये हैं, उन्हींके चगुलसे बचनेके लिये मैंने संन्यास लिया है । क्या फिर भी मैं मूर्खोंकी तरह उनका स्वाद चखनेके लिये लौट सकता हूँ !

१०७८—भगवान्की खोज करना और राज्यपदकी इच्छा रखना—ये दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते । इनमें उतना ही विरोध है, जितना धूप और छायामे, आग और पानीमें । जो मनुष्य राज्यपद पाना चाहता है उसके लिये शान्तिकी इच्छा करना व्यर्थ है ।

१०७९—देहको चाहे जितना सुख-दुःख हो भक्त उसका खयाल नहीं करते, उनकी वृत्ति एकमात्र भगवद्भक्तिमें लगी रहती है, वे नित्य भक्तिके ऐश्वर्यमें सराबोर रहते हैं ।

१०८०—घरमे दीया जलानेसे वह झरोखेमे भी प्रकाशित है । वैसे ही भगवान् मनमें प्रकट होते ही अन्य इन्द्रियोंमें भी भजनानन्द उत्पन्न कर देते हैं ।

१०८१—जो किसी भी बहानेसे, हँसीमें, दुःखमें अथवा वैसे ही भगवान्‌के नामोंका उच्चारण कर लेता है उसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं ।

१०८२—सासारिक भोगोंके प्राप्त होनेपर जो उन्हें लेता ही नहीं, वह पूरा मनुष्य है । जो लेता है; परंतु लेकर सन्चे पात्रोंको दे देता है वह भी सन्चा है, पर वह आधा मनुष्य है, परंतु जो मनुष्य दान लेता है, पर किसीको देता नहीं, वह तो मक्खीचूस ही नहीं, मधुमक्षिका-जैसा भी नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेमें वह अपना कुछ भी हित या कल्याण नहीं करता ।

१०८३—जो मनुष्य परलोककी साधना न कर केवल ससारकी साधनामें ही लगा रहता है, वह इस लोक और परलोकमें दुःख और नुकसान ही प्राप्त करता है ।

१०८४—ज्ञान और प्रेम सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं है । किसी भी एक मार्गका अवलम्बन करो, लक्ष्यस्थलपर पहुँचते ही इस बातको तुरंत समझ सकोगे कि जिसको 'अपरोक्षज्ञान' या आत्म-दर्शन कहते हैं, सचमुच उसीका नाम 'प्रेम' है ।

१०८५—रक्त, मांस और हड्डियोंसे बने हुए यन्त्ररूप बहुतेरे मनुष्य केवल खा-पीकर जगत्‌के पदार्थोंको बिगाड़ रहे हैं, उनमें बुद्धिमान् मनुष्य बहुत ही दुर्लभ है । जो मोहके बश हुए बार-बार जन्म-मृत्यु और जरा रूप दुःखोंवाले संसारमें ही पड़ा करते हैं, कुछ भी विचार नहीं करते, उन्हें पशु ही समझना चाहिये ।

१०८६—जो अपने लिये या किसी दूसरेके लिये पुत्र, धन

और राज्य नहीं चाहते और न अधर्मसे ही अपनी उन्नति चाहते हैं वे ही पुरुष सदाचारी, प्रज्ञावान् और धार्मिक हैं ।

१०८७—गौ अपने गलेमें पड़ी हुई माछाके रहने या गिरनेकी तरफ जिस प्रकार कुछ भी ध्यान नहीं देती, इसी प्रकार प्रारब्धकी डोरीमें पिरोया हुआ यह शरीर रहे या जाय, जिसके चित्तकी वृत्ति आनन्दरूप ब्रह्ममें लीन हो गयी है, वह पुरुष फिर उसकी ओर देखता ही नहीं ।

१०८८—भगवान्के रूपका ध्यान करो, भगवन्नामसङ्कीर्तन करो, भगवान्के गुणानुवादका गायन करो, भगवान्की लीलाओंका परस्पर कथन और श्रवण करो ।

१०८९—हे भगवन् ! मेरे जीवनके शेष दिन किसी पवित्र वनमें 'शिव, शिव, शिव' जपते हुए बीतें । साँप और फूलोंका हार, बलवान् वैरी और मित्र, कोमल पुष्प-शय्या और पत्थरकी शिला; रत्न और पत्थर; तिनका और सुन्दरी कामिनी—इन सबमें मेरी दृष्टि सम हो जाय ।

१०९०—भगवान् श्रीराम जिसकी ओर कृपाकी नजरसे देखते हैं उसके लिये विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं, समुद्र गौके खुर-बराबर हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है और भारी सुमेरु पहाड़ रजके समान हो जाता है ।

१०९१—प्रेम-प्रेम तो सब कहते हैं, परंतु प्रेमको कोई नहीं पहचानता; जिसमें आठों पहर भीगा रहे वही प्रेम है ।

१०९२—औ तभी लगी समझो, जब कि वह कभी न छूटे, जिंदगीभर लौ लगी रहे और मरनेपर प्यारेमें ही समा जाय । 'प्रीति' इसीका नाम है ।

१०९३—प्राणी जबसे जन्म लेता है तभीसे उसकी उम्र घटने लगती है। बचपन, जवानी, बुढ़ापा यों देखते-देखते जिस तरह तेल घट जानेसे दीपक बुझ जाता है, उसी तरह उसका जीवन बुझ जाता है।

१०९४—ईर्ष्या, लोभ, क्रोध और अग्रिय किंवा कटुवचन—इनसे सदा अलग रहो, धर्मप्राप्तिका यही मार्ग है।

१०९५—तिनकेके समान हल्का बननेसे, वृक्षके समान सद्दिण्डु बननेसे, मान छोड़कर दूसरोंको मान देनेसे, इष्टकी महिमा समझनेसे तथा अभिमान त्याग करनेसे साधना शीघ्र सफल होती है। इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये सत्संग, धर्मग्रन्थ और भक्त-चरित्रका अभ्यास, गुरु-आज्ञाका पालन तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंकी तथा भक्तोंकी सेवा-पूजा करना बहुत आवश्यक है।

१०९६—सत्ययुगमें भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे, द्वापरमें सेवासे जो फल मिलता है, वही कलियुगमें केवल श्रीहरिकीर्तनसे मिलता है। अतएव जो दिन-रात श्रीहरिका प्रेमपूर्वक कीर्तन करते हुए ही घरका सारा काम करते हैं, वे भक्तगण धन्य हैं।

१०९७—एक क्षणके लिये भी आयुका नाश होना बंद नहीं होता, क्योंकि शरीर अनित्य है। अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको विचारना चाहिये कि नित्य वस्तु कौन-सी है। उस नित्य वस्तुको जान लेना ही सबसे बड़ा ज्ञान है।

१०९८—जब काल सुमेरु-जैसे पर्वतको भी जला देता है, बड़े-बड़े सागरोंको सुखा देता है, पृथ्वीका नाश कर देता है, तब हाथीके कानकी कोरके समान चञ्चल मनुष्य तो किस गिनतीमें है।

और राज्य नहीं चाहते और न अधर्मसे ही अपनी उन्नति चाहते हैं वे ही पुरुष सदाचारी, प्रज्ञावान् और धार्मिक हैं ।

१०८७—गौ अपने गलेमें पड़ी हुई मालाके रहने या गिरनेकी तरफ जिस प्रकार कुछ भी ध्यान नहीं देती, इसी प्रकार प्रारब्धकी डोरीमें पिरोया हुआ यह शरीर रहे या जाय, जिसके चित्तकी वृत्ति आनन्दरूप ब्रह्ममें लीन हो गयी है, वह पुरुष फिर उसकी ओर देखता ही नहीं ।

१०८८—भगवान् के रूपका ध्यान करो, भगवन्नामसङ्कीर्तन करो, भगवान् के गुणानुवादका गायन करो, भगवान् की लीलाओंका परस्पर कथन और श्रवण करो ।

१०८९—हे भगवन् ! मेरे जीवनके शेष दिन किसी पवित्र वनमें 'शिव, शिव, शिव' जपते हुए बीतें । साँप और फूलोंका हार, बलवान् वैरी और मित्र, कोमल पुष्प-शय्या और पत्थरकी शिला; रत्न और पत्थर, तिनका और सुन्दरी कामिनी—इन सबमें मेरी दृष्टि सम हो जाय ।

१०९०—भगवान् श्रीराम जिसकी ओर कृपाकी नजरसे देखते हैं उसके लिये विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं, समुद्र गौके खुर-बराबर हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है और भारी सुमेरु पहाड़ रजके समान हो जाता है ।

१०९१—प्रेम-प्रेम तो सब कहते हैं, परन्तु प्रेमको कोई नहीं पहचानता; जिसमें आठों पहर भीगा रहे वही प्रेम है ।

१०९२—औ तभी लगी समझो, जब कि वह कभी न छूटे, जिंदगीभर लौ लगी रहे और मरनेपर प्यारेमे ही समा जाय । प्रीति इसीका नाम है ।


१०९३—प्राणी जबसे जन्म लेता है तभीसे उसकी उम्र घटने लगती है। बचपन, जवानी, बुढ़ापा यों देखते-देखते जिस तरह तेल घट जानेसे दीपक बुझ जाता है, उसी तरह उसका जीवन बुझ जाता है।

१०९४—ईर्ष्या, लोभ, क्रोध और अप्रिय किंवा कटुवचन—इनसे सदा अलग रहो, धर्मप्राप्तिका यही मार्ग है।

१०९५—तिनकेके समान हृदयका बननेसे, वृक्षके समान सद्विष्णु बननेसे, मान छोड़कर दूसरोंको मान देनेसे, इष्टकी महिमा समझनेसे तथा अभिमान त्याग करनेसे साधना शीघ्र सफल होती है। इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये सत्संग, धर्मग्रन्थ और भक्त-चरित्रका अभ्यास, गुरु-आज्ञाका पालन तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंकी तथा भक्तोंकी सेवा-पूजा करना बहुत आवश्यक है।

१०९६—सत्ययुगमें भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे, द्वापरमें सेवासे जो फल मिलता है, वही कलियुगमें केवल श्रीहरिकीर्तनसे मिलता है। अतएव जो दिन-रात श्रीहरिका प्रेमपूर्वक कीर्तन करते हुए ही घरका-सारा काम करते हैं, वे भक्तगण धन्य हैं।

१०९७—एक क्षणके लिये भी आयुका नाश होना बड़ नहीं होता, क्योंकि शरीर अनित्य है। अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको विचारना चाहिये कि नित्य वस्तु कौन-सी है। उस नित्य वस्तुको जान लेना ही सबसे बड़ा ज्ञान है।

१०९८—जब काल सुमेरु-जैसे पर्वतको भी जला देता है, बड़े-बड़े सागरोंको सुखा देता है, पृथ्वीका नाश कर देता है, तब हाथीके कानकी  मान चञ्चल मनुष्य तो किस गिनतीमें है।

और राज्य नहीं चाहते और न अधर्मसे ही अपनी उन्नति चाहते हैं वे ही पुरुष सदाचारी, प्रज्ञावान् और धार्मिक हैं ।

१०८७—गौ अपने गलेमें पड़ी हुई मालाके रहने या गिरनेकी तरफ जिस प्रकार कुछ भी ध्यान नहीं देती, इसी प्रकार प्रारब्धकी डोरीमें पिरोया हुआ यह शरीर रहे या जाय, जिसके चित्तकी वृत्ति आनन्दरूप ब्रह्ममें लीन हो गयी है, वह पुरुष फिर उसकी ओर देखता ही नहीं ।

१०८८—भगवान्‌के रूपका ध्यान करो, भगवन्नामसङ्कीर्तन करो, भगवान्‌के गुणानुवादका गायन करो, भगवान्‌की लीलाओंका परस्पर कथन और श्रवण करो ।

१०८९—हे भगवन् ! मेरे जीवनके शेष दिन किसी पवित्र वनमें 'शिव, शिव, शिव' जपते हुए बीतें । साँप और फूलोंका हार, बलवान् वैरी और मित्र, कोमल पुष्प-शय्या और पत्थरकी शिला, रत्न और पत्थर, तिनका और सुन्दरी कामिनी—इन सबमें मेरी दृष्टि सम हो जाय ।

१०९०—भगवान् श्रीराम जिसकी ओर कृपाकी नजरसे देखते हैं उसके लिये विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं, समुद्र गौके खुर-बराबर हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है और भारी सुमेरु पहाड़ रजके समान हो जाता है ।

१०९१—प्रेम-प्रेम तो सब कहते हैं, परंतु-प्रेमको कोई नहीं पहचानता; जिसमें आठों पहर भीगा रहे वही प्रेम है ।

१०९२—औ तभी लगी समझो, जब कि वह कभी न छूटे, जिदगीभर लौ लगी रहे और मरनेपर प्यारेमें ही समा जाय । प्रीति इसीका नाम है ।

१०९३—प्राणी जबसे जन्म लेता है तभीसे उसकी उम्र घटने लगती है। बचपन, जवानी, बुढ़ापा यों देखते-देखते जिस तरह तेल घट जानेसे दीपक बुझ जाता है, उसी तरह उसका जीवन बुझ जाता है।

१०९४—ईर्ष्या, लोभ, क्रोध और अप्रिय किंवा कटुवचन—इनसे सदा अलग रहो, धर्मप्राप्तिका यही मार्ग है।

१०९५—तिनकेके समान हल्का बननेसे, वृक्षके समान सद्विष्णु बननेसे, मान छोड़कर दूसरोंको मान देनेसे, इष्टकी महिमा समझनेसे तथा अभिमान त्याग करनेसे साधना शीघ्र सफल होती है। इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये सत्संग, धर्मग्रन्थ और भक्त-चरित्रका अभ्यास, गुरु-आज्ञाका पालन तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंकी तथा भक्तोंकी सेवा-पूजा करना बहुत आवश्यक है।

१०९६—सत्ययुगमे भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामे यज्ञसे, द्वापरमें सेवासे जो फल मिलता है, वही कलियुगमे केवल श्रीहरिकीर्तनसे मिलता है। अतएव जो दिन-रात श्रीहरिका प्रेमपूर्वक कीर्तन करते हुए ही घरका सारा काम करते हैं, वे भक्तगण धन्य हैं।

१०९७—एक क्षणके लिये भी आयुका नाश होना बंद नहीं होता; क्योंकि शरीर अनित्य है। अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको विचारना चाहिये कि नित्य वस्तु कौन-सी है। उस नित्य वस्तुको जान लेना ही सबसे बड़ा ज्ञान है।

१०९८—जब काल सुमेरु-जैसे पर्वतको भी जला देता है, बड़े-बड़े सागरोंको सुखा देता है, पृथ्वीका नाश कर देता है, तब हाथीके कानकी कोरके समान चञ्चल मनुष्य तो किस गिनतीमें है।

१११०—मन, वाणी और कर्मसे प्राणिमात्रके साथ अद्वैत, सबपर कृपा और दान—यही साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है।

११११—जो आत्मनिष्ठ हैं तथा जो आत्माके सिवा कुछ भी नहीं चाहते, वे विषयी मनुष्योंकी भोग्य वस्तुकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होते और दुःखरूप वस्तुकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होते।

१११२—सोये हुए गायको जैसे बाढ़ बहा ले जाती है, वैसे ही पुत्र और पशुओंमें लिप्त मनुष्योंको मौत ले जाती है। जब मृत्यु पकड़ती है उस समय पिता, पुत्र, बन्धु या जातिवाले कोई भी रक्षा नहीं कर सकते। इस बातको जानकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीलवान् बने और निर्वाणकी ओर ले जानेवाले मार्गको जल्द पकड़ ले।

१११३—भगवान्की मायाके दोष-गुण बिना हरिभजनके नहीं जाते, अतएव सब कामनाओंको छोड़कर श्रीरामको भजो।

१११४—जो दिन आज है, वह कल नहीं रहेगा, चेतना है तो जल्दी चेत जा, देख, मौत तेरी घातमें घूम रही है।

१११५—श्रीरामके चरणोंकी पहचान हुए बिना मनुष्यके मनकी दौड़ नहीं मिटती, लोग केवल भेष बनाकर दर-दर अलख जगाते हैं, परंतु भगवान्के चरणोंमें प्रेम नहीं करते, उनका जन्म बृथा है।

१११६—जो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होता है, वही आत्माको देखता है और वही सबका आत्मरूप होता है।

१११७—जिन्होंने 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः शत्रुओंको जीत लिया है, वे पुरुष ईश्वरकी ऐसी भक्ति करते हैं जिसके द्वारा भगवान्‌में परम प्रेम उत्पन्न हो जाता है ।

१११८—जैसे प्रवाहके वेगमें एक स्थानकी बाछ अलग-अलग बह जाती है और दूर-दूरसे आकर एक जगह एकत्र हो जाती है, ऐसे ही कालके द्वारा सब प्राणियोंका कभी वियोग और कभी संयोग होता है ।

१११९—सरलता, कर्तव्यपरायणता, प्रसन्नता और जितेन्द्रियता तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवा—इनसे मनुष्यको मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

११२०—जिससे सब जीव निडर रहते हैं और जो सब प्राणियों-से निडर रहता है, वह मोहसे छूटा हुआ सदा निर्भय रहता है ।

११२१—जो मनुष्य समस्त भोगोंको पा जाता है और जो सब भोगोंको त्याग देता है, इनमें सब भोगोंको पानेवालेकी अपेक्षा सबका त्याग करनेवाला श्रेष्ठ है ।

११२२—जो सगृहका त्याग करके अपरिग्रहमें रत है, ऐसे चित्तके मलसे रहित हुए ज्ञानवान् पुरुष ही निर्वाणको प्राप्त होते हैं ।

११२३—जैसे अग्निके समीप रहनेवाले पुरुषको अन्धकार और शीत अग्निकी स्वाभाविक शक्तिसे ही दूर हो जाता है, वैसे ही पापी-पुण्यात्मा जो कोई भी भगवान्‌को भजता है, वही उनकी महिमाको जानता है और वही शान्ति प्राप्त करता है ।

११२४—जब दृश्य नहीं है, तब दृष्टि भी कुछ नहीं है । दृश्यके बिना देखना कहाँ, दृश्यके कारण ही द्रष्टा और दर्शन हैं ।

११२५—काम, क्रोध, मद, लोभकी खान जबतक मनमें है, तबतक पण्डित और मूर्खमें क्या भेद है ? दोनों एक समान ही हैं !

१११०—मन, वाणी और कर्मसे प्राणिमात्रके साथ अद्रोह, सवपर कृपा और दान—यही साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है।

११११—जो आत्मनिष्ठ हैं तथा जो आत्माके सिवा कुछ भी नहीं चाहते, वे विषयी मनुष्योंकी भोंति रमणीय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होते और दुःखरूप वस्तुकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होते।

१११२—सोये हुए गोंवको जैसे वाढ बहा ले जाती है, वैसे ही पुत्र और पशुओंमें लिप्त मनुष्योंको मौत ले जाती है। जब मृत्यु पकड़ती है उस समय पिता, पुत्र, बन्धु या जातिवाले कोई भी रक्षा नहीं कर सकते। इस बातको जानकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीलवान् बने और निर्वाणकी ओर ले जानेवाले मार्गको जल्द पकड़ ले।

१११३—भगवान्की मायाके दोष-गुण बिना हरिभजनके नहीं जाते, अतएव सब कामनाओंको छोड़कर श्रीरामको भजो।

१११४—जो दिन आज है, वह कल नहीं रहेगा, चेतना है तो जल्दी चेत जा, देख, मौत तेरी घातमें घूम रही है।

१११५—श्रीरामके चरणोंकी पहचान हुए बिना मनुष्यके मनकी दौड नहीं मिटती, लोग केवल भेप बनाकर दर-दर अट्ठख जगाते हैं, परंतु भगवान्के चरणोंमें प्रेम नहीं करते, उनका जन्म बृथा है।

१११६—जो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होता है, वही आत्माको देखता है और वही सवका आत्मरूप होता है।

११०५—जो एक प्रभु अपनी नियामक शक्तिके द्वारा सबको नियममें रखते हैं, जो एक अहेतु होते हुए ही सब लोकोंकी उत्पत्ति और लय करनेमें समर्थ हैं, उस देवको जो लोग पहचान लेते हैं वे अमृतरूप हो जाते हैं ।

११०६—मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण मन है, विषया-सक्त मनसे बन्धन होता है और विषयवृत्तिसे रहित मनसे मुक्ति । अतएव मुक्तिकी चाह करनेवाले मनको सदा विषयोंसे रहित रखे । विषयसंग्रहसे छूटा हुआ मन जब उन्मनीभावको प्राप्त होता है, तब परमपदकी प्राप्ति होती है ।

११०७—जीवित अवस्थामें शरीरको लोग देव (नरदेव, भूदेव) शब्दसे पुकारते हैं, परंतु मर जानेपर उस शरीरके या तो (सड़ जानेपर) कीड़े हो जाते हैं, या (जला देनेपर) राख हो जाती है अथवा (पशु आदिके खानेपर उनकी) विष्टा बन जाती है । ऐसे शरीरके लिये जो मनुष्य दूसरे प्राणियोंसे द्रोह करता है जिससे नरककी प्राप्ति होती है, वह क्या अपने स्वार्थको जानता है ?

११०८—परमात्माका वाचक प्रणव है, उसका जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये । इससे आत्माकी प्राप्ति और विघ्नोंका अभाव होता है ।

११०९—परलोकमें सहायताके लिये माता-पिता, पुत्र-स्त्री और सम्बन्धी कोई नहीं रहते । वहाँ एक धर्म ही काम आता है । मरे हुए शरीरको बन्धु-बान्धव काठ और मिट्टीके ढेरोंके समान पृथ्वीपर पटककर धर चले आते हैं । एक धर्म ही उसके साथ जाता है ।

१०९९—काम, क्रोध बड़े ही क्रूर हैं, इनमें दयाका काम नहीं, इन्हें काल ही समझो । ये ज्ञाननिधिके सोंप, विषयकन्दराके बाध, भजन-मार्गके घातक हैं । ये जलमे नहीं बिना ही जलके डुबो देते हैं, बिना ही आगके जला देते हैं और बिना ही शस्त्रके मार डालते हैं ।

११००—वे माता-पिता धन्य हैं और वही पुत्र धन्य है, जो किसी प्रकारसे रामका भजन करता है । जिसके मुखसे धोखेसे भी रामका नाम निकलता है उसके पैरोंकी जूती मेरे तनके चमड़ेसे बने तो भी कम ही है । वह चाण्डाल भक्त अच्छा जो रात-दिन रामको भजता है । जिसमे हरिका नाम नहीं, वह ऊँचा बुल किस कामका ?

११०१—मनरूपी पखेरू तभीतक विषयवासनाके आकाशमें उड़ता है, जबतक कि वह ज्ञानरूपी बाजकी झपेटमें नहीं आता ।

११०२—आवश्यकता चावलकी होती है, परंतु चावल बोनेसे वह उपजता नहीं । चावल पानेके लिये बोना पड़ता है धान । धानमें छिलका यद्यपि अनावश्यक है; परंतु छिलके बिना धान नहीं उगता । इसी प्रकार शास्त्रविहित आचारोंका पालन किये बिना कभी धर्म-लाभ नहीं होता ।

११०३—जो वस्तु अनादि और अनन्त है, उसीमे सुख है; अन्तवान् वस्तुमें सुख नहीं है । अन्तवान् वस्तुका एक दिन अवश्य नाश होगा; इसलिये जो उसपर आसक्त होगा उसको दुखी होना ही पड़ेगा ।

११०४—जो बिना जड़की अमर बेलको पालते हैं उन प्रभुको छोड़कर दूसरे किसकी खोज करनी चाहिये ?

१११७—जिन्होंने 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः शत्रुओंको जीत लिया है, वे पुरुष ईश्वरकी ऐसी भक्ति करते हैं जिसके द्वारा भगवान्में परम प्रेम उत्पन्न हो जाता है ।

१११८—जैसे प्रवाहके वेगमें एक स्थानकी बाध अलग-अलग बह जाती है और दूर-दूरसे आकर एक जगह एकत्र हो जाती है, ऐसे ही कालके द्वारा सब प्राणियोंका कभी वियोग और कभी संयोग होता है ।

१११९—सरलता, कर्तव्यपरायणता, प्रसन्नता और जितेन्द्रियता तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवा—इनसे मनुष्यको मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

११२०—जिससे सब जीव निडर रहते हैं और जो सब प्राणियों-से निडर रहता है, वह मोहसे छूटा हुआ सदा निर्भय रहता है ।

११२१—जो मनुष्य समस्त भोगोंको पा जाता है और जो सब भोगोंको त्याग देता है, इनमें सब भोगोंको पानेवालेकी अपेक्षा सबका त्याग करनेवाला श्रेष्ठ है ।

११२२—जो सप्रज्ञका त्याग करके अपरिग्रहमें रत है, ऐसे चित्तके मलसे रहित हुए ज्ञानवान् पुरुष ही निर्वाणको प्राप्त होते हैं ।

११२३—जैसे अग्निके समीप रहनेवाले पुरुषको अन्धकार और शीत अग्निकी स्वाभाविक शक्तिसे ही दूर हो जाता है, वैसे ही पापी-पुण्यात्मा जो कोई भी भगवान्को भजता है, वही उनकी महिमाको जानता है और वही शान्ति प्राप्त करता है ।

११२४—जब दृश्य नहीं है, तब दृष्टि भी कुछ नहीं है । दृश्यके बिना देखना कहाँ, दृश्यके कारण ही द्रष्टा और दर्शन हैं ।

११२५—काम, क्रोध, मद, लोभकी खान जबतक मनमें है, तबतक पण्डित और मूर्खमें क्या भेद है ? दोनों एक समान ही हैं ।

१११०—मन, वाणी और कर्मसे प्राणिमात्रके साथ अद्रोह, सवपर कृपा और दान—यही साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है।

११११—जो आत्मनिष्ठ हैं तथा जो आत्माके सिवा कुछ भी नहीं चाहते, वे विषयी मनुष्योंकी भोंति रमणीय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होते और दुःखरूप वस्तुकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होते।

१११२—सोये हुए गोंवको जैसे वाढ वहा ले जाती है, वैसे ही पुत्र और पशुओंमें लिप्त मनुष्योंको मौत ले जाती है। जब मृत्यु पकड़ती है उस समय पिता, पुत्र, वन्धु या जातिवाले कोई भी रक्षा नहीं कर सकते। इस बातको जानकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीलवान् बने और निर्वाणकी ओर ले जानेवाले मार्गको जल्द पकड़ ले।

१११३—भगवान्की मायाके दोष-गुण बिना हरिभजनके नहीं जाते, अतएव सब कामनाओंको छोड़कर श्रीरामको भजो।

१११४—जो दिन आज है, वह कल नहीं रहेगा, चेतना है तो जल्दी चेत जा, देख, मौत तेरी घातमें घूम रही है।

१११५—श्रीरामके चरणोंकी पहचान हुए बिना मनुष्यके मनकी दौड़ नहीं मिटती, लोग केवल भेष बनाकर दर-दर अढख जगाते हैं, परंतु भगवान्के चरणोंमें प्रेम नहीं करते, उनका जन्म वृथा है।

१११६—जो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होता है, वही आत्माको देखता है और वही सबका आत्मरूप होता है।

११३२—ससार क्षणभङ्गुर और अनित्य है, यहाँ एक पलका भी भरोसा नहीं, जो कुछ कल्याणका काम करना है तुरत कर लो ।

११३३—गायका तुरत जन्मा हुआ बच्चा जैसे बीसों बार गिरने-उठनेपर कहीं खड़ा हो सकता है, इसी प्रकार साधना करते समय साधक अनेक बार गिर पड़नेपर कहीं अन्तमें सिद्धि-लाभ करता है ।

११३४—यदि मेरे दिलमें तीरकी नोक नहीं चुभती तो तीरका क्या दोष है ? क्योंकि मेरे दिलमें जो प्रेमकी आग जलती है, वह इतनी भड़क रही है कि उसमें लोहा भी पड़े तो वह गल जाता है ।

११३५—जो हृदय कोमल, दीन और भगवान्‌के विरहसे व्याकुल है, उसीमें प्रभुका निवास है ।

११३६—संसारके लोग मेरी जितनी चाहें निन्दा करें, मैं इसका कुछ विचार नहीं करता । जिसके मुख है जो इच्छा हो सो बहे । मैं तो हरिसमें मतवाला होकर कभी धरतीपर लोटता हूँ, कभी नाचता हूँ और कभी सो जाता हूँ ।

११३७—मनुष्य मनुष्यकी आँखोंमें धूल झोंक सकता है, पर परमात्माकी आँखोंमें धूल नहीं झोंकी जा सकती ।

११३८—खिर्योकी मीठी बातोंमें नहीं भूलना चाहिये । इनकी बातें रसमयी हैं, किंतु वैरागीके लिये तलवारकी धारके समान हैं । उनसे अपनी रक्षा करना कठिन है ।

११३९—जो परायी खिर्योको माताके समान नहीं मानता, वह महामूर्ख है । उसके पापका प्रायश्चित्त नहीं ।

११४०—जो परखिर्योको माताके समान, पराये धनको मिट्टीके

११२६—सब ओरसे मनको हटाकर भगवान्‌के चरणोका आश्रय लेनेवाले भगवान्‌के प्रिय पुरुषमें यदि कोई दोष भी हो तो हृदयमें रहनेवाले सर्वेश्वर भगवान्‌ उसे नष्ट कर देते हैं ।

११२७—यह अखिल जगत् सर्वभूतमय भगवान्‌ विष्णुका ही विस्तार है, अतएव ज्ञानी पुरुष इसे अपने साथ आत्मवत् अभेदरूपसे देखें ।

११२८—यह अक्षर (कभी नाश न होनेवाला) ही ब्रह्म है; अक्षर ही परम है, इस अक्षरको ही जानकर जो पुरुष जैसी इच्छा करता है, उसको वही प्राप्त होता है । इस अक्षर परमात्माका आश्रय ही श्रेष्ठ है । यह आश्रय सबसे उत्तम है । इस आश्रयका रहस्य जानकर जीव ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ।

११२९—चित्तसे निरन्तर परमात्मतत्त्वका चिन्तन करते रहो, अनित्य धनकी चिन्ता छोड़ दो । क्षणभरके साधुसगको भी भवसागरसे तारनेके लिये नौकास्वरूप समझो ।

११३०—भोगोंमें रोगका भय है, कुलमें च्युत होनेका भय है, धनमें राजाका भय है, मौनमें दीनताका भय है, बलमें वैरीका भय है, रूपमें बुढापेका भय है, शाश्वतमें विवादका भय है, गुणोंमें दुष्टोंका भय है, शरीरमें मृत्युका भय है, इसी प्रकार संसारकी सभी वस्तुओंमें मनुष्योंको कोई-न-कोई भय है । केवल एक 'वैराग्य'में कोई भय नहीं है ।

११३१—इस संसारकी अपेक्षा भी कोई प्रियतम वस्तु इसकी अवश्य है; क्योंकि यह मन समय-समयपर इससे छूटकर उसकी ओर दौड़ना चाहता है ।

११४९—सूर्यके उदय और अस्तके साथ मनुष्योंकी जिंदगी रोज घटती जाती है। समय भागा जाता है, पर कारोबारमें मशगूल रहनेके कारण वह भागता हुआ नहीं दीखता। लोगोंको पैदा होते, विपत्तिग्रस्त होते और मरते देखकर भी मनमें भय नहीं होता। इससे मालूम होता है कि मोहमयी प्रमादरूप मदिरा (शराब) के नशेमें संसार मतवाला हो रहा है।

११५०—मनुष्य दूसरेको बूढ़ा हुआ तथा मरनेवाला देखता है, पर आप यही समझता है, मैं तो सदा जवान रहूँगा—अमर रहूँगा।

११५१—मनुष्यो ! मिथ्या आशाके फेरमें दुर्लभ मनुष्य-देहको यों ही नष्ट न करो। देखो, सिरपर काल नाच रहा है। एक स्वासका भी भरोसा न करो। जो स्वास बाहर निकल गया, वह वापस आवे न आवे, इसलिये गफ़्त और बेहोशी छोड़कर अपनी कायाको क्षणभङ्गुर समझकर दूसरोंकी भलाई करो और अपने सिरजनहारमें मन लगाओ; क्योंकि नाता उसका सच्चा है।

११५२—माँगना और मरना दोनों समान हैं, बल्कि माँगनेसे मरना भला। याचना करनेसे त्रिलोकीनाथ भगवान्‌को भी छोटा होना पड़ा, तब दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या ?

११५३—हाथके ऊपर हाथ करो, पर हाथके नीचे हाथ न करो। जिस दिन दूसरोंके आगे हाथ फैलानेकी नौबत आवे, उस दिन मरण हो जाय तो अच्छा।

११५४—स्त्री-पुत्रोंके पालन-पोषणकी चिन्तामें मनुष्यकी सारी आयु बीत जाती है; पर परमात्माके भजनमें उसका मन नहीं लगता।

ढेलेके समान और सब प्राणियोंको अपने समान समझता है, वही देखता है और तो सब अन्धे हैं ।

११४१—शरीर अनित्य है, ऐश्वर्य अनित्य है, मृत्यु सदैव पास है, इसलिये धर्म करो ।

११४२—जो अपना जीवन सुखसे बिताना चाहें, वे विषयोंका संग न करें और जो परमपदके अभिलाषी हों, वे तो उनका नाम भी न ले ।

११४३—जो तुम्हारी बातोंको सुनना चाहे, उन्हींको अपनी बातें सुनाओ । जो तुम्हारी बातें सुनना न चाहें, उनके गले मत पड़ो ।

११४४—विषयभोगोंमें सुख नहीं है । एक-न-एक दिन मनुष्यको इनसे अलग होना ही पड़ता है । अलग होनेके समय विषयभोगीको बड़ा दुःख होता है ।

११४५—आत्मचिन्तन करो, पर आत्मचिन्तन करना सहज काम नहीं है । इसके लिये मनको बशमें करना होगा, उसे विषयोंसे दूराना होगा, उसे वृत्तियोंसे अलग कर एकाग्र करना होगा, तभी सफलता हो सकेगी ।

११४६—मूर्ख मनुष्य भाग्यपर संतोष नहीं करता, धनके लिये मारा-मारा फिरता है । जब कुछ हाथ नहीं लगता, तब रोता और कल्पता है ।

११४७—यदि तू सुख-शान्तिसे जीवनयापन करना चाहता है तो तृष्णा पिशाचीके फंदेसे निकलकर भाग्यपर संतोष कर ।

११४८—अरी पापर तृष्णा ! मैं तुझसे पूछना हूँ कि इतने कुकर्म कराकर भी तुझे संतोष हुआ या नहीं ?

११६३—विषयोको हमने नहीं भोगा, किंतु विषयोंने हमारा ही भुगतान कर दिया, हमने तपको नहीं तपा, किंतु तपने हमें ही तपा डाला, कालका खात्मा न हुआ, किंतु हमारा ही खात्मा हो चला, तृष्णाका बुढापा न आया, किंतु हमारा ही बुढापा आ गया ।

११६४—लोग दुनियाको नहीं छोड़ते, दुनिया ही भले उन्हें निकम्मा करके छोड़ दे ।

११६५—जो लोग शक्ति-सामर्थ्य रहते विषयोको छोड़ते हैं, वे ही प्रशंसाके भाजन होते हैं ।

११६६—घर-जंजालोंमें रहकर सर्दी-गर्मी और शोक-ताप आदिके कष्ट उठाने ही पड़ते हैं, फिर तप ही क्यों न किया जाय ? क्योंकि घरकी झंझटोंके दुःखसे कोई लाभ नहीं, किंतु तपसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ।

११६७—धनके ध्यानसे जो सुख मिलता है, वह क्षणस्थायी और झूठा है । इसलिये धन-ध्यान छोड़कर, आशुतोष भगवान् शिवके चरणोंका ध्यान करना अच्छा; जिससे सभी मनोरथ पूरे होते हैं और अन्तमें जन्म-मरणके झगड़ोंसे छुटकारा मिलकर परमपद—मोक्ष मिल जाता है ।

११६८—चेहरेपर झुर्रियाँ पड़ गयीं, सिरके बाल पककर सफेद हो गये, सारे अङ्ग ढीले हो चले—पर तृष्णा तो तरुण होती जाती है ।

११६९—जवानी बुढापेसे, आरोग्यता व्याधियोंसे और जीवन मृत्युसे ग्रसित है, पर तृष्णाको किसी उपद्रवका डर नहीं ।

११७०—मनुष्य नितान्त निकम्मा और जर्जरशरीर होनेपर भी तृष्णाको नहीं त्यागता, यही बड़े आश्चर्यकी बात है ।

११५५—स्त्री-माया ही संसार-वृक्षका बीज है। शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध—उसके पत्ते, काम-क्रोधादि उसकी डालियाँ, पुत्र-कन्या प्रभृति उसके फल हैं और तृष्णारूपी जड़से यह संसार-वृक्ष बढ़ता है।

११५६—लोह और काठकी वेड़ियोंसे चाहे कभी छुटकारा हो जाय, पर स्त्री-पुत्रादिकी मोहरूपी वेड़ियोंसे पुरुषका पीछा नहीं छूट सकता। जिनके मुँह देखनेसे पाप लगता है, स्त्रीके लिये उन्हींकी खुशामदें करनी पड़ती हैं।

११५७—किस्मतको देखो कि जिसने मनुष्यको कितना कमजोर बनाया, पर काम उससे दोनों लोकोंके लिये गये। उसे इस लोक और परलोककी फिक्र लगा दी।

११५८—स्त्रीके वशमें होना सर्वनाशका बीज ब्रूना है।

११५९—गर्दनपर बिखरे हुए बालोंवाला करालमुखी सिंह, अत्यन्त मतवाला हाथी और बुद्धिमान् समरशूर पुरुष भी स्त्रियोंके आगे परम कायर हो जाते हैं।

११६०—मनुष्य अपने पापोंको कितना ही छिपावे, पर एक-न-एक दिन वे प्रकट हो ही जाते हैं।

११६१—घी, नोन, तेल, चावल, साग और ईंधनकी चिन्तामें बड़े-बड़े मतिमानोंकी उम्र पूरी हो जाती है। इसीसे मनुष्यको ईश्वर-भजनका समय नहीं मिलता।

११६२—जितनी आवश्यकताएँ कम होंगी, उतना ही सुख बढ़ेगा, इसलिये महात्मा लोग महलोंमें न रहकर वृक्षोंके नीचे उम्र काट देते हैं।

११७९—सूर्य और चन्द्रको रात-दिन चक्कर लगाने पड़ते हैं । एक दिन क्या एक क्षण भी ये स्वेच्छानुसार आराम नहीं कर सकते, तब हम और आप तो किस गिनतीमें हैं ?

११८०—बड़ोंकी दुर्दशा देखकर छोटोंको अपनी विपत्तिपर रोना-कल्पना नहीं बल्कि संतोष करना चाहिये । ससारमें कोई सुखी नहीं है ।

११८१—विषयोंको चाहे जितने दिनोंतक क्यों न भोगो, वे एक दिन तुम्हें निश्चय ही छोड़ देंगे, तो उन्हें तुम स्वयं ही क्यों न छोड़ दो ? तुम्हारे छोड़नेसे तुम्हें अनन्त सुख मिलेगा और उनके छोड़नेसे तुम्हें अत्यन्त दुःख उठाना पड़ेगा ।

११८२—तृष्णा विषयोंके संसर्गसे बेहद बढ़ती है ।

११८३—जो तृष्णाको त्यागते हैं, तृष्णासे नफरत करते हैं, उसे पास फटकने नहीं देते, उनसे तृष्णा भी दूर भागती है ।

११८४—तृष्णाको शीघ्र छोड़ो । पुरानी होनेसे वह और भी बलवती हो जायगी, फिर उसे त्यागना आपकी शक्तिके बाहर हो जायगा ।

११८५—पत्तों और जलपर गुजर करनेवाले ऋषि भी जब स्त्रियोंपर मोहित हो गये, तब घी-दूध खानेवालोंकी क्या बात है ?

११८६—स्त्रीका दर्शन ही ऐसा है कि जिससे देवता भी धैर्य त्याग देते हैं ।

११८७—जहाँ स्त्री है वहाँ सभी विषय हैं । यही संतोंका अनुभव है ।

११७१—अङ्ग शिथिल हो गये हैं, बुढ़ापेसे सिर सफेद हो गया, मुँहके दाँत गिर गये, हाथमें ली लकड़ीकी तरह शरीर काँपता है, तो भी मनुष्य आशाखूपी पात्रको नहीं त्यागता ।

११७२—भगवान्‌के दर्शनके लिये जिसके मनमें अत्यन्त तीव्र आकर्षण होता है, वह विषयोंकी क्षणभङ्गुरता और अनित्यताको देखकर विषयोंकी ओर कभी ताकता ही नहीं ।

११७३—शरणागतिके द्वारा भगवान्‌से उपदिष्ट साधनमें लग जानेपर शरणागत साधकको भगवान्‌ स्वयं अपने स्वरूपका तत्त्व समझा देते हैं ।

११७४—इस मृत्युके जगत्‌में अमृतके पानेका एक ही उपाय है । जो केवल उसीकी ओर देखता है, दूसरी ओर ताकता ही नहीं, वही मृत्युके हाथसे छुटकारा पा सकता है ।

११७५—जैसे संसारकी बात सोचते-सोचते मनुष्य बड़ा भारी संसारी बन गया है, वैसे ही ईश्वरकी बात सोचते-सोचते ठीक वैसा ही बन सकता है ।

११७६—हृदयमें कामनाओंका निवास है, उसीको 'ससार' कहते हैं और उनके सब तरहके नाश हो जानेको 'मोक्ष' कहते हैं ।

११७७—जो निःस्पृह हैं, जिन्हें कामना या तृष्णा नहीं, वे मनुष्यरूपमें ही देवता हैं ।

११७८—जो जन्म-मरणसे मुक्त होना चाहते हैं, वे तृष्णा राक्षसीके भुलावेमें न आवें । इसके चक्करमें फँसनेसे मनुष्य बाध्य होकर नीच-से-नीच कर्म करनेपर उतरा हो जाता है ।

१२१७—जब मुझे बुद्धिमानोंकी सोहबतसे कुछ मालूम हुआ तब मैंने समझा कि मैं तो कुछ भी नहीं जानता ।

१२१८—हे मलिन मन ! तू पराये दिलको प्रसन्न करनेमें किस लिये लगा रहता है ? यदि तू तृष्णाको छोड़कर सतोष कर ले, अपनेमें ही सतुष्ट रहे तो तू स्वयं चिन्तामणिस्वरूप हो जाय । फिर तेरी कौन-सी इच्छा पूरी न हो ?

१२१९—जब आँखोंमें प्यारे कृष्णकी मनमोहिनी छवि समा जाती है तब उनमें और किसीकी छविके लिये स्थान ही नहीं रहता ।

१२२०—जिस तरह सरायको भरी हुई देखकर उसमें कोठरियाँ खाली न पाकर, मुसाफिर लौट जाते हैं, उसी तरह नयनोंमें मनमोहनकी बाँकी छवि देखकर ससारी मिथ्या खूबसूरतियाँ आँखोंके पास भी नहीं फटकतीं ।

१२२१—जिस सुखके लिये मनुष्य इतनी आफतें उठाता है, उस सुखका सच्चा सोता तो स्वयं उसके दिलमें मौजूद है ।

१२२२—यों तो संसारमें जरा भी सुख नहीं—सर्वत्र भय-ही-भय है, पर दुष्ट और नीचोंका भय सबसे भारी है ।

१२२३—अगर आपको सोंप डसे, विच्छू काटे और हाथी मारे तो कुछ हर्ज मत समझो । आगमें जलने, जलमें डूबने और पहाडसे गिरनेमें भी कोई हानि न समझो, ये सब भले हैं—इनसे हानि नहीं, हानि और खतरा है दुष्टकी सगतिसे, इसलिये दुर्जनकी सोहबत मत करो ।

१२२४—हमारी सुबुद्धि हमसे कह रही है कि मनरूपी शैतानके भरमानेमें मत आओ । मनकी राहपर न चलो, बल्कि

१२०८—हे मनुष्य ! मौतसे डर, अभिमान त्याग ।

१२०९—मनुष्यके घमण्डका कुछ ठिकाना है—किसीको कुछ नहीं समझता । मौतने इसे लाचार कर रक्खा है, नहीं तो यह ईश्वरको भी कुछ नहीं समझता ।

१२१०—अपने प्रबल शत्रु अभिमानका नाश करो ।

१२११—मनुष्यको जो मॉगना हो, सर्वशक्तिमान् भगवान्से मॉगना चाहिये, वही सबकी इच्छा पूरी कर सकता है ।

१२१२—हे दास ! राम-जैसा मालिक तेरे सिरपर खड़ा है, फिर तुझे क्या अभाव है ? उसकी कृपासे ऋद्धि-सिद्धि तेरी सेवा करेंगी और मुक्ति तेरे पीछे फिरेगी ।

१२१३—अगर सेवक दुखी रहता है तो परमात्मा भी तीनों कालोंमें दुखी रहता है । वह दासको कष्टमें देखते ही क्षणभरमें प्रकट होकर उसे निहाल कर देता है ।

१२१४—जिसकी गाँठमें राम है, उसके पास सब सिद्धियाँ हैं । उसके आगे अष्ट सिद्धि और नौ निधि हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं ।

१२१५—जैसे सूर्यमें रात और दिनका भेद नहीं है, वैसे ही विचार करनेपर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्वमें न बन्वन है और न तो मोक्ष । कितने आश्चर्यकी बात है कि प्रभुको, जो हमारे आत्माके आत्मा हैं, हम पराया मानकर बाहर-बाहर ढूँढ़ते फिरते हैं ।

१२१६—मॉझीकी अहसान मेरी बला उठाये, मैंने तो अपनी नाव ईश्वरके नामपर छोड़ दी है और उसका लंगर भी तोड़ दिया है ।

१२१७—जब मुझे बुद्धिमानोकी सोहबतसे कुछ मालूम हुआ तब मैंने समझा कि मैं तो कुछ भी नहीं जानता ।

१२१८—हे मलिन मन ! तू पराये दिलको प्रसन्न करनेमें किस लिये लगा रहता है ? यदि तू तृष्णाको छोड़कर सतोष कर ले, अपनेमें ही सतुष्ट रहे तो तू स्वयं चिन्तामणिस्वरूप हो जाय । फिर तेरी कौन-सी इच्छा पूरी न हो ?

१२१९—जब आँखोंमें प्यारे कृष्णकी मनमोहिनी छवि समा जाती है तब उनमें और किसीकी छविके लिये स्थान ही नहीं रहता ।

१२२०—जिस तरह सरायको भरी हुई देखकर उसमें कोठरियाँ खाली न पाकर, मुसाफिर लौट जाते हैं, उसी तरह नयनोंमें मनमोहनकी बाँकी छवि देखकर संसारी मिथ्या खूबसूरतियों आँखोंके पास भी नहीं फटकतीं ।

१२२१—जिस सुखके लिये मनुष्य इतनी आफतें उठाता है, उस सुखका सच्चा सोता तो स्वयं उसके दिलमें मौजूद है ।

१२२२—यों तो संसारमें जरा भी सुख नहीं—सर्वत्र भय-ही-भय है, पर दुष्ट और नीचोंका भय सबसे भारी है ।

१२२३—अगर आपको सोंप डसे, बिच्छू काटे और हाथी मारे तो कुछ हर्ज मत समझो । आगमें जलने, जलमें डूबने और पहाड़से गिरनेमें भी कोई हानि न समझो, ये सब भले हैं—इनसे हानि नहीं; हानि और खतरा है दुष्टकी सगतिसे, इसलिये दुर्जनकी सोहबत मत करो ।

१२२४—हमारी सुबुद्धि हमसे कह रही है कि मनरूपी शैतानके भरमानेमें मत आओ । मनकी राहपर न चलो, बल्कि

१२०८—हे मनुष्य ! मौतसे डर, अभिमान त्याग ।

१२०९—मनुष्यके घमण्डका कुछ ठिकाना है—किसीको कुछ नहीं समझता । मौतने इसे लाचार कर रक्खा है, नहीं तो यह ईश्वरको भी कुछ नहीं समझता ।

१२१०—अपने प्रबल शत्रु अभिमानका नाश करो ।

१२११—मनुष्यको जो माँगना हो, सर्वशक्तिमान् भगवान्से माँगना चाहिये, वही सबकी इच्छा पूरी कर सकता है ।

१२१२—हे दास ! राम-जैसा मालिक तेरे सिरपर खड़ा है, फिर तुझे क्या अभाव है ? उसकी कृपासे ऋद्धि-सिद्धि तेरी सेवा करेगी और मुक्ति तेरे पीछे फिरेगी ।

१२१३—अगर सेवक दुखी रहता है तो परमात्मा भी तीनों कालोंमें दुखी रहता है । वह दासको कष्टमें देखते ही क्षणभरमें प्रकट होकर उसे निहाल कर देता है ।

१२१४—जिसकी गॉठमें राम है, उसके पास सब सिद्धियाँ हैं । उसके आगे अष्ट सिद्धि और नौ निवि हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं ।

१२१५—जैसे सूर्यमें रात और दिनका भेद नहीं है, वैसे ही विचार करनेपर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्वमें न बन्वन है और न तो मोक्ष । कितने आश्चर्यकी बात है कि प्रभुको, जो हमारे आत्माके आत्मा हैं, हम पराया मानकर बाहर-बाहर ढूँढ़ते फिरते हैं ।

१२१६—माँझीकी अहसान मेरी बला उठाये, मैंने तो अपनी नाव ईश्वरके नामपर छोड़ दी है और उसका लंगर भी तोड़ दिया है ।

१२१७—जब मुझे बुद्धिमानोंकी सोहबतसे कुछ मालूम हुआ तब मैंने समझा कि मैं तो कुछ भी नहीं जानता ।

१२१८—हे मलिन मन ! तू पराये दिलको प्रसन्न करनेमें किस लिये लगा रहता है ? यदि तू तृष्णाको छोड़कर सतोष कर ले, अपनेमें ही सतुष्ट रहे तो तू स्वयं चिन्तामणिस्वरूप हो जाय । फिर तेरी कौन-सी इच्छा पूरी न हो ?

१२१९—जब आँखोंमें प्यारे कृष्णकी मनमोहिनी छवि समा जाती है तब उनमें और किसीकी छविके लिये स्थान ही नहीं रहता ।

१२२०—जिस तरह सरायको भरी हुई देखकर उसमें कोठरियों खाली न पाकर, मुसाफिर लौट जाते हैं, उसी तरह नयनोंमें मनमोहनकी बोंकी छवि देखकर संसारी मिथ्या खूबसूरतियों आँखोंके पास भी नहीं फटकतीं ।

१२२१—जिस सुखके लिये मनुष्य इतनी आफते उठाता है, उस सुखका सच्चा सोता तो स्वयं उसके दिलमें मौजूद है ।

१२२२—यों तो संसारमें जरा भी सुख नहीं—सर्वत्र भय-ही-भय है, पर दुष्ट और नीचोंका भय सबसे भारी है ।

१२२३—अगर आपको साँप डसे, बिच्छू काटे और हाथी मारे तो कुछ हर्ज मत समझो । आगमें जलने, जलमें डूबने और पहाडसे गिरनेमें भी कोई हानि न समझो, ये सब भले हैं—इनसे हानि नहीं; हानि और खतरा है दुष्टकी संगतिसे, इसलिये दुर्जनकी सोहबत मत करो ।

१२२४—हमारी सुबुद्धि हमसे कह रही है कि मनरूपी शैतानके भरमानेमें मत आओ । मनकी राहपर न चलो, बल्कि

अस्तित्वका निरूपण किया जाता है, वह केवल बाह्य-वाणीका विकास-मात्र है, उससे भगवान्‌का यथार्थ बोध नहीं हो सकता ।

१२४०—आज तुम्हारा शरीर आरोग्य है, आश्चर्य नहीं कल तुम बीमार होकर मरण-शय्यापर पड़े हो अथवा मर ही जाओ । इसलिये चेत करो, होश सँभालो और आगेकी सफरका इसी क्षण बन्दोबस्त करो !

१२४१—जो यहाँ वोओगे वही वहाँ काटोगे । यहाँ अच्छा करोगे, तो वहाँ अच्छा पाओगे ।

१२४२—यह जीवन सपनेके समान है ।

१२४३—जिस तरह रातके स्वप्नको मिथ्या समझते हो उसी तरह दिनके दृश्योंको भी मिथ्या समझो ।

१२४४—इस दुनियामें काम बहुत है और उम्रका यह हाल है कि पलक मारनेभरका भरोसा नहीं । इस क्षणभरकी जिन्दगीमें आपको कौन-सा काम करना चाहिये जिससे आगेकी यात्रामें सुख-ही-सुख मिले । विचारिये तो सही ।

१२४५—संसारमें आकर दो काम कर लो—(१) भूखेको भोजन दो और (२) भगवान्‌का नाम लो ।

१२४६—जगत्‌में तीन-छ. (३६) की तरह और भगवान्‌के चरणोंमें छ.तीन (६३) की तरह रहो ।

१२४७—संसारी माया-जालमें सुख नहीं है । संसारमें जो सुखी दीखते हैं, वे वास्तवमें दुखी हैं । उनका सुख दिग्वावटी सुख है, सच्चा सुख नहीं ।

१२४८—प्रेममें जो तन्मय हो जाते हैं उन्हींका प्रेम प्रेम है ।
बिना तन्मयताके प्रेम थोथा है ।

१२४९—भगवान्को जाननेके लिये चरित्रकी शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है । विशुद्ध चरित्र हुए बिना कोई भी उनको न तो पहचान ही संकता है और न देख ही सकता है ।

१२५०—ईश्वर-उपासना करनेवालेको सबसे पहले अपने चित्त और इन्द्रियोंको उनके विषयोसे हटाकर अपने अधीन कर लेना चाहिये ।

१२५१—बिना चित्तके एकाग्र हुए और बिना इन्द्रियोंके संयत हुए—ध्यान लग ही नहीं सकता ।

१२५२—ध्यान करनेवाला न शरीरको हिलावे, न किसी तरफ देखे ।

१२५३—महादेव ही हमारा एक देव हो, जाह्नवी-जल ही हमारा पेय हो, एक गुफा ही हमारा घर हो, दिशा ही हमारे वल्ल हों, समय ही हमारा मित्र हो, किसीके सामने दीन न होना ही हमारा वित्त हो और वटवृक्ष ही हमारी अर्द्धाङ्गिनी हो ।

१२५४—जगदीश उन्हींको मिलते हैं जो गर्वसे दूर भागते और विवेकभ्रष्ट नहीं होते ।

१२५५—जो अपनी गर्दन ऊँची करता है, वह मुँहके बल गिरता है ।

१२५६—आशा एक नदी है । उसमें इच्छारूपी जल है, वृष्णा उस नदीकी तरंगें हैं, प्रीति उसके मकर हैं, तर्क-वितर्क या दलीलें उसके पक्षी हैं, मोह उसके भँवर हैं, चिन्ता ही उसके

मनको अपनी राहपर चलाओ । सच्चा सुख वैराग्यमें ही है इस महावाक्यको क्षणभर भी न भूलो ।

१२२५—कमलके पत्तेपर ठहरी हुई जलकी बूँदके समान क्षणभङ्गुर प्राणोंके लिये, मूर्खतावश धनमदसे निःशक धनी मनुष्योंके सामने बेहया होकर अपनी तारीफ आप करनेका घोर पाप करने-वाले हमलोगोंने कौन-सा पाप नहीं किया ?

१२२६—जिस तरह पानीका बुलबुला उठता और क्षणभरमें नष्ट हो जाता है, उसी तरह आदमी पैदा होता है और क्षणभरमें नष्ट हो जाता है ।

१२२७—यह मनुष्य उसी तरह अदृश्य हो जायगा, जिस तरह सवेरेका तारा देखते-देखते गायब हो जाता है ।

१२२८—जिस तरह देखते-देखते हौजका पानी मोरीकी राहसे निकलकर बिना जाता है, उसी तरह यह जीवात्मा देहसे निकल जायगा, दस-पाँच दिनकी ढेर समझिये ।

१२२९—ऐसे चञ्चल जीवनके लिये अज्ञानी मनुष्य नीच-से-नीच कर्म करनेमें सकोच नहीं काता—यह बड़ी ही लज्जाकी बात है । अगर मनुष्योंकी हजारों, लाखों दरसकी उम्र मिलता अथवा सभी काकभुशुण्डि होते, तो न जाने मनुष्य क्या-क्या पाप-कर्म न करता ?

१२३०—मनुष्यो ! ओखें खोलकर देखो और कान लगाकर सुनो । मिट्टी और पत्थर अथवा लकड़ी वगैरहकी वनी चीजोंकी कुछ उम्र भी है, पर तुम्हारी उम्र कुछ भी नहीं । अतः इस क्षणस्थायी जीवनमें पाप-कर्म न करो ।

१२३१—हे भाई ! कैसे कष्टकी बात है ! पहले यहाँ कैसा राजा राज करता था, उसकी राजसभा कैसी थी, उसके यहाँ कैसे-कैसे शूर, सामन्त और सेना एव चन्द्रानना खियो थीं, पर आज सब सूना है। सबको काल खा गया।

१२३२—जिन मकानोंमें तरह-तरहके बाजे बजते और गाने गाये जाते थे, वे आज खाली पड़े हैं। अब उनपर कौवे बैठते हैं।

१२३३—जिसे सूर्य कहते हैं वह भी एक ऐसा चिराग—दीपक है, जो हवाके सामने रक्खा हुआ और 'अब बुझा अब बुझा' हो रहा है, तब औरोंकी तो बात ही क्या ! ससारकी यही दशा है।

१२३४—एक दिन इस जगत्का ही अस्तित्व नहीं रहेगा, तब और किसकी आस्था की जाय ! यह जगत् ही भ्रममात्र है।

१२३५—बारी-बारीसे सभी प्यारे और मित्र चल वसे ' अब तेरा नंबर भी नित्य निकट आता जाता है।

१२३६—काल-देवता अपनी पत्नी कालीके साथ, संसाररूपी चौपडमें दिन-रातरूपी पासोंको लुढ़का-लुढ़काकर और इस जगत्के प्राणियोंकी गोटी बना-बनाकर खेल रहा है।

१२३७—मनुष्य-जीवन बहुत ही थोड़ा है। इसलिये मनुष्य-को जवतक दम रहे सब कुछ तजकर एकमात्र परमात्माका भजन करना चाहिये।

१२३८—जिस तरह कच्चे घड़ेको फूटते देर नहीं उसी तरह इस शरीरको नाश होते देर नहीं।

१२३९—बाहरी युक्ति और तर्कोंके द्वारा जो भगवान्‌के सं० वा० ११—

अस्तित्वका निरूपण किया जाता है, वह केवल बाह्य-वाणीका विकास-मात्र है, उससे भगवान्‌का यथार्थ बोध नहीं हो सकता ।

१२४०—आज तुम्हारा शरीर आरोग्य है, आश्चर्य नहीं कल तुम बीमार होकर मरण-शय्यापर पड़े हो अथवा मर ही जाओ । इसलिये चेत करो, होश सँभालो और आगेकी सफरका इसी क्षण बन्दोबस्त करो !

१२४१—जो यहाँ बोओगे वही वहाँ काटोगे । यहाँ अच्छा करोगे, तो वहाँ अच्छा पाओगे ।

१२४२—यह जीवन सपनेके समान है ।

१२४३—जिस तरह रातके स्वप्नको मिथ्या समझते हो उसी तरह दिनके दृश्योंको भी मिथ्या समझो ।

१२४४—इस दुनियामें काम बहुत है और उम्रका यह हाल है कि पलक मारनेभरका भरोसा नहीं । इस क्षणभरकी जिन्दगीमें आपको कौन-सा काम करना चाहिये जिससे आगेकी यात्रामें सुख-ही-सुख मिले । विचारिये तो सही ।

१२४५—संसारमें आकर दो काम कर लो—(१) भूखेको भोजन दो और (२) भगवान्‌का नाम लो ।

१२४६—जगत्‌में तीन-छः (३६) की तरह और भगवान्‌के चरणोंमें छः-तीन (६३) की तरह रहो ।

१२४७—संसारी माया-जालमें सुख नहीं है । संसारमें जो सुखी दीखते हैं, वे वास्तवमें दुखी हैं । उनका सुख दिखावटी सुख है, सच्चा सुख नहीं ।

१२४८—प्रेममें जो तन्मय हो जाते हैं उन्हींका प्रेम प्रेम है ।
बिना तन्मयताके प्रेम थोथा है ।

१२४९—भगवान्को जाननेके लिये चरित्रकी शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है । विशुद्ध चरित्र हुए बिना कोई भी उनको न तो पहचान ही सकता है और न देख ही सकता है ।

१२५०—ईश्वर-उपासना करनेवालेको सबसे पहले अपने चित्त और इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर अपने अधीन कर लेना चाहिये ।

१२५१—बिना चित्तके एकाग्र हुए और बिना इन्द्रियोंके संयत हुए—ध्यान लग ही नहीं सकता ।

१२५२—ध्यान करनेवाला न शरीरको हिलावे, न किसी तरफ देखे ।

१२५३—महादेव ही हमारा एक देव हो, जाह्नवी-जल ही हमारा पेय हो, एक गुफा ही हमारा घर हो, दिशा ही हमारे वल्ल हों, समय ही हमारा मित्र हो, किसीके सामने दीन न होना ही हमारा वित्त हो और वटवृक्ष ही हमारी अर्द्धाङ्गिनी हो ।

१२५४—जगदीश उन्हींको मिलते हैं जो गर्वसे दूर भागते और विवेकभ्रष्ट नहीं होते ।

१२५५—जो अपनी गर्दन ऊँची करता है, वह मुँहके बल गिरता है ।

१२५६—आशा एक नदी है । उसमें इच्छारूपी जल है, तृष्णा उस नदीकी तरंगें हैं, प्रीति उसके मकर हैं, तर्क-वितर्क या दलीलें उसके पक्षी हैं, मोह उसके भँवर हैं, चिन्ता ही उसके

होती है । अतः मनुष्य-जन्मको मामूली समझकर यों ही दुनियाके सुख-भोगोंमें मत गँवाओ ।

१२७६—वे ही प्रशंसाभाजन हैं, वे ही धन्य हैं, उन्होंने ही कर्मकी जड़ काट दी है—जो अपने हाथोंके सिवा और किसी चासनकी जरूरत नहीं समझते, जो घूम-घूमकर भिक्षाका अन्न खाते हैं, जो दसों दिशाओंको ही अपना विस्तृत वख समझते हैं, जो सारी पृथ्वीको ही अपनी शय्या समझते हैं, जो अकेले रहना पसंद करते हैं, जो दीनतासे घृणा करते हैं और जिन्होंने आत्मामें ही संतोष कर लिया है ।

१२७७—जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि विकार नहीं है, जो सुख-दुःख और मान-अपमानको नहीं जानता, जिसे न खुशी होती है न रंज, जो अपने शरीरसे अलग है, जो न किसीकी तारीफ करता है और न किसीकी बुराई करता है, जिसे न किसीसे प्रेम है और न किसीसे वैर है, जिसका न किसीसे लेना है और न किसीको देना है, न और ही किसी तरहका व्यवहार है, ऐसा ही महापुरुष भगवान्को प्यारा है ।

१२७८—बुढ़ापा हमारे शरीरको निर्बल और रूपको कुरूप करता एव सामर्थ्य और बलका नाश करता है तथा मृत्यु सिरपर मँडराती है ऐसी दशामें मित्रवर ! कहीं सुख नहीं है । अगर सुख—सच्चा सुख चाहते हो तो भगवान्का भजन करो ।

१२७९—मनुष्य चाहे कल्पवृक्षके नीचे क्यों न चला जाय, जबतक सीतापतिकी कृपा न होगी तबतक उसके दुःखोंका नाश

नहीं हो सकता, इसलिये शत्रुता-मित्रता छोड़, संसारसे उदासीन हो भगवान्‌से प्रीति करो ।

१२८०—भगवान्‌की भक्ति सर्वोपरि है । भगवान्‌की भक्तिसे जो काम हो सकता है, वह धीरे-से-धीरे तपस्याओंसे भी नहीं हो सकता ।

१२८१—चाहे सारे वेद-शास्त्र पढ़ लो, चाहे यम-नियम आदि कर लो, चाहे धर्मशास्त्रको मनन कर लो और चाहे सारे तीर्थ कर डालो, यदि हृदयमें राम नहीं हैं, तो ये सब वृथा है ।

१२८२—दोस्तोंसे दोस्ती और दुश्मनोंसे दुश्मनी छोड़कर एव संसारसे उदासीन होकर भगवान्‌से प्रीति करो ।

१२८३—अरे ! तू दसों दिशाओंमें क्यों भागता फिरता है ? तू भगवान्‌के किये हुए कामोका खयाल कर । देख, जब तू मुँह बंद किये हुए छिपा बैठा था, तब भी तुझे खानेको पहुँचाया और जब तेरे दाँत आ गये तब भी तुझे तेरे मुँह खोलते ही खानेको टुकड़ा दिया । जिस प्रभुने तेरी गर्भावस्थासे ही—जब कि तू जड़ और मूक था—पालना की है, वही क्या अब तेरी खबर न लेगा ?

१२८४—तू क्यों चीखता फिरता है ? भगवान्‌का भरोसा रख; वे प्रभु ही अब सब तरहसे तेरी रक्षा करेंगे ।

१२८५—मनुष्य ! तेरी जिंदगी ढाई मिनटकी है । इस ढाई मिनटकी जिंदगीको बर्बाद न कर । इसे खतम होते देर न लगेगी । इसलिये यदि तू सबका आसरा छोड़, जगदीशकी ही चाकरी करेगा तो तेरा निश्चय ही भला होगा ।

१२८६—देहधारियोंके भोग—विषय-सुख—साधन वादलोंमें चमकनेवाली बिजलीकी तरह चञ्चल हैं, मनुष्योंकी आयु या उम्र

किनारे हैं, वह आशा-नदी-धैर्यरूपी वृक्षको गिरानेवाली है, इस कारण उसके पार होना कठिन है । जो शुद्धचित्त योगीश्वर उसके पार चले जाते हैं वे बड़ा आनन्द उपभोग करते हैं ।

१२५७—यदि आनन्द चाहो तो आशा, इच्छा, प्रीति, तर्क-वितर्क, मोह और चिन्ता आदिको एकदम छोड़कर शुद्धचित्त हो जाओ और भगवान्‌के भजन-ध्यानमें तन्मय रहा करो ।

१२५८—अगर मन एक ही ठिकाने ठहर जावे तो सहजमें ही हीरा पैदा हो जावे ।

१२५९—चञ्चल मनसे सिद्धि दूर भागती है ।

१२६०—जगदीशसे मिलनेके लिये स्थिरचित्त दरकार है ।

१२६१—जिन्हे संसारी जंजालोंसे छूटना हो, जन्म-मरणके कष्ट न भोगने हो, वे अपने मनको अपने वशमें करें, उसे इधर-उधर जानेसे रोके और कर्तारके ध्यानमें लगावें ।

१२६२—अपने दिलको मार, अभिमानको मार, इसमें तेरी बड़ाई है । बड़े-बड़े लूँखार जानवरोंको मारनेमें वह वीरता नहीं है ।

१२६३—मनुष्यो ! अभ्यास करो, अभ्याससे सब कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं । जैसे भी हो मनको वासनाहीन बनाओ । वासना-हीन, निर्मल चित्तवाले व्यक्तिपर उपदेश जल्दी असर करता है और ईश्वरानुराग शीघ्र ही उत्पन्न हो जाता है ।

१२६४—खाली पेट भरनेके लिये कौएकी तरह पराया मुँह ताकना अच्छा नहीं । मुँह ही ताकना है, तो उस परमात्माका ताको, जो अभावशून्य है और सबका दाता है ।

१२६५—भगवान्‌के चरणकमलोंसे परिचय हुए बिना, उनके पदपङ्कजोंसे प्रेम हुए बिना मनुष्यके मनकी दौड़ नहीं मिटती ।

१२६६—जो लोग गेरुआ बाना धारण करके साधु हो जाते हैं और भगवान्‌में मन नहीं लगाते तथा पेटके लिये दर-दर चिल्ला-चिल्लाकर अपना दुर्लभ मनुष्य-जन्म वृथा ही गँवाते हैं वे मूर्ख इस बातको नहीं समझते कि यह गेरुआ वस्त्र पहना क्यों था । गेरुआ संसारसे तीव्र वैराग्यका चिह्न है ।

१२६७—स्वामीके दरबारमें किसी चीजकी कमी नहीं है । उनके दरबारमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थ मौजूद हैं । उनके भक्त जो चाहते हैं उन्हें वही मिल जाता है ।

१२६८—हे मन ! अब तू परमात्मामें लग जा, ससारी सुखोंमें अब हमारी इच्छा नहीं, इनकी पोल हमने देख ली ।

१२६९—जिसे सतोष है वह सदा सुखी है ।

१२७०—उसे कोई सुख नहीं जिसकी इच्छाएँ बड़ी हैं ।

१२७१—जिसे तृष्णा है वह सदा दुखी है ।

१२७२—सतोष बड़ी-से-बड़ी दौलतसे भी अच्छा है ।

१२७३—जो सुखी होना चाहे वह तृष्णाको त्यागे और परमात्मा जो दे उसीमें सतोष करे ।

१२७४—जहाँ सतोष है वहाँ भगवान्‌ हैं और जहाँ भगवान्‌ हैं वहाँ संतोष है ।

१२७५—मनुष्य-देह पाकर ही मनुष्य अपने उद्धारका उपाय कर सकता है, क्योंकि इसी जन्ममें मले-बुरेके विचारकी शक्ति

होती है । अतः मनुष्य-जन्मको मामूली समझकर यों ही दुनियाके सुख-भोगोंमें मत गँवाओ ।

१२७६—वे ही प्रशंसाभाजन हैं, वे ही धन्य हैं, उन्होंने ही कर्मकी जड़ काट दी है—जो अपने हाथोंके सिवा और किसी चासनकी जरूरत नहीं समझते, जो घूम-घूमकर भिक्षाका अन्न खाते हैं, जो दसों दिशाओको ही अपना विस्तृत वल्ल समझते हैं, जो सारी पृथ्वीको ही अपनी शय्या समझते हैं, जो अकेले रहना पसंद करते हैं, जो दीनतासे घृणा करते हैं और जिन्होंने आत्मामें ही सतोष कर लिया है ।

१२७७—जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि विकार नहीं हैं, जो सुख-दुःख और मान-अपमानको नहीं जानता, जिसे न खुशी होती है न रंज, जो अपने शरीरसे अलग है, जो न किसीकी तारीफ करता है और न किसीकी बुराई करता है, जिसे न किसीसे प्रेम है और न किसीसे वैर है, जिसका न किसीसे लेना है और न किसीको देना है, न और ही किसी तरहका व्यवहार है, ऐसा ही महापुरुष भगवान्को प्यारा है ।

१२७८—बुढ़ापा हमारे शरीरको निर्बल और रूपको कुरूप करता एवं सामर्थ्य और बलका नाश करता है तथा मृत्यु सिरपर मँडराती है ऐसी दशामें मित्रवर ! कहीं सुख नहीं है । अगर सुख—सच्चा सुख चाहते हो तो भगवान्का भजन करो ।

१२७९—मनुष्य चाहे कल्पवृक्षके नीचे क्यों न चला जाय, जबतक सीतापतिकी कृपा न होगी तबतक उसके दुःखोंका नाश

नहीं हो सकता, इसलिये शत्रुता-मित्रता छोड़, संसारसे उदासीन हो भगवान्‌से प्रीति करो ।

१२८०—भगवान्‌की भक्ति सर्वोपरि है । भगवान्‌की भक्तिसे जो काम हो सकता है, वह धीरे-धीरे तपस्याओंसे भी नहीं हो सकता ।

१२८१—चाहे सारे वेद-शास्त्र पढ़ लो, चाहे यम-नियम आदि कर लो, चाहे धर्मशास्त्रको मनन कर लो और चाहे सारे तीर्थ कर डालो, यदि हृदयमें राम नहीं हैं, तो ये सब वृथा है ।

१२८२—दोस्तोंसे दोस्ती और दुश्मनोंसे दुश्मनी छोड़कर एव संसारसे उदासीन होकर भगवान्‌से प्रीति करो ।

१२८३—अरे ! तू दसों दिशाओंमें क्यों भागता फिरता है ? तू भगवान्‌के किये हुए कामोंका खयाल कर । देख, जब तू मुँह बंद किये हुए छिपा बैठा था, तब भी तुझे खानेको पहुँचाया और जब तेरे दाँत आ गये तब भी तुझे तेरे मुँह खोलते ही खानेको टुकड़ा दिया । जिस प्रभुने तेरी गर्भावस्थासे ही—जब कि तू जड़ और मूक था—पालना की है, वही क्या अब तेरी खबर न लेगा ?

१२८४—तू क्यों चीखता फिरता है ? भगवान्‌का भरोसा रख, वे प्रभु ही अब सब तरहसे तेरी रक्षा करेंगे ।

१२८५—मनुष्य ! तेरी जिंदगी ढाई मिनटकी है । इस ढाई मिनटकी जिंदगीको बर्बाद न कर । इसे खतम होते देर न लगेगी । इसलिये यदि तू सबका आसरा छोड़, जगदीशकी ही चाकरी करेगा तो तेरा निश्चय ही भल्ल होगा ।

१२८६—देहधारियोंके भोग—विषय-सुख—साधन बादलोंमें चमकनेवाली बिजलीकी तरह चञ्चल हैं; मनुष्योंकी आयु या उम्र

हवासे छिन्न-भिन्न हुए वादलोंके जलके समान क्षणस्थायी या नाशवान् है और जवानीकी उमंग भी स्थिर नहीं है । इसलिये बुद्धिमानो ! धैर्यसे चित्तको एकाग्र करके उसे योगसाधनमें लगाओ ।

१२८७—सच तो यह है कि यह शरीर विजलीकी चमक और वादलकी छायाकी तरह चञ्चल और अस्थिर है । जिस दिन जन्म लिया, उसी दिन मौत पीछे पड़ गयी, अब वह अपना समय देखती है और समय पूर्ण होते ही प्राणीको नष्ट कर देगी ।

१२८८—जिस तरह अञ्जलिमें जल नहीं ठहरता उसी तरह लक्ष्मी भी किसीके पास नहीं ठहरती ।

१२८९—जिस तरह सासारिक पदार्थ लक्ष्मी और विषयभोग तथा आयु चञ्चल और क्षणस्थायी हैं उसी तरह यौवन भी क्षणस्थायी है । जवानी आते तो दीखती है, पर जाते नहीं मादूम होती । हवाकी अपेक्षा भी तेज चालसे दिन-रात होते हैं और उसी तेजीसे जवानी झट खतम हो जाती और बुढ़ापा आ जाता है । फिर गाफिल क्यों होता है ।

१२९०—ससारमें जो नाना प्रकारके अच्छे-अच्छे मनभावन पदार्थ दिखायी देते हैं, ये सभी नाशवान् हैं । ये सब वास्तवमें कुछ भी नहीं, केवल मनकी कल्पनासे इनकी सृष्टि की गयी है । मूर्ख ही इनमें आस्था रखते हैं ज्ञानी नहीं ।

१२९१—इस जगत्में ज्ञानीका जीवन सार्थक और अज्ञानीका निरर्थक है ।

१२९२—विभूति चञ्चल है, यौवन क्षणभङ्गुर है; तो भी लोग परलोक-साधनकी परवा नहीं करते। मनुष्योंकी यही चेष्टा विस्मय-कारक है।

१२९३—मनुष्यो ! होश करो, गफलतकी नींद छोड़ो। वह देखो ! मौत तुम्हारा द्वार खटखटा रही है।

१२९४—स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन, माता-पिता आदि प्यारे और सगे-सम्बन्धी उसी वक्त तक हैं जब तक कि शरीर नाश नहीं हुआ है।

१२९५—यह ससार दो स्थानोंके बीचका स्थान है। यात्री यहाँ आकर क्षणभरके लिये आराम करते और फिर आगे चले जाते हैं। ऐसे यात्रियोंका आपसमें मेल बढ़ाना, एक दूसरेकी मुहब्बतके फड़ेमें फँसना सचमुच ही दुःखोत्पादक है।

१२९६—इस जगत्में न कोई अपना है न पराया।

१२९७—अरे अज्ञानी मनुष्य ! मुझे तेरी इस बातपर बड़ा ही अचम्भा आता है कि तू इस बालूके मकानमें निःशङ्क और मस्त होकर बैठा हुआ है। इसे नाश होते कितनी देर लगेगी।

१२९८—अरे मूर्ख ! तू इस बालूके घरमें रहकर भी बरसों जीनेकी—इस घरमें रहनेकी—आशा करता है। अरे नादान ! होश कर ! जाग ! तेरा यह बालूका मकान पलक मारते गिर जायगा।

१२९९—दूधमें मधुरता उसी समय तक रहती है जब तक उसे सर्प नहीं छूता। पुरुषमें गुण भी उसी समय तक रहते हैं जब तक कि तृष्णाका स्पर्श नहीं होता। अतः बुद्धिमानो ! अनित्य नाशवान् विषयोंसे दूर रहो, क्योंकि इनमें जरा भी सुख नहीं।

१३००—विषयोंको भोगनेसे नरकाग्निमें जलोगे और जन्म-मरणके घोर संकट सहोगे, परमात्माके भजन या योगसाधनसे नित्य सुख भोगते हुए परमानन्दमें स्थित हो जाओगे । अतः इन्द्रियोंको वशमें करो और एकाग्रचित्तसे परमात्माका भजन करो ।

१३०१—जितनी समुद्रकी लहरे हैं उतनी ही मनकी दौड़ है । यदि मन ठिकाने आ जाय, उसमें समुद्रकी-सी तरङ्गें न उठें, तो सहजमें हीरा पैदा हो जाय; यानी परमात्मा मिल जाय ।

१३०२—मूढ़ मुड़ते अनेक दिन हो गये; पर आजतक भगवान् न मिले । मिलें कैसे । मन राममें लगे, तब तो राम मिलें । मन तो विषय-भोगोंमें लगा रहता है, फिर राम मिलें कैसे ?

१३०३—विषय-भोग, आयु और यौवनको अनित्य और क्षणभङ्गुर समझकर इनमें आसक्ति न रखो और मनको एकाग्र करके हर क्षण परमात्माका भजन करो जिससे जन्म-मरणसे छुटकारा मिल जाय और परमात्माकी प्राप्ति हो जाय ।

१३०४—इस शरीरका क्या भरोसा ? यह क्षणभरमें नष्ट हो जाय । इस दशामें सर्वोत्तम उपाय यही है कि हरेक श्वासमें परमात्माका नाम लो । बिना उसके नामसे एक साँस भी न जाने पावे । वस, इससे बढ़कर उद्धारका कोई उपाय नहीं है ।

१३०५—परमात्माका प्रेम और उसका आशीर्वाद नहीं प्राप्त हुआ और सारे शास्त्र तथा समस्त दार्शनिकोंके वचनोंको पूर्णतः कण्ठस्थ भी कर लिया तो उनसे क्या लाभ ?

१३०६—परमात्माके प्रेम और उसकी सेवाके बिना सभी कुछ व्यर्थ है, ढोंग है ।

१३०७—सबसे बड़ी बुद्धिमानी इसीमें है कि दुनियाकी ओरसे आँख फेरकर परमात्माके चरणोंमें ध्यान लगाया जाय ।

१३०८—नाशवान् सम्पदाकी खोजमें जीवन खपाना कोरी मूर्खता नहीं तो और क्या है ? प्रतिष्ठाके पीछे परेशान रहना पागलपन है । ऊँचे-ऊँचे पदकी लालसा नरकोंमें ढकेलनेवाली है । भौतिक इच्छाओंपर फिदा हो जाना मृत्युका द्वार खोलना है ।

१३०९—उन वस्तुओंके लिये सिरतोड़ परिश्रम करना—जिन्हें भोगकर महान् दुःखदायी दण्ड भोगना पड़ेगा—सरासर धोखा है ।

१३१०—चिरकालतक जीते रहनेकी कामना कितनी ओछी बात है और उत्तम जीवन व्यतीत करके प्रमाद करना कितना बड़ा पाप है ?

१३११—शीघ्र ही आँखोंसे हट जानेवाली वस्तुओंपर ममता रखना और अक्षय आनन्दकी ओर जीवनको प्रवाहित न करना आत्मप्रवञ्चना है ।

१३१२—इस कहावतको सदैव याद रखो—‘आँख देखकर ही सतुष्ट नहीं होती और कान सुनकर ही नहीं अघाता ।’ अतएव देख-सुन पड़नेवाली चीजोंसे हृदयको हटानेका प्रयत्न करो । क्योंकि जो वासनाओंके संकेतपर चलते हैं वे आत्म-चैतन्यपर कालिमा पोत लेते हैं और परमात्माकी कृपाको खो बैठते हैं ।

१३१३—भगवान् ने कहा है—‘जो मेरा अनुसरण करता है वह अन्वकारमें नहीं भटकता ।’

१३१४—स्वभावसे ही प्रत्येक मनुष्य ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करता है; परंतु प्रभुमें श्रद्धा और भक्ति नहीं हुई तो कोरे ज्ञानसे क्या हो सकता है ?

१३३१—हमें-आंखे-हैं; परंतु हम देखते नहीं ।

१३३२—कोरे तर्कसे आजतक क्या सधा है ?

१३३३—ओ परमात्मन् ! तुम चिर सत्य हो; मुझे अपनी अखिल दयामें लय कर लो । मेरे लिये प्रायः बहुत-सी चीजें पढ़ना या सुनना दुष्कर है । तुम्हींमें मेरा चिर अभिलषित सर्वस्व है ।

१३३४—प्रभो ! सभी वैद्य चुप, शान्त हो जायँ, तुम्हारे सम्मुख सभी जीव चुप रहे, तुम केवल हमसे बोलो ।

१३३५—जितना ही अधिक मनुष्य अपने अन्तरमें मिलने लगता है और अन्तःकरणसे सरल और पवित्र हो जाता है, उतनी ही अधिक ऊँची चीजें वह बिना परिश्रमके समझने लगता है, क्योंकि उसे स्वयं परमात्मा ही अन्तःप्रकाश प्रदान करते हैं ।

१३३६—असंख्य उलझनोंमें फँसकर भी एक पवित्र सच्चा और स्थायी अन्तःकरण भ्रुवध नहीं होता; और अन्तःकरणसे शान्त और अचञ्चल होते हुए वह स्वयं किसी भी वस्तुमें किसी फलकी आकाङ्क्षा नहीं करता ।

१३३७—तुम्हारे हृदयकी असंख्य वासनाओंके सिवा तुम्हें कौन अधिक बाधा या कष्ट पहुँचाता है ?

१३३८—भले और पुण्यात्मा पुरुषको जो कुछ करना होता है वह स्वयं अपने ही भीतर तय कर लेता है ।

१३३९—वासनाएँ संतको अपने झकोरेमें नहीं खींच सकतीं, वर वह सच्चे विवेकके अनुकूल उन्हें अनुशासित करना हैं ।

१३४०—आत्मदमनके समान ससारमें कौन-सा कठोर कार्य है ? इससे बढकर युद्ध है ही कौन ? और इसमें विजय पा लेनेपर फिर पाना ही क्या रह गया ।

१३४१—हमारा प्रयत्न अपनेको जीतना और प्रतिदिन शक्तिमान् होते जाना तथा पवित्रतामें उत्तरोत्तर उन्नति करते जाना होना चाहिये ।

१३४२—इस जीवनमें सभी पूर्णतामें अपूर्णता मिली हुई है और हमारा कोई भी ज्ञान अज्ञानके बिना नहीं है ।

१३४३—विद्वत्ताकी गहरी खोजकी अपेक्षा अपने निजका विनम्र ज्ञान परमात्माके पथमें अधिक निश्चयपूर्वक ले जानेवाला है ।

१३४४—काश, मनुष्य जितना समय वाद-विवादमें लगाता है उतना ही परिश्रम अपने दुर्गुणोंके मूलोच्छेद करनेमें और सदगुणों-को धारण करनेमें लगाता तो न उतनी हानि ही होती, न विश्वमें इतना अपवाद ही फैलता और न धर्मस्थानोंमें इतना असंयम और व्यभिचार ही घुसता !

१३४५—अहा ! संसारका यश कितनी द्रुतगतिसे नष्ट होता जा रहा है । यदि विद्वत्ताके अनुरूप जीवन भी होता तब हमारा पढ़ना-लिखना सार्थक होता ।

१३४६—इस संसारमें कितने ही मनुष्य असत्य अध्ययनके कारण सत्यानाशमें मिल जाते हैं । वे परमात्माकी तनिक भी परवा नहीं करते और इसलिये कि वे नम्र होनेकी अपेक्षा बड़े होनेकी कोशिश करते हैं । वे कल्पनामें अविवेककी ओर ढल जाते हैं ।

१३१५—जो अपनेको भुलाकर ब्रह्माण्ड-संचालनकी प्रक्रियाको समझनेमें व्यस्त है ऐसे अभिमानी तत्त्ववेत्ताकी अपेक्षा परमात्माकी सेवा करनेवाला गृहस्थ ही लाख दर्जे अच्छा ।

१३१६—जिसने अपनेको अच्छी तरह पहचान लिया वह अपनेको बहुत नगण्य समझने लगता है और लोगोद्वारा की गयी प्रशंसामें फल नहीं उठता ।

१३१७—यदि मैं दुनियाकी सारी चीजोंको समझ लूँ, परंतु दान तथा दयाके भाव, जो मनुष्यको परमात्माकी दृष्टिमें ऊँचा बनाते हैं, न रखूँ तो मेरा सारा ज्ञान धूलके समान है ।

१३१८—अपनी मुक्तिके साधनोको छोड़कर जो अन्यान्य चीजोंपर, जिनकी जानकारीसे आत्माको कुछ भी लाभ नहीं होता, लट्टू हुआ फिरता है वह बड़ा अज्ञानी है ।

१३१९—बड़े-से-बड़ा ज्ञान आत्माको संतुष्ट नहीं करता; परंतु उत्तम जीवन मनको शान्ति, तुष्टि और प्रीति देता है । एक पवित्र-हृदय परमात्माके सम्मुख बड़ा सहाग है ।

१३२०—जितना ऊँचा ज्ञान उतना ही उत्तम जीवन । यदि ऐसा हो सके तो ठीक, नहीं तो सारा प्रयास भूमी कूटनेके समान व्यर्थ और निस्सार है ।

१३२१—शरीरके लिये कोई कितनी ही चेष्टा क्यों न करे, उसे कितने ही आरामसे ही रखनेका उपाय क्यों न करे, वह नाश होगा ही, आज हो या सौ वर्षके बाद ।

१३२२—बहुज होनेका दम न मरो, प्रत्युत अपनी अज्ञानता-को मान लो ।

१३२३—यदि तुम कोई बात जानकर या सीखकर लाभ उठाना चाहते हो तो छिपे रहनेका प्रयत्न करो और लोगोंसे आदर पानेकी कोशिश कभी न करो ।

१३२४—सबसे उत्तम और सबसे लाभदायक अध्ययन, सच्चा आत्मज्ञान और आत्मविचार है ।

१३२५—अपने सम्बन्धकी किसी भी वस्तुकी बड़ाई न करना और सदा दूसरोंका हित सोचना तथा उनके सम्बन्धमें ऊँचा विचार रखना ही बुद्धिमानी और पूर्णताका परिचायक है ।

१३२६—यदि तुम दूसरोंको खुली तौरपर पाप करते देखते हो या बहुत भयंकर अपराध करते पाते हो, तो भी तुम्हें अपनेको उनसे अच्छा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि तुम नहीं जानते कबतक तुम इस अच्छी स्थितिमें रह सकोगे ।

१३२७—हम सभी दुर्बल प्राणी हैं, परतु हमें अपनेसे अधिक दुर्बल किसीको भी नहीं समझना चाहिये ।

१३२८—वह पुरुष धन्य है जो बनने और बिगडनेवाले अङ्कों और अक्षरोंसे नहीं, स्वयं सत्यसे शिक्षा लेता है, जो स्वतः आत्मस्वरूप है ।

१३२९—हमारे अपने विचार और हमारी अपनी इन्द्रियाँ प्रायः हमें धोखा देती हैं और सत्यासत्यकी परख नहीं कर सकतीं ।

१३३०—प्रच्छन्न और अन्धकारगत वस्तुओंके सम्बन्धमें वाद-विवाद करने और झगड़नेसे तुम्हें क्या लाभ ? आँख खोडकर भगवान्की इस रहस्यपूर्ण रचनाको तो देखो, फिर तुम्हें और कुछ देखना ही नहीं रहेगा ।

१३३१—हमें ओखें हैं; परंतु हम देखते नहीं ।

१३३२—कोरे तर्कसे आजतक क्या सधा है ?

१३३३—ओ परमात्मन् ! तुम चिर सत्य हो; मुझे अपनी अखिल दयामें लय कर लो । मेरे लिये प्रायः बहुत-सी चीजें पढ़ना या सुनना दुष्कर है । तुम्हींमें मेरा चिर अभिलषित सर्वस्व है ।

१३३४—प्रभो ! सभी वैद्य चुप, शान्त हो जायँ, तुम्हारे सम्मुख सभी जीव चुप रहें, तुम केवल हमसे बोलो ।

१३३५—जितना ही अधिक मनुष्य अपने अन्तरमें मिलने लगता है और अन्तःकरणसे सरल और पवित्र हो जाता है, उतनी ही अधिक ऊँची चीजें वह बिना परिश्रमके समझने लगता है, क्योंकि उसे स्वयं परमात्मा ही अन्तःप्रकाश प्रदान करते हैं ।

१३३६—असंख्य उलझनोंमें फँसकर भी एक पवित्र सच्चा और स्थायी अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता; और अन्तःकरणसे शान्त और अचञ्चल होते हुए वह स्वयं किसी भी वस्तुमें किसी फलकी आकाङ्क्षा नहीं करता ।

१३३७—तुम्हारे हृदयकी असंख्य वासनाओंके सिवा तुम्हें कौन अधिक बाधा या कष्ट पहुँचाता है ?

१३३८—भले और पुण्यात्मा पुरुषको जो कुछ करना होता है वह स्वयं अपने ही भीतर तय कर लेता है ।

१३३९—वासनाएँ संतको अपने झकोरेमें नहीं खींच सकतीं, वरं वह सच्चे विवेकके अनुकूल उन्हें अनुशासित करता है ।

१३४०—आत्मदमनके समान ससारमें कौन-सा कठोर कार्य है ? इससे बढकर युद्ध है ही कौन ? और इसमें विजय पा लेनेपर फिर पाना ही क्या रह गया ।

१३४१—हमारा प्रयत्न अपनेको जीतना और प्रतिदिन शक्तिमान् होते जाना तथा पवित्रतामें उत्तरोत्तर उन्नति करते जाना होना चाहिये :

१३४२—इस जीवनमें सभी पूर्णतामें अपूर्णता मिली हुई है और हमारा कोई भी ज्ञान अज्ञानके बिना नहीं है ।

१३४३—विद्वत्ताकी गहरी खोजकी अपेक्षा अपने निजका विनम्र ज्ञान परमात्माके पथमें अधिक निश्चयपूर्वक ले जानेवाला है ।

१३४४—काश, मनुष्य जितना समय वाद-विवादमें लगाता है उतना ही परिश्रम अपने दुर्गुणोंके मूलोच्छेद करनेमें और सद्गुणोंको धारण करनेमें लगाता तो न उतनी हानि ही होती, न विश्वमें इतना अपवाद ही फैलता और न धर्मस्थानोंमें इतना असंयम और व्यभिचार ही घुसता !

१३४५—अहा ! संसारका यश कितनी द्रुतगतिसे नष्ट होता जा रहा है । यदि विद्वत्ताके अनुरूप जीवन भी होता तब हमारा पढ़ना-लिखना सार्थक होता ।

१३४६—इस संसारमें कितने ही मनुष्य असत्य अध्ययनके कारण सत्यानाशमें मिल जाते हैं । वे परमात्माकी तनिक भी परवा नहीं करते और इसलिये कि वे नम्र होनेकी अपेक्षा बडे होनेकी कोशिश करते हैं । वे कल्पनामें अविवेककी ओर ढल जाते हैं ।

१३४७—वास्तवमें बड़ा वह है जो उदारतामें बड़ा है ।

१३४८—वह वास्तवमें बड़ा है जो अपनेको छोटा समझता है और अपनी प्रतिष्ठाकी ऊँचाईका कोई मूल्य नहीं आँकता ।

१३४९—वास्तवमें वह बुद्धिमान् है जो सभी सासारिक चीजोंको तृणके सदृश समझता है ।

१३५०—वास्तवमें विद्वान् वह है जो अपना इच्छाको त्यागकर परमात्माकी इच्छासे कार्य करता है ।

१३५१—जिन्होंने पूर्णताको प्राप्त कर लिया है वे दूसरेके कहेको सहजहीसे मान नहीं लेते, क्योंकि वे जानते हैं कि मानव-दुर्बलता दुर्गुण प्रिय है और शब्दोंमें चूक जानेका विशेष भय है ।

१३५२—यह बड़ी बुद्धिमानी है कि अपनी क्रियाओंमें कभी उद्धत न होओ और न अपने ही विचारोंपर अड़ जाओ, न सभी सुनी हुई बातोंपर विश्वास ही कर लो और न शीघ्रतामें आकर जो कुछ तुमने सुना है या मान लिया है—दूसरोंपर प्रकट ही करने लगे ।

१३५३—अपने निजके अधिकारके पीछे लगे रहनेकी अपेक्षा जो बुद्धिमान् और विवेकशील हैं, उनसे राय लो, अपनेसे जो बड़े हों उनसे शिक्षा लेनेकी कोशिश करो ।

१३५४—एक सुन्दर जीवन मनुष्यको परमात्माके अनुकूल बुद्धिमान् बना देता है और उसे बहुत-सी अच्छी चीजोंमें अनुभव प्रदान करता है ।

१३५५—मनुष्य जितना अधिक नैम्र होगा, जितना अधिक परमात्मामें उसका विश्वास होगा, उतना ही अधिक वह अपने

कार्यमें कुशल होगा और उसनी ही अधिक शान्ति और हार्दिक तुष्टिको भोगेगा ।

१३५६—पवित्र धर्मग्रन्थोंमें कुतूहलकी अपेक्षा सत्यकी खोज होनी चाहिये । धर्मग्रन्थोंके प्रत्येक भागको उसी भावसे पढ़ना चाहिये जिस भावसे वह प्रारम्भ हुआ है । वाक्पटुताकी अपेक्षा धर्मशास्त्रोंमें हमें अपने आध्यात्मिक लाभकी बात खोजनी चाहिये ।

१३५७—यह मत पूछो कि इस बातको कहा किसने ? जो कुछ कहा गया है उसीपर ध्यान दो । मनुष्य जन्मते और मर जाते हैं; परंतु भगवान्की सत्य वाणी अमर है । व्यक्तित्वकी अपेक्षा किये बिना परमात्मा हमसे अनेक प्रकारसे बोलता है ।

१३५८—धर्मग्रन्थोंके पढ़नेमें हमारी अपनी उत्सुकता बाधा खड़ी करती है, क्योंकि जिस बातको पढ़कर हमें बिना कोई विशेष परिश्रम किये आगे बढ़ना चाहिये था, उसीपर हम वाद-विवाद करने लगते हैं और उसकी परीक्षा करनेमें फँस जाते हैं ।

१३५९—यदि तुम अध्ययनसे लाभ उठाना चाहते हो तो नम्रता, सादगी और निष्ठाके साथ पढ़ो, अपनी विद्वत्ताके आदरकी इच्छा न रख, लगनके साथ पूछो और सतोंके वचनोंको सुनो । 'बड़ों'के सद्बचनोंको उपेक्षाकी दृष्टिसे न देखो; क्योंकि बिना कारण ही उनकी कीमत नहीं होती अर्थात् समयपर उनका महत्त्व प्रकट होगा ।

१३६०—जब कभी मनुष्य किसी भी वस्तुकी अत्यधिक लिप्सा करता है, इसके साथ-ही-साथ उसका अन्तःकरण विक्षुब्ध हो उठता है ।

१३६१—अभिमानि और लोभीको कभी शान्ति नहीं मिल सकती । दीन और विनम्र हृदय पूर्ण शान्तिमें सदा साथ रहता है ।

१३६२—जिसने अपनी वासनाओंको पूरी तरह जीत नहीं लिया है वह शीघ्र ही फिसल जाता है और छोटी तथा नगण्य चीजोंसे भी पराजित हो जाता है ।

१३६३—जो दुर्बल हैं, जिनकी मानसिक स्थिति कमजोर है और एक प्रकारसे वासना-प्रिय और आधिभौतिक प्रकृतिके हैं—वे कठिनाईसे अपनेको सासारिक वासनाओंसे पूर्णतः हटा सकते हैं ।

१३६४—हृदयकी सच्ची शान्ति वासनाओंके दमनसे मिलती है न कि उनके अनुसार चलनेमें ।

१३६५—अपने आपको बड़ा न समझो, वरं अपना विश्वास परमात्मामें रखो । अपनी शक्तिभर परिश्रम करो, परमात्मा तुम्हारे सत्कार्यमें सहायता देगा । दूसरोंसे गरीब समझे जानेमें लज्जित न होओ ।

१३६६—उस परमात्माके आशीर्वादपर विश्वास करो जो विनम्र पुरुषकी सहायता करता है और अभिमानी पुरुषको नम्र बना देता है ।

१३६७—यदि तुम्हारे पास धन हो तो भी उसपर गर्व न करो; बलशाली मित्रोंपर गर्व न करो, परंतु गर्व करो उस परमात्मापर जो तुम्हें सब कुछ देता है और जो तुम्हें स्वयं अपना बना लेना चाहता है ।

१३६८—अपने शरीरके आकार अथवा अपने रूपकी सुन्दरताकी प्रशंसा मत करो; क्योंकि थोड़ी-सी बीमारीमें वह कुरूप और नष्ट हो जायगा ।

१३६९—प्रकृतिकी दी हुई वस्तुओंमें सुख या विश्वासकी कामना न रखो; अन्यथा परमात्माको तुम अप्रसन्न करते हो; स्वभावतः जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, वह सभी परमात्माका दिया हुआ है ।

१३७०—अपनेको दूसरोंसे बड़ा न समझो, अन्यथा परमात्माकी दृष्टिमें, जो मनुष्यकी सच्ची परख रखता है, तुम उनसे भी नीच समझे जाओगे ।

१३७१—अपने सत्कार्योंपर अभिमान न करो; क्योंकि मनुष्यका न्याय परमात्माके न्यायसे सर्वथा भिन्न है, और प्रायः जो उसे (मनुष्यका) सुखद प्रतीत होता है, वही परमात्माको अरुचिकर हो जाता है ।

१३७२—यदि तुममें कोई अच्छाई हो तो यह समझो कि दूसरोंमें तुमसे कहीं अधिक है ।

१३७३—सभीके सामने अपनेको छोटा समझना स्वतः अन्यायसङ्गत नहीं है, परंतु किसी एक भी आदमीके सम्मुख अपनेको बड़ा मानना अन्यायप्रियता है ।

१३७४—विनम्र पुरुष चिरन्तन शान्तिको प्राप्त करते हैं; अभिमानी पुरुषोंके हृदयमें ईर्ष्या और क्रोधकी भट्टी जलती रहती है ।

१३७५—सभीके सामने अपना हृदय मत खोलो । जो बुद्धिमान् हैं और परमात्मासे डरनेवाले हैं, उनसे अपने व्यवहारके सम्बन्धमें बातें करो !

१३७६—नवयुवकों और अपरिचितोंसे अधिक बातें न करो ।

१३७७—धनिकोंकी खुशामद न करो, बड़े आदमियोंके सम्मुख स्वेच्छासे न जाओ ।

१३७८—नम्र और सरल व्यक्तियोंकी सङ्गतिमें रहो, दृढ़ और धर्मात्माके साथ रहो, उनके साथ ऐसी बातोंके सम्बन्धमें सम्भाषण करो जो तुम्हें उन्नत बना सकें। किसी स्त्रीके साथ परिचित मत होओ।

१३७९—आज्ञाकारितामें रहना, अपनेसे बड़ेके नीचे रहना और अपनी ही इच्छापर नहीं चलना बहुत बड़ी बात है।

१३८०—शासन करनेकी अपेक्षा आज्ञा पाठना अधिक वाञ्छनीय है।

१३८१—जहाँ भी जाओगे तुम्हें तबतक शान्ति नहीं मिल सकती जबतक अपनेसे बड़ेकी आज्ञामें न रहोगे। स्थानोंकी कल्पना तथा परिवर्तनने बहुतोंको धोखा दिया है।

१३८२—यह सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य मनसे वही करता है जो उसकी इन्द्रियों और इच्छाके अनुकूल है और उन लोगोंपर उसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ सकता है जो उनके मनोऽनुकूल हैं।

१३८३—परंतु यदि परमात्मा हमारे बीच है तो कभी-कभी हमें अपनी शान्तिके अर्थ अपने निजी विचारोंके अनुकूल चलनेसे रोकना चाहिये।

१३८४—ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो सभी चीजोंको पूर्णतः जानता हो ? अतएव अपने ही विचारोंपर अधिक निर्भर न रहो। परंतु दूसरोंके विचारको भी सुननेके लिये तैयार रहो।

१३८५—विश्वके कोलाहलसे जहाँतक हो सके दूर भागो; सांसारिक विषयोंकी बातें बहुत बड़ी बाधाजनक हैं, कितनी ही अधिक

नेकनीयतीके साथ वे क्यों न की जायँ ! क्योंकि उनके द्वारा हम शीघ्र ही पतित हो जाते हैं और पाखण्डमें घिर जाते हैं ।

१३८६—यदि तुम्हारा बोलना न्यायसङ्गत तथा आवश्यक हो तो उन्हीं बातोंको बोलो जो तुम्हें गौरवान्वित कर सकें ।

१३८७—हमें अधिक शान्ति मिलती यदि हम अपनेको दूसरोंके काम और वचनोंमें उलझाये न होते, उन वस्तुओंमें न फँसे होते जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है ।

१३८८—वह अधिक दिनोंतक कैसे शान्ति पा सकता है जो दूसरोंकी चिन्तामें अपनेको डाले रहता है, जो सदा अवसरकी प्रतीक्षामें है, जो अपने आपको अपने हृदयमें कभी स्मरण ही नहीं करता !

१३८९—एकान्त हृदयवाले धन्य हैं; क्योंकि उन्हें बहुत शान्ति मिलेगी ।

१३९०—क्यो ? क्या कारण है कि कुछ संत इतने पूर्ण और चिन्तनशील थे ? क्योंकि उन लोगोंने अपनी इच्छाओंके समूल नाश करनेका प्रयत्न किया, अतएव वे अपने हृदयको पूर्णतः परमात्मामें लगा सके और पवित्र विश्रामके लिये अवकाश पा सके ।

१३९१—सच्चिदानन्दघनविग्रह नित्य लीलामय, अखिल सौन्दर्य-माधुर्य-प्रियत्वादि-गुणयुक्त भगवान् श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं—यह निश्चय ही प्रेमी भक्तका परम धन है और प्रिय-से-प्रिय वस्तु है ।

१३९२—यदि हम पूर्णतः अपने आपमें मर जायँ और हृदयकी वासनाओंमें उलझे न रहें तो हमें प्रभुके प्रेमका सुख मिलेगा और स्वर्गीय चिन्तनका अनुभव प्राप्त होगा ।

१३९३—सबसे बड़ी और वास्तवमें एकमात्र बाधा यह है कि हमने विषय और वासनाओंको पूर्णतः जीत नहीं लिया है और न हम उस पूर्णताके पथमें प्रवेश करना चाहते हैं, जिसपर सत हमारे पूर्व चले हैं और जब एक छोटी भी विपत्ति आती है, हम बहुत शीघ्र निराश हो जाते हैं और मनुष्यकी सहानुभूतिमूलक सहायताकी अपेक्षा करने लगते हैं ।

१३९४—यदि हम साहसी पुरुषोंकी भाँति युद्धके संघर्षमें डटे रहनेका प्रयत्न करें, तो निश्चय ही हमें परमात्माकी स्वर्गीय सहायताका अनुभव होगा ।

१३९५—वह प्रभु जो हमें संघर्षका अवसर देता है, सदा उसकी सहायता करनेके लिये तैयार है जो बहादुरीके साथ लड़ता है और उसके आशीर्वादमें विश्वास करता है ।

१३९६—यदि हम अपने धार्मिक जीवनकी कसौटी केवल बाह्य आचारोंके आधारपर रखें तो हमारी साधना शीघ्र ही समाप्त हो जाय ।

१३९७—हम कुल्हाड़ीसे समस्त वासनाओंकी जड़ काट डालें, जिसमें वासनाओंसे मुक्ति पाकर हम पहले अपनी अन्तरात्मामें शान्ति पा सकें ।

१३९८—हमारी लगन और प्रणिधान प्रतिदिन बढ़ते ही जाने चाहिये ।

१३९९—यदि हम प्रारम्भमें विशेष प्रयत्नशील हो जायें तब हम पीछे सभी कुछ सहज ही और प्रसन्नतापूर्वक कर सकेंगे ।

१४००—यदि तुम छोटी और आसान चीजोंको नहीं जीत सके तो कठिन चीजोंको कैसे जीत सकोगे ?

१४०१—प्रारम्भमें ही अपनी इच्छाको रोक लो और बुरी आदतोंको छोड़ दो, अन्यथा वे धीरे-धीरे तुम्हें बहुत बड़ी कठिनाईमें डाल देंगी ।

१४०२—ओह ! यदि तुम केवल सोचते कि अपने सद्-व्यवहारसे तुम्हें कितनी आन्तरिक शान्ति मिलती और दूसरोंको कितना आनन्द दे सकते तो मैं मानता हूँ कि तुम अपनी आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर विशेष सचेष्ट रहते ।

१४०३—यह अच्छा है कि कभी-कभी हम कठिनाई और कष्टोंमें पड़ जाते हैं; क्योंकि उनसे प्रायः हम अपने अन्तरमें प्रवेश करते हैं और यह सोचते हैं कि हमारा यहाँका जीवन निर्वासनका है और ऐसी दशामें हमें किसी भी सासारिक वस्तुमें विश्वास नहीं रखना चाहिये ।

१४०४— यह अच्छा है कि कभी-कभी हमारा विरोध हो और हमारे विषयमें लोगोंका बुरा या नीचा खयाल हो, यह भी जब कि हमारी नीयत और कार्य दोनों अच्छे हों ।

१४०५—ये वस्तुएँ प्रायः हमें नम्रताकी अभिप्राप्तिमें सहायता देती हैं और दम्भसे हमें बचाती हैं इसलिये कि जब बाहर दुनिया हमसे घृणा करती है और हमें किसी प्रकारका यश नहीं मिलता, ऐसी अवस्थामें हम केवल परमात्माको अपना आन्तरिक पारखी समझते हैं ।

१४०६—मनुष्यको परमात्मामें इतना अधिक बस जाना चाहिये कि वह मनुष्यकी सद्गुणभूतिकी कोई अपेक्षा ही न करे ।

१४०७—जब एक भलेमानुषको दुःख पहुँचता है या लालच घेर लेता है तब वह समझता है कि परमात्माकी उसे

अधिक आवश्यकता है, वह देखता है कि परमात्माकी सहायताके बिना कोई काम नहीं कर सकता ।

१४०८—तब वह अच्छी तरह देख सकता है कि पूर्ण स्वच्छन्दता और अक्षय शान्ति इस विश्वमें खोजे नहीं मिल सकती ।

१४०९—जबतक हमलोग इस संसारमें हैं हम कष्टों और प्रलोभनोंसे बच नहीं सकते । मनुष्यका यहाँका जीवन प्रलोभनका जीवन है । अतएव सभीको अपने प्रलोभनोंके सम्बन्धमें सतर्क होना चाहिये और प्रार्थनामें आत्मनिरीक्षण करना चाहिये अन्यथा आसुरी वृत्तिको उन्हें विचलित करनेका मौका मिल जायगा ।

१४१०—कोई भी मनुष्य कितना ही पूर्ण और पवित्र क्यों न हो उसे कभी-कभी प्रलोभन घेर ही लेते हैं, परंतु उसे सदा सावधान होकर प्रलोभनसे बचना चाहिये ।

१४११—प्रलोभनसे आत्मविजयका अवसर मिलता है, इससे वे प्रायः हमारे लिये लाभदायक होते हैं । यद्यपि वे हैं बड़े कष्टकर और दुःखदायी, किंतु उनसे मनुष्य विनम्र, साहसी, पवित्र और शिष्ट हो जाता है ।

१४१२—सभी संत अनेक प्रलोभनों और कष्टोंसे गुजरे हैं, उनसे लाभ उठाया है और उनपर विजय प्राप्त की है ।

१४१३—कोई भी सम्प्रदाय इतना पवित्र नहीं, कोई भी स्थान इतना एकान्त नहीं जहाँ प्रलोभन और आपदाएँ न हों ।

१४१४—कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो आजीवन प्रलोभनोंसे मुक्त हो; क्योंकि दुर्गुणकी ओर प्रवृत्ति होनेके कारण इसकी जड़ हमारे ही भीतर है ।

१४१५—जब एक प्रलोभन या विपदा चली जाती है, उसके स्थानमें दूसरी चली आती है, अतएव हमें किसी-न-किसी उलझनमें फँसे ही रहना पड़ता है, क्योंकि हम अपने आनन्दकी स्थितिसे गिर गये हैं।

१४१६—बहुत-से मनुष्य प्रलोभनोंसे भागना चाहते हैं, परंतु और भी अधिक बुरी तरह उनमें गिर जाते हैं।

१४१७—केवल भागनेसे ही हमारी विजय नहीं हो सकती, परंतु सच्ची नम्रता और धैर्यसे हमलोग अपने शत्रुको परास्त कर सकते हैं।

१४१८—जो मनुष्य केवल बाहर-ही-बाहर प्रलोभनोंसे बचनेकी कोशिश करता है, और उन्हें समूळ नष्ट नहीं करता, उसे लाभ बहुत कम होगा, उसके पास शीघ्र ही प्रलोभन लौटेंगे और वह पहिलेकी अपेक्षा बुरी दशामें पड़ जायगा।

१४१९—धीरे-धीरे धैर्य और दीर्घकष्टसे तुम सहज ही प्रलोभनों-को जीत लोगे।

१४२०—जो प्रलोभनमें उलझा हुआ है उससे रुखाईसे व्यवहार न करो, परंतु उसे धैर्य दो।

१४२१—मस्तिष्ककी अस्थिरता तथा परमात्मामें कम विश्वास ही सारे बुरे प्रलोभनोंका मूल कारण है।

१४२२—जैसे एक पतवाररहित नौका लहरोंके इशारेपर इधर-उधर नाचा करती है, इसी प्रकार वह मनुष्य, जो पथभ्रष्ट होकर ध्येय-रहित हो जाता है, कई प्रकारसे प्रलुब्ध होता है। -

१४२३—अग्नि लोहेकी परीक्षा करता है-और, प्रलोभन एक सच्चे मनुष्यकी।

१४२४—हमलोग प्रायः नहीं जानते कि हम क्या करने योग्य हैं, परंतु प्रलोभन हमें दिखा देते हैं कि हम वस्तुतः क्या हैं ।

१४२५—तो भी प्रलोभनके आरम्भमें हमें अधिक सावधान रहना चाहिये, क्योंकि यदि शत्रुको हम अपने हृदयके मन्दिरमें न आने दें, किंतु इसके पूर्व प्रवेशद्वारपर ही उसे रोक दें तब हम उसे बहुत सहजहीमें जीत सकते हैं ।

१४२६—पहले मनमें केवल दुर्गुणके विचार आते हैं, तब उसकी दृढ़ कल्पना हो जाती है; तत्पश्चात् उसमें सुखानुभूति होने लगती है ।

१४२७—जब हम प्रलोभनोंमें पड़ें, हमें निराश नहीं होना चाहिये, परंतु उतनी ही अधिक तत्परतासे हमें भगवान्‌को पुकारना चाहिये कि वह हमें सारी कठिनाइयोंसे तुरंत निकाल लें ।

१४२८—हम अपने सारे प्रलोभनों और कष्टोंमें परमात्माके हाथोंमें अपनी अन्तरात्माको विनम्र कर दें, क्योंकि वह विनीतहृदयकी रक्षा करता है ।

१४२९—प्रलोभनों और विपत्तियोंमें ही मनुष्यकी सच्ची परीक्षा होती है और इसके कारण परमात्माका आशीर्ष भी अधिक मिलता है तथा उसके सदगुण और अधिक विशेषतासे चमक उठते हैं ।

१४३०—कुछ व्यक्ति बड़े-बड़े प्रलोभनोंसे तो दूर रहते हैं, परंतु छोटे-छोटे प्रलोभनोंसे परास्त हो जाते हैं ।

१४३१—अपनी आँखें अपनेहीपर डालो और ध्यान रहे, तुम दूसरोंके कर्मोंके सम्बन्धमें अपना निर्णय न दो । दूसरोंके कामोंको समझनेमें प्रायः मनुष्य व्यर्थहीमें परिश्रम करता है ।

१४३२—यदि हमारी इच्छाओंका पवित्र ध्येय सदा परमात्मा होता तो हम इतने दुखी न होते, परंतु प्रायः कोई-न-कोई आसक्ति भीतर बनी ही रहती है या बाहरसे कुछ ऐसी घटना हो जाती है जो हमें अपने पीछे खींच ले जाती है ।

१४३३—मतभेद और निर्णयकी विभिन्नता ही प्रायः मित्रों और सहवासियोंमें, धार्मिक और भक्तपुरुषोंमें भाव-भेद उपस्थित कर देती है ।

१४३४—सौन्दर्य, यौवन और भोगकी शक्ति सभी क्रम-क्रमसे चले जाते हैं, रहती है केवल भोगकी आसक्ति, जो बुढ़ापेमें भी मन-में सुख-शान्ति नहीं आने देती । सुख-शान्तिके लिये तो इस आसक्ति-का ही त्याग करना आवश्यक है ।

१४३५—किसी भी सांसारिक विषयके लिये या किसी व्यक्तिके प्रेमके कारण हमें कोई भी पाप नहीं करना चाहिये ।

१४३६—परमात्मा यह परखता है कि मनुष्यके हृदयमें कार्यके साथ-साथ प्रेमका अंश कितना है, न कि कितना कार्य उसने किया, वह वही कार्य अधिक करता है जिससे उसका अधिक प्रेम है ।

१४३७—जो वास्तविक पूर्ण और दयालु है वह अपनेको किसी भी वस्तुमें नहीं खोजता, उसकी एकमात्र इच्छा यही रहती है कि सभी वस्तुओंमें परमात्माका कीर्ति-गौरव झलके ।

१४३८—संत किसीसे ईर्ष्या नहीं करता, क्योंकि वह व्यक्तिगत लाभकी कोई कामना ही नहीं करता, वह निरन्तर परमात्माके आनन्द-में ही प्रसन्न रहना चाहता है ।

१४३९—संत किसी भी सत्कार्यको पूर्णतः परमात्मामें निवेदन करता है ।

१४५७—साधन-मार्गमें मनुष्यकी ऐसी परीक्षा होती है जैसे आगकी भट्ठीमें सोनेकी ।

१४५८—साधन-पथमें कोई भी मनुष्य टिक नहीं सकता जबतक वह परमात्माके प्रेमके लिये हृदयसे विनम्र न हो जाय ।

१४५९—एकमात्र श्रीवासुदेवके सिवा इस जगत्में स्थावर-जङ्गम कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है । वही वासुदेव सभी प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं ।

१४६०—विद्याके समान संसारमें कोई नेत्र नहीं है, सत्यपालनके समान कोई तप नहीं है, रागके समान दुःखका कोई कारण नहीं है ।

१४६१—हिंसा, असत्य, छल, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुःखदायी पापकर्मोंसे बचना, निरन्तर पुण्यप्रद कर्मोंमें निरत रहना, अपने-अपने वर्ण और आश्रमके धर्मानुकूल सदाचारका पालन करना ही अति श्रेष्ठ कल्याणका मार्ग है ।

१४६२—जो पुरुष स्त्री, पुत्र, धनादिमें आसक्त है, उसकी बुद्धि मोह-जालमें फँसकर धर्म-पथसे डिग जाती है । अतः सबसे पहले काम और क्रोधके वेगको वशमें करे । इन्हें जीत लेनेपर सारी कठिनाइयाँ स्वयं हल हो जाती हैं ।

१४६३—जीवमात्रको दुःख न देनेकी चेष्टा करना ही सर्वोत्तम धर्म है ।

१४६४—जैसे रेशमका कीड़ा अपने-आप परिग्रहसे मारा जाता है वैसे ही मनुष्य भी परिग्रहसे मारा जाता है ।

१४६५—समस्त संसारको भलीभाँति यथार्थ दृष्टिसे देखनेवाले कभी रोते नहीं ।

१४६६—उस प्राणारामको प्राण समर्पण कर देनेपर जैसा निश्चिन्त हुआ जाता है, वैसा और किसीको भी अर्पण करनेपर नहीं, क्योंकि अन्य किसीमें इतनी सामर्थ्य ही नहीं है ।

१४६७—भलाई-बुराईसे मन हटाकर जो शान्तशील पुरुष उदासीनभावसे यात्रा कर संसारको पार कर जाते हैं वे ही सच्चे पण्डित हैं ।

१४६८—शुक्लपक्षके पीछे कृष्णपक्ष और कृष्णपक्षके पीछे शुक्लपक्ष । इसी प्रकार सुख-दुःखका चक्र चला करता है । इनकी ओरसे दृष्टि हटाकर प्रभुके मार्गमें लगे । इस चक्रसे छूटनेका बस एक यही उपाय है ।

१४६९—जो भगवान् केवल नाम लेते ही समस्त पापोंके समूहको नाश करनेवाले हैं, उनको जो हृदयमें सदा धारण किये रहता है और एक क्षणको भी नहीं त्यागता, जिसने भगवान् वासुदेवके चरणोंको निज हार्दिक प्रेमसे बाँध रखा है, वही वैष्णवोंमें उत्तम है ।

१४७०—वह सम्पत्ति, घर, सुख, मित्र, माता-पिता, भाई-बन्धु आदि जल जायँ जो श्रीहरिके चरणोंके सम्मुख होनेमें सहर्ष सहायक नहीं होते ।

१४७१—यदि मन निश्चल है, वचन निर्मल है, करनी भली है तो फिर साधकको और चाहिये ही क्या ?

१४७२—खियोंका शरीर दीप-शिखाके समान है । रे मन ! तू उसमें पतंग होकर जल मत । फिर तुझे लोक या परलोकमें कहीं भी ठौर-ठिकाना न मिलेगा ।

१४४०—अहा ! जिसे वास्तविक दयाका एक कण भी प्राप्त है वह निश्चय ही समझ जायगा कि सभी सासारिक पदार्थ अनित्यतासे ओतप्रोत हैं ।

१४४१—जिन वस्तुओंका हम अपनेमें या दूसरेमें सुधार नहीं कर सकते, उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये, जबतक परमात्मा स्थितिको उलट न दें ।

१४४२—यदि एक-दो बार चेतानेपर भी कोई न माने, उसके साथ मत झगड़ो; परंतु सभी कुछ परमात्माको सौंप दो कि उसीकी इच्छापूर्ति हो ।

१४४३—जैसे भी हो सके दूसरोंके दुर्गुण और दुर्बलताको सहन करनेमें धीर होनेकी चेष्टा करो, क्योंकि तुममें भी बहुत-सी दुर्बलताएँ ऐसी हैं जिन्हें दूसरोंको सहना पड़ता है ।

१४४४—यदि तुम अपनेको अपनी इच्छाके अनुकूल नहीं बना सकते तो तुम दूसरोंसे कैसे आशा कर सकते हो कि वे तुम्हारी इच्छाके अनुकूल हों ।

१४४५—हमलोग तो दूसरोंको पूर्ण देखना चाहते हैं, फिर भी हम अपनी त्रुटियोंका सुधार नहीं करते ।

१४४६—हम दूसरोंको बड़ी कठोरतासे सुधारना चाहते हैं, परंतु अपना सुधार नहीं करते ।

१४४७—दूसरोंकी खच्छन्दता हमें असंतुष्ट कर देती है, लेकिन हम अपनी इच्छाओंका अवरोध करना नहीं चाहते ।

१४४८—हम दूसरोंको कठिन नियमोंके भीतर रखना चाहते हैं; परंतु किसी प्रकार भी अपनेको संयत करना नहीं चाहते ।

१४४९—कोई भी मनुष्य पूर्णतः दोषरहित नहीं है, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो स्वतः सम्पूर्ण हो अथवा जो स्वयं पर्याप्त बुद्धिमान् हो । अतः हममें पारस्परिक सहनशीलता होनी चाहिये । हमें एक-दूसरेको आश्रय, पारस्परिक सहायता, शिक्षा और उपदेश देते हुए मिल-जुलकर उत्साहपूर्वक भगवान्‌के मार्गमें चलना चाहिये ।

१४५०—विपत्तिके समय ही हमें यह पता चलता है कि कितना अधिक धर्म या शक्ति हममें है ।

१४५१—किसी धार्मिक संघ या मठमें रहकर वहाँके नियमों-को निष्ठापूर्वक मृत्युपर्यन्त पालन करना सहज बात नहीं है ।

१४५२—यदि तुम धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहते हो तो प्रभुके नामपर इस संसारमें मूर्ख समझा जाकर तुम्हें संतुष्ट रहना चाहिये ।

१४५३—धार्मिक वेष धारण करने या सिर मुड़ानेसे क्या लाभ ? आचरणमें परिवर्तन और वासनाओंका सम्पूर्ण क्षय ही तुम्हें सच्चा धार्मिक व्यक्ति बना देगा ।

१४५४—जो आत्माकी मुक्ति और परमात्माकी प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुकी अपेक्षा करता है, उसे कष्ट और उदासीके अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता ।

१४५५—जो सबसे छोटा और सबका सेवक होनेका प्रयत्न नहीं करता, वह बहुत कालतक शान्तिपूर्वक नहीं रह सकता ।

१४५६—तुम सेवा करनेके लिये आये, हुक्मत चलानेके लिये नहीं । जान लो, कष्ट उठाने और परिश्रम करनेके लिये तुम इस जगत्‌में आये हो, आलसी होकर वार्तालापमें समय नष्ट करनेके लिये नहीं ।

१४५७—साधन-मार्गमें मनुष्यकी ऐसी परीक्षा होती है जैसे आगकी भट्ठीमें सोनेकी ।

१४५८—साधन-पथमें कोई भी मनुष्य टिक नहीं सकता जबतक वह परमात्माके प्रेमके लिये हृदयसे विनम्र न हो जाय ।

१४५९—एकमात्र श्रीवासुदेवके सिवा इस जगत्में स्थावर-जङ्गम कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है । वही वासुदेव सभी प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं ।

१४६०—विद्याके समान संसारमें कोई नेत्र नहीं है, सत्यपालनके समान कोई तप नहीं है, रागके समान दुःखका कोई कारण नहीं है ।

१४६१—हिंसा, असत्य, छल, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुःखदायी पापकर्मोंसे वचना, निरन्तर पुण्यप्रद कर्मोंमें निरत रहना, अपने-अपने वर्ण और आश्रमके धर्मानुकूल सदाचारका पालन करना ही अति श्रेष्ठ कल्याणका मार्ग है ।

१४६२—जो पुरुष स्त्री, पुत्र, धनादिमें आसक्त है, उसकी बुद्धि मोह-जालमें फँसकर धर्म-पथसे डिग जाती है । अतः सबसे पहले काम और क्रोधके वेगको वशमें करे । इन्हें जीत लेनेपर सारी कठिनाइयाँ स्वयं हल हो जाती हैं ।

१४६३—जीवमात्रको दुःख न देनेकी चेष्टा करना ही सर्वोत्तम धर्म है ।

१४६४—जैसे रेशमका कीड़ा अपने-आप परिग्रहसे मारा जाता है वैसे ही मनुष्य भी परिग्रहसे मारा जाता है ।

१४६५—समस्त संसारको भलीभाँति यथार्थ दृष्टिसे देखनेवाले कभी रोते नहीं ।

१४६६—उस प्राणारामको प्राण समर्पण कर देनेपर जैसा निश्चिन्त हुआ जाता है, वैसा और किसीको भी अर्पण करनेपर नहीं; क्योंकि अन्य किसीमें इतनी सामर्थ्य ही नहीं है ।

१४६७—भलाई-बुराईसे मन हटाकर जो शान्तशील पुरुष उदासीनभावसे यात्रा कर संसारको पार कर जाते हैं वे ही सच्चे पण्डित हैं ।

१४६८—शुक्लपक्षके पीछे कृष्णपक्ष और कृष्णपक्षके पीछे शुक्लपक्ष । इसी प्रकार सुख-दुःखका चक्र चला करता है । इनकी ओरसे दृष्टि हटाकर प्रभुके मार्गमें लगे । इस चक्रसे छूटनेका बस एक यही उपाय है ।

१४६९—जो भगवान् केवल नाम लेते ही समस्त पापोंके समूहको नाश करनेवाले हैं, उनको जो हृदयमें सदा धारण किये रहता है और एक क्षणको भी नहीं त्यागता, जिसने भगवान् वासुदेवके चरणोंको निज हार्दिक प्रेमसे बाँध रखा है, वही वैष्णवोंमें उत्तम है ।

१४७०—वह सम्पत्ति, घर, सुख, मित्र, माता-पिता, भाई-बन्धु आदि जल जायँ जो श्रीहरिके चरणोंके सम्मुख होनेमें सहर्ष सहायक नहीं होते ।

१४७१—यदि मन निश्चल है, वचन निर्मल है, करनी भली है तो फिर साधकको और चाहिये ही क्या ?

१४७२—खिर्योका शरीर दीप-शिखाके समान है । रे मन ! तू उसमें पतंग होकर जल मत । फिर तुझे लोक या परलोकमें कहीं भी ठौर-ठिकाना न मिलेगा ।

१४७३—अमावस्याके घोर अन्धकारमें काले पत्थरपर बैठी चोटीकी भाँति ईश्वर मानवहृदयमें गूढ़रूपसे विद्यमान है ।

१४७४—जिसे ईश्वरका साक्षात्कार हुआ है उससे बिना जाना कुछ भी नहीं रहा । जिसने परमात्माको जान लिया उसने जानने-योग्य सब कुछ जान लिया ।

१४७५—अहं और ममको दबाकर सबके भीतर भगवान्का दर्शन करना संतोंका काम है ।

१४७६—पहले भगवान्को जानो और पीछे और कुछ ।

१४७७—ईश्वरके सिवा तुम जो कुछ जानते हो उसे भूल जाओ और इधर-उधरकी बातें जाननेके लिये माथा मत मारो । केवल ईश्वरमें लीन रहो—उसीके रंगमें रँग जाओ ।

१४७८—जबतक तुम्हारे मनमें संसार बसा हुआ है तभीतक भगवान् तुमसे दूर हैं । संसारकी तरफसे तुम्हारी विरक्ति होते ही तुम जाओगे ईश्वरकी ओर, जिससे तुम्हारे अन्तःकरणमें अवश्य प्रकाश होगा । उस प्रकाशमें तुम्हें ईश्वरके सिवा और कोई न दिखायी देगा और न स्मृति अथवा वाणीमें ही आयेगा । यही योगकी वास्तविक अवस्था है ।

१४७९—जो मनुष्य अशुद्ध दर्शनसे नेत्रों और भोगोंसे इन्द्रियोंको बचाता है, नित्य ध्यानयोगसे अन्तःकरणको निर्मल रख अपने चरित्रको शुद्ध करता है और धर्मपूर्वक अर्जित अन्नसे अपना पालन करता है उसके ज्ञानमें कोई कमी नहीं ।

१४८०—वैराग्य ईश्वर-प्राप्तिका गूढ़ उपाय है । उसे तो गुप्त रखनेमें ही कल्याण है । जो अपने वैराग्यको प्रकट करते हैं उनका वैराग्य उनसे दूर भागता है ।

१४८१—सदा विनय और प्रेमपूर्वक ईश्वरका भजन करो । धर्मका अनुसरण और पूज्यभावसे सिद्ध पुरुषोंका समागम करो । सेवा और सम्मानपूर्वक साधुजनोंका सङ्ग करो । प्रफुल्ल वदनसे निर्दोष भ्रातृमण्डलके साथ रहो । अज्ञानी लोगोंके साथ दयालु-हृदय और नम्र वाणीसे तथा नौकरों और घरके लोगोंके साथ सज्जनता तथा सुशीलतापूर्वक बर्ताव करो ।

१४८२—जो आनेवाले कालकी चिन्ता किये बिना प्रभुमें रत रहता है वही सच्चा सद्गुणशील है ।

१४८३—ईश्वरसे डरना भाग्यशाली बननेका लक्षण है । पाप करते रहकर भी ईश्वरकी दयाकी आशा रखना दुर्भाग्यकी निशानी है ।

१४८४—जिसकी जीभपर भगवान्का नाम है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है । जिसने भगवान्का नाम लिया उसके द्वारा सब तपस्या हो चुकी, सब यज्ञ हो चुके, सब तीर्थोंका स्नान हो चुका, वेदका पारायण भी हो गया ।

१४८५—जो मनुष्य ईश्वरके सिवा न किसीसे डरता, न किसीकी आशा रखता है, जिसे अपने सुख-सतोषकी अपेक्षा प्रभुका सुख-सतोष अधिक प्रिय है, उसीका ईश्वरके साथ मेल है ।

१४८६—इन तीन बातोंको अपना परम शत्रु समझो—धनका लोभ, लोगोंसे मान पानेकी लालसा और लोकप्रिय होनेकी आकाङ्क्षा ।

१४८७—ईश्वरकी ओर चित्तवृत्ति रखनेसे तुम्हारी उन्नति ही होगी । इस मार्गमें कभी अवनति होती ही नहीं ।

१४८८—यदि तुम ईश्वरके प्रीतिपात्र होना चाहते हो तो ईश्वर जिस स्थितिमें रखना चाहे उसीमें संतुष्ट होना सीखो ।

१४८९—दुःख-दारिद्र्य, रोग-शोक, ताप-सताप सभी आवें, खूब आवें । किसी तरह भी डरो मत । यह सारी सौगात उस प्रयतनके घरसे ही तो आती है ।

१४९०—प्रत्येक कामको करते समय याद रखना कि मैं जो काम कर रहा हूँ उसे ईश्वर देख रहा है, मैं जो कुछ बोल रहा हूँ उसे ईश्वर सुन रहा है । मौन धारण करते समय भी उसका कारण ध्यानमें रखना, क्योंकि ईश्वर उसे भी जानता है ।

१४९१—स्पृहा तीन प्रकारकी होती है—भोगने, बोलने और देखनेकी । भोग भोगते समय ध्यान रखना कि ईश्वर देख रहा है, बोलते समय ध्यान रखना कि सत्यका विनाश न हो और देखते समय ध्यान रखना कि साधुता दूषित न हो जाय ।

१४९२—इन चार बातोंके बारेमें आत्मपरीक्षण करते रहना—
(१) कोई भी शुभ कर्म करते समय तुम निष्कपट हो न ?
(२) जो कुछ बोल रहे हो निःस्वार्थभावसे ही न ? (३) जो दान-उपकार कर रहे हो बदलेकी आशाके बिना ही न ? (४) जो धनसञ्चय कर रहे हो कृपणता छोड़कर ही न ?

१४९३—प्रभुको सदा सर्वत्र उपस्थित समझकर यथाशक्ति उसका ध्यान, भजन और आज्ञापालन करते रहना । इस मायावी संसारने आजतक असंख्य जनोंका संहार किया है, उसी प्रकार तुम्हारा भी विनाश न हो जाय इसका ध्यान रखना ।

१४९४—एक प्रभुका सदैव स्मरण रखो, मनुष्योंकी बातें रहने दो ।

१४९५—मेरा बस चले तो अपने निन्दकोंको खूब इनाम दूँ ।

कारण, उनके निन्दा और द्वेषसे तो मेरा हितसाधन ही होता है ।

१४९६—सावधान रहना, यह दुनिया शैतानकी दूकान है ।

भूलकर भी इस दूकानकी किसी चीजपर मन न चलाना, नहीं तो शैतान पीछे पडकर उस चीजके बदले तुम्हारा धर्मरूपी धन छीन लेगा ।

१४९७—मुनि—सच्चा साधक वही है जिसे ईश्वरके विचारके सिवा दूसरी बात प्रिय ही नहीं लगती ।

१४९८—ईश्वरका कहना है जब मैं अपने दासपर प्रेम करता हूँ तब मैं खुद उसकी आँखें, कान और हाथ आदि बन जाता हूँ । मेरा दास मेरेद्वारा ही देखता है, सुनता है, बोलता है और मेरेद्वारा ही सारा लेन-देन करता है ।

१४९९—दुनिया एक युवती लीके समान है । जो मनुष्य उसकी कामना करता है उसे अपना जीवन उसके लिये बढिया-बढिया गहने-कपडे जुटानेमें ही बिताना पड़ता है और जो उसकी ओरसे विरक्त रहता है वह पैर पसारकर एकान्तमें सुखसे सोता है ।

१५००—इन तीन मनुष्योंको बुद्धिमान् जानना—जिसने संसारका त्याग कर दिया है, जो मौतसे पहले ही सब तैयारियों किये बैठा है और जिसने पहलेहीसे ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त कर ली है ।

१५०१—मनुष्योंसे तो जितनी कम हो सके, बात करो; ज्यादा बात करो ईश्वरसे ।

१५०२—जो ईश्वरको अपना सर्वस्व मानता है वही असली धनवान् है । दुनियाकी चीजोंको अपनी सम्पत्ति माननेवाला तो सदा गरीब ही रहेगा ।

१५०३—ईश्वरका स्मरण मेरी जिंदगीकी खुराक, उसकी प्रशंसा मेरी जिंदगीका पेय और उसकी लज्जा मेरी जिंदगीके कपड़े हैं।

१५०४—जो मनुष्य ईश्वरसे डरता है उससे दुनिया भी डरती है और जो प्रभुसे नहीं डरता उससे दुनिया भी नहीं डरती।

१५०५—मायावी ससारसे सदा सचेत रहना। यह बड़े-बड़े पण्डितोंके मनको भी वशमें कर लेता है।

१५०६—आहारमें जिसकी लालसा बढ़ती है वह साधना-के मार्गसे जल्दी ही दूर हो जाता है।

१५०७—ईश्वरपरायण साधुजनोंसे प्रीति करना और ईश्वरसे प्रीति करना एक समान है।

१५०८—बाहरी आँखोंका नाता बाहरी चीजोंसे है, भीतरी आँखोंका नाता परमात्माकी श्रद्धासे।

१५०९—सहनशीलता और सत्यपरायणताके संयोगके बिना प्रभुप्रेम पूर्णताको प्राप्त नहीं होता।

१५१०—विषयोंमें आनन्दका स्पर्श मानकर हम प्राणोंकी बाजी लगाकर उन्हींकी ओर टौडते हैं और विषय-विषाखादनसे संतप्त होकर पुनः-पुनः जन्म-मृत्युका दुःखान्त नाटक खेलते फिरते हैं।

१५११—सतसमागम और हरिकथा प्रभुमें श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। प्रभुके विश्वाससे तीव्र जिज्ञास, जिज्ञासासे विवेक-वैराग्य और वैराग्यादिसे तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञानसे परमात्मदर्शन और परमात्मदर्शनसे सर्वोपरि स्थान प्राप्त होता है।

१५१२—ससारासक्त लोगोंसे दूर रहो । सुख देनेवालेकी प्रशंसा या खुशामद मत करो और दुःख देनेवालेका भी तिरस्कार न करो ।

१५१३—मनके विलीन होनेपर जिस सुखरूप आत्मा या द्रष्टाका प्रकाश होता है, वही ब्रह्म है, वही अमृत है, वही शुभ्र और निर्मल है, वही सबकी गति और चरम लक्ष्य है ।

१५१४—सच्चिदानन्दघनविग्रह श्रीकृष्ण हम सबके 'मोहन' हैं । परतु उनको केवल मोहन रूपसे ही नहीं जानना चाहिये । वे 'मदन-मोहन' हैं यह भी जान लेना चाहिये ।

१५१५—जिसका बाह्य जीवन उसके आन्तरिक जीवनके समान नहीं है उसका ससर्ग मत करो ।

१५१६—शक्ति कम है, बुद्धि मन्द है, इसके लिये तू चिन्ता न कर । तेरे पास जो कुछ है, उसीके द्वारा तू उनकी पूजा करनेको तैयार हो जा । फिर उनकी दयाका अनुभव होनेमें विलम्ब नहीं होगा ।

१५१७—ससार कौन है ? जो ईश्वरसे तुम्हें परे रखता है ।

१५१८—अधम कौन है ? जो ईश्वरके मार्गका अनुसरण नहीं करता ।

१५१९—यदि तुमने ईश्वरको पहचान लिया है तो तुम्हारे लिये एक वही दोस्त काफी है । यदि तुमने उसको नहीं पहचाना है तो उसे पहचाननेवालोंसे दोस्ती करो ।

१५२०—जो श्रीहरिकी कथा-सुधाका पान करते हैं, साधुपुरुषों-के सखा श्रीहरि उनके हृदयस्थ होकर कामादि वासनारूप बाह्य और आन्तरिक सभी अमङ्गलोंको दूर कर देते हैं ।

१५२१—अबोध शिशुकी तरह यदि अपनेको भूलनेकी चेष्टा करो तो देखोगे जगत्-जननीकी गोदमें आश्रय पानेमें तनिक भी देर न लगेगी । यदि अपने बलका भरोसा तुम्हें है तो तुम्हारी बात तुम्हीं जानो ।

१५२२—हमें अपने ध्येयको नित्य स्मरण कर लेना चाहिये और विशेष उत्साहसे अध्यात्ममें प्रवृत्त होना चाहिये । मानो हमारे ससारका यह प्रथम दिवस हो ।

१५२३—हमारी निष्ठाके अनुकूल ही हमारी आध्यात्मिक उन्नतिमें सफलता होती है । इसलिये जिसे विशेष उन्नतिकी अपेक्षा हो वह विशेष परिश्रम करे ।

१५२४—सत्पुरुषोंकी कार्यसिद्धि उनकी अपनी बुद्धिमत्तापर निर्भर नहीं है, परन्तु भगवान्‌के अनुग्रहपर ।

१५२५—मनुष्य मनसूबे बाँधता है और परमात्मा उन्हे मिटा देता है ।

१५२६—दिनमें सत घोर परिश्रम करते हैं और रातमें लगातार प्रार्थना, परिश्रम करते समय भी वे मानसिक प्रार्थनासे च्युत नहीं होते हैं । वे एक-एक क्षणसे लाभ उठाते हैं, भगवान्‌की सेवामें उनका प्रत्येक घटा बहुत छोटा-सा मालूम होता है ।

१५२७—महात्मा लोग सभी सम्पदा, पद, सम्मान, मित्र और अपने समीपी व्यक्तियोंको त्याग कर ससारकी किसी भी वस्तुको नहीं रखते । वे कठिनाईसे जीवनधारणमात्रके लिये आवश्यक पदार्थोंको अङ्गीकार करते हैं और आवश्यकताके समय भी शरीरकी सेवा करनेमें दुःखी होते हैं ।

१५२८—सासारिक दृष्टिसे तो वे बहुत दरिद्र होते हैं, किंतु सद्गुण और सदाचारमें बहुत धनी । बाह्यतः उनका जीवन अभावमय होता है, परंतु उनका आन्तरिक जीवन सदाचरण और दैवी आश्वासनके कारण नित्य प्रसन्न होता है ।

१५२९—वे इस पृथ्वीपर अपरिचित रहते हैं, परंतु भगवान्‌के अति निकट और परिचित मित्र । वे स्वयं अपनेको नगण्य समझते हैं; किंतु भगवान्‌की आँखोंमें अति प्रिय है ।

१५३०—सच्ची नम्रता उनका आधार है, सरल आज्ञाकारितामें उनका जीवन बीतता है, प्रेम और धीरतामें वे चलते हैं, अतएव आत्मभावमें वे नित्य उन्नति करते हैं और परमात्माकी दृष्टिमें सद्गुणोंको प्राप्त करते हैं । उपासनामें उनकी कितनी श्रद्धा है, कितनी अधिक कामना है उनमें सद्गुणोंको बढ़ानेकी और कितना समयित होता है उनका जीवन !

१५३१—उनके पदचिह्न इस बातको प्रमाणित करते हैं कि वे वस्तुतः पूर्ण और पवित्र मनुष्य हैं और वे वीरताके साथ लड़ते हुए ससारको अपने पैरोंतले कुचल देते हैं ।

१५३२—यदि तुम अविच्छिन्नरूपसे आत्मचिन्तन नहीं कर सकते तो कम-से-कम दिनमें एक बार तो किया करो, प्रातःकाल अथवा रात्रिमें । प्रातःकाल अपना ध्येय निश्चित कर लो और सोते समय अपनी परीक्षा कर लो कि तुमने क्या किया है, मन, वचन और कर्मसे तुमने कैसा व्यवहार किया है ।

१५३३—असुरोंके नीच वारोंके लिये अपनेको सुसज्जित

रक्खो । वासनाओंपर लगाम चढ़ाओ, इस प्रकार तुम उत्कट आकाङ्क्षाओंको सहज ही जीत सकोगे ।

१५३४—आलसी मत बनो । पढ़ते-लिखते रहो या प्रार्थना करते रहो, ध्यान करते रहो अथवा जनसाधारणके कल्याणके लिये कुछ करते रहा करो ।

१५३५—धार्मिक अभ्यास जनसाधारणके सम्मुख नहीं करना चाहिये, उनका अभ्यास स्वच्छन्दतापूर्वक एकान्तमें घरहीपर होता है । उनके प्रदर्शनमें हानि-ही-हानि है ।

१५३६—अपने कर्तव्यको पूरी तरह सचाईके साथ कर चुकनेपर, यदि तुम्हें समय मिले तो अपनेको अपने भीतर ले जाओ अपनी साधना और अपनी उपासनाके अनुसार ।

१५३७—अपने अन्तस्में लौटनेके लिये एक सुन्दर समय चुन लो और बहुधा भगवान्की प्रेमपरायणता और दयाशीलतापर मनन करो ।

१५३८—व्यर्थकी चेष्टाओंमें न उलझो, परंतु ऐसी चीजें पढो जो तुम्हारे मस्तिष्कको उत्तेजित करनेकी अपेक्षा तुम्हारे अन्तस्में आत्मक्षोभकी सृष्टि करें ।

१५३९—व्यर्थकी बकवादको त्याग दो, निष्प्रयोजन बातोंसे अपनेको हटा लो । नूतनता और अफवाहोंके पीछे परेशान मत हो, फिर तुम्हें उत्तम-उत्तम विषयोंपर मनन करनेके लिये पूरा समय मिलेगा । बड़े-बड़े सत लोकाळ्यके कोलाहलसे विलग रहते हैं और विशेषतः परमात्माके चिन्तनमें ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं ।

१५४०—किसीने कहा है, 'जब कभी मैं आदमियोंमें जाता हूँ, मैं जो कुछ था, उससे कम ही होकर लौटा हूँ ।'

१५४१—आवश्यकतासे अधिक शब्द बोलनेकी अपेक्षा कतई न बोलना कहीं अच्छा है ।

१५४२—जो धर्मके निगूढ, आन्तरिक और आध्यात्मिक तत्त्वोंको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि जन-रव और विश्व-के कोलाहलसे दूर सतोंकी सगतिमें रहें ।

१५४३—जो मनुष्य अपनी शान्तिको अपनी इच्छासे अपने भीतर रख सकता है, वही निर्भङ्गतापूर्वक बोल भी सकता है । जो मनुष्य इच्छापूर्वक अनुशासित होता है, वही सच्चा अनुशासन भी कर सकता है ।

१५४४—वास्तविक आनन्द उसीको मिलता है जिसका अन्तः-करण शुद्ध और पवित्र है ।

१५४५—अहा ! कितनी सुन्दर उस पुरुषकी अन्तरात्मा होनी चाहिये, जिसने कभी क्षणिक सुखोंकी खोज नहीं की और न इस ससारके किसी पदार्थमें अपनेको उलझाया और कितनी अधिक शान्ति और तृप्ति उस पुरुषको होगी जिसने व्यर्थकी चिन्ताओंका नाश कर दिया है और सदा केवल भगवत्-चिन्तन करता है ।

१५४६—किसी मनुष्यको दैवी सुख नहीं मिल सकता जबतक उसने परिश्रमपूर्वक पवित्र आत्मशुद्धिका अभ्यास न किया हो ।

१५४७—शान्ति और मौनमें धर्मात्मा पुरुष धर्मग्रन्थोंके रहस्य-को सीखता और लाभ उठाता है । धर्मात्मा पुरुषके लिये यह उत्तम है कि वह बहुत कम बाहर जाय ।

१५४८—प्रसन्नतापूर्वक बाहर जानेवाला प्रायः उदासीसे घर लौटता है । जो बाहर-बाहर फूला हुआ है वह भीतरके आनन्दको क्या जाने ?

१५४९—जिसे तुम यहाँ नहीं देख सकते उसे ओर कहीं देखोगे : स्वर्ग, पृथ्वी और सभी तत्त्वोंको देखो, क्योंकि इन्हींसे सभी वस्तुओंकी सृष्टि हुई है ।

१५५०—अपनी आँखोंको परमात्माकी ओर उठाओ और उससे अपने पापों और प्रमादोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करो ।

१५५१—व्यर्थ वस्तुओंको पाखण्डियोंके लिये छोड़ दो, परंतु भगवान्की आज्ञा-पाठन करनेके लिये तत्पर रहो ।

१५५२—अपनेको अपने कमरेमें बंद कर लो और वहाँ अपने प्रियतम प्रभुका आवाहन करो । अपने अन्तःपुरमें उससे 'हिल-मिल-कर रहो, क्योंकि इतनी बड़ी शान्ति तुम्हें अन्यत्र नहीं मिलेगी ।

१५५३—यदि तुम आध्यात्मिकतामें उन्नति करना चाहते हो तो सदा भगवान्से डरते रहो । अधिक स्वतन्त्रताका दावा मत करो । समयके कठोर नियमोंमें रहकर अपनी इन्द्रियोंका निग्रह करो और मूर्खतापूर्ण हास-परिहासमें समय नष्ट न करो ।

१५५४—हार्दिक पश्चात्तापमें लगनेपर ही भक्ति प्राप्त होती है । पश्चात्तापसे कल्याणका पथ खुल जाता है जिसे अनिश्चित बुद्धि शीघ्र ही नष्ट कर देती है ।

१५५५—सुन्दर अन्तःकरणके साथ-साथ भगवान्के भयके अतिरिक्त सच्ची स्वतन्त्रता और वास्तविक आनन्द कहीं नहीं है ।

१५५६—आनन्द उसे है जो क्षोभ उत्पन्न करनेवाली सभी वस्तुओंको हटाकर अपनेको एकमात्र पवित्र पश्चात्तापके उद्देश्यमें लगा देता है एवं उन सबको त्याग देता है जो उसकी आत्माको दूषित करते हैं ।

१५५७—वीरताके साथ आत्मनिग्रह करो, एक प्रकारका अभ्यास दूसरे प्रकारके अभ्यासको जीत लेता है ।

१५५८—जब मनुष्यको अपने पापोंके लिये गहरा पश्चात्ताप होता है तभी उसके लिये सारा ससार दुःखदायी और कष्टकर प्रतीत होने लगता है ।

१५५९—मनुष्य जितनी ही सकीर्णतासे अपने सम्बन्धमें सोचता है उतना ही अधिक वह उदास होता है ।

१५६०—भगवान्से बहुत ही विनयके साथ प्रार्थना करो कि वह तुम्हारे भीतर पश्चात्तापके भावको जाग्रत् करे ।

१५६१—जिन लोगोंको इन तीन वस्तुओंपर प्रेम है, उनमें और नरकमें ज्यादा दूरी नहीं है—(१) स्वादिष्ट भोजन, (२) सुन्दर वस्त्र, (३) धनवानोंका सहवास ।

१५६२—बाहरी एकान्त वास्तविक एकान्त नहीं । मनमें चिन्ता और शोकका प्रवेश न हो वही सच्चा एकान्त है । ऐसा एकान्तवास करनेवाला ही सच्चा सङ्गरहित है ।

१५६३—मनको सदा वशमें रखो । यदि वह हाथमें होगा तो उसमें प्रवेश करनेको दूसरेको रास्ता ही नहीं मिलेगा ।

१५६४—जो मनुष्य ईश्वरपर विश्वास रखकर उसीकी प्रीतिके

१५८०—सभी प्राणियोंका आहार भगवान्‌के भण्डारसे आता है।

१५८१—कुशलसे तो वह है जो ससारके पार उतर गया है और शान्तिपूर्वक वह है जिसने स्वर्गीय जीवनका आनन्द पाया।

१५८२—ये तीन अवस्थाएँ तुम्हारी न हों तो नरक अवश्यम्भावी है—

(१) जो दिन बीते जा रहे हैं उनके लिये खेद करना,
(२) आजका दिन सर्वश्रेष्ठ मानकर अपनी आत्माके कल्याणार्थ यथाशक्ति कार्य करना और (३) कल ही तुम्हारी मृत्यु होनेवाली है इसे सदा याद रखना।

१५८३—समस्त जीवोंके परम सुहृद् भगवान्‌ने हमारे लिये जो व्यवस्था की है, वह कभी हमारा अकल्याण नहीं कर सकती। सुख-दुःख तो उनके चरण-युगल हैं। आइये, इन चरण-युगलोंमें प्रणाम करें।

१५८४—मृत्यु आकर तुम्हें जगावे उसके पहले जाग जाओ।

१५८५—धनवान्‌ होते हुए भी जिसकी वनेच्छा दूर नहीं हो गयी है, उसे मैं सबसे अधिक गरीब समझता हूँ।

१५८६—जीभसे प्रार्थना बोल देने और सिर झुका देनेसे ही तो कुछ नहीं होता। प्रार्थना एकाग्रतापूर्वक होनी चाहिये।

१५८७—हे मानवो ! ईश्वरके मार्गमें न तो आँखोंकी जरूरत है और न जीभकी। जरूरत है पवित्र हृदयकी। ऐसा प्रयत्न करो जिससे वह पवित्रता पाकर तुम्हारा मन जाग जाय।

१५८८—पूरे जागे हुए मनका अर्थ यही है कि ईश्वरके सिवा दूसरी किसी चीजपर चले ही नहीं।

१५८९—नरकके बीज बोकर स्वर्गके फलकी आशा रखनेसे अधिक मूर्खता क्या होगी ?

१५९०—सासारिक वस्तुएँ ऐसी अनिष्टकारक हैं कि उनकी इच्छामात्र ईश्वरसे दूर ले जाती है, यदि कोई उन्हें पा ले तब तो उसकी क्या हालत होगी ?

१५९१—धर्मके अनुष्ठानसे जो फल मिले उसे श्रीप्रभुप्रेमके लिये उत्सर्ग कर दो ।

१५९२—ईश्वरपर निर्भर रहकर ही दुनियाकी गुलामीसे छूटा जा सकता है ।

१५९३—ईश्वराज्ञाका पालन करनेपर ही सच्चा आनन्द मिलेगा ।

१५९४—जो अपने उपदेशको अनुभव और आचरणमें नहीं उतार सकता उसके उपदेशोंसे कुछ भी नहीं बन सकता और वह सदा अपना तथा दूसरोंका अमूल्य समय नष्ट करता है ।

१५९५—परमात्मा सबके अदर है । फिर एक सुमार्गमें जाता है, दूसरा कुमार्गमें । इसका कारण ? कारण यही है कि सुमार्गमें जानेवाला अपना सब कुछ भगवान्‌को सौंप देता है और कुमार्गमें जानेवाला अपना सब कुछ इन्द्रियोंको सौंप देता है ।

१५९६—पारस तो लोहेको छूकर सोना बना देता है, परंतु सद्गुरु अपने शरणागत शिष्यका तमाम अज्ञान-मोह दूर करके उसे अपने समान बना देते हैं ।

१५९७—जो बनानेवाला है, पालक है हम उसे ही क्यों न प्रसन्न करें ? ऐसी क्या वस्तु है जो उसकी प्रसन्नतासे नहीं मिल सकती ? ससारमें हम किस-किसको प्रसन्न करते फिरें ?

लिये धर्माचरण करता है, वही निर्भय है और उसे ही प्रभु अपनी सेवामें लेता है ।

१५६५—किस उपायसे प्रभु-कृपा प्राप्त हो? प्रभु-प्रेममें बाधकरूप इस संसार और बाह्य जीवनमें आसक्तिको छोड़ दे ।

१५६६—लौकिक भोगोंसे विमुखता, ईश्वरकी आज्ञाका पालन और ईश्वरेच्छासे जो कुछ हो जाय उसीमें प्रसन्नता मानना सच्ची प्रभु-भक्तिके लक्षण हैं ।

१५६७—व्यवहारको शुद्ध रखनेके दो उपाय हैं—धीरज और प्रेम।

१५६८—शुद्ध प्रेमसे ही शुद्ध धर्मानुष्ठान सम्भव है । जिसकी जड़ शुद्ध नहीं, उसके डारू-पात और फरू किस प्रकार शुद्ध हो सकते हैं ?

१५६९—अहम्भन्यता और ममताको दबाकर सबके साथ बन्धुत्व स्थापित करना एक ऋषिका काम है ।

१५७०—मैं जिस समय इन्द्रियोंका निग्रह करनेमें असमर्थ हो जाता हूँ तो परमेश्वरका स्मरण करता हूँ और जब मैं उसकी याद करता हूँ तो वह जरूर ही मेरी खबर लेता है ।

१५७१—साधुताके तीन लक्षण हैं—(१) संसारका ऊँच-नीच तुम्हारे हृदयमें प्रवेश न करने पावे—मिट्टीकी भौंति सोने-चाँदीको भी त्याग देनेकी क्षमता तुममें होनी चाहिये । (२) लोकापवादपर दृष्टि मत दो, न लोक-प्रशंसासे फूटो और न लोकनिन्दासे अप्रसन्न हो ! (३) तुम्हारे हृदयमें लौकिक विषयकी कामना निःशेष हो जाय । दूसरोंको विषयभोग और स्वादिष्ट

१५८९—नरकके बीज बोकर स्वर्गके फलकी आशा रखनेसे अधिक मूर्खता क्या होगी ?

१५९०—सासारिक वस्तुएँ ऐसी अनिष्टकारक हैं कि उनकी इच्छामात्र ईश्वरसे दूर ले जाती है, यदि कोई उन्हें पा ले तब तो उसकी क्या हालत होगी ?

१५९१—धर्मके अनुष्ठानसे जो फल मिले उसे श्रीप्रभुप्रेमके लिये उत्सर्ग कर दो ।

१५९२—ईश्वरपर निर्भर रहकर ही दुनियाकी गुलामीसे छूटा जा सकता है ।

१५९३—ईश्वराज्ञाका पालन करनेपर ही सच्चा आनन्द मिलेगा ।

१५९४—जो अपने उपदेशको अनुभव और आचरणमें नहीं उतार सकता उसके उपदेशोंसे कुल भी नहीं बन सकता और वह सदा अपना तथा दूसरोंका अमूल्य समय नष्ट करता है ।

१५९५—परमात्मा सबके अदर है । फिर एक सुमार्गमें जाता है, दूसरा कुमार्गमें । इसका कारण ? कारण यही है कि सुमार्गमें जानेवाला अपना सब कुछ भगवान्‌को सौंप देता है और कुमार्गमें जानेवाला अपना सब कुछ इन्द्रियोंको सौंप देता है ।

१५९६—पारस तो लोहेको छूकर सोना बना देता है, परंतु सद्गुरु अपने शरणागत शिष्यका तमाम अज्ञान-मोह दूर करके उसे अपने समान बना देते हैं ।

१५९७—जो बनानेवाला है, पालक है हम उसे ही क्यों न प्रसन्न करें ? ऐसी क्या वस्तु है जो उसकी प्रसन्नतासे नहीं मिल सकती ? ससारमें हम किस-किसको प्रसन्न करते फिरें ?

१५८०—सभी प्राणियोंका आहार भगवान्‌के भण्डारसे आता है।

१५८१—कुशलसे तो वह है जो ससारके पार उतर गया है और शान्तिपूर्वक वह है जिसने स्वर्गीय जीवनका आनन्द पाया।

१५८२—ये तीन अवस्थाएँ तुम्हारी न हों तो नरक अवश्यम्भावी है—

(१) जो दिन बीते जा रहे हैं उनके लिये खेद करना,
(२) आजका दिन सर्वश्रेष्ठ मानकर अपनी आत्माके कल्याणार्थ यथाशक्ति कार्य करना और (३) कल ही तुम्हारी मृत्यु होनेवाली है इसे सदा याद रखना।

१५८३—समस्त जीवोंके परम सुहृद् भगवान्‌ने हमारे लिये जो अवस्था की है, वह कभी हमारा अकल्याण नहीं कर सकती। सुख-दुःख तो उनके चरण-युगल हैं। आइये, इन चरण-युगलोंमें प्रणाम करे।

१५८४—मृत्यु आकर तुम्हें जगावे उसके पहले जाग जाओ-।

१५८५—धनवान्‌ होते हुए भी जिसकी धनेच्छा दूर नहीं हो गयी है, उसे मैं सबसे अधिक गरीब समझता हूँ।

१५८६—जीभसे प्रार्थना बोल देने और सिर झुका देनेसे ही तो कुछ नहीं होता। प्रार्थना एकाग्रतापूर्वक होनी चाहिये।

१५८७—हे मानवो ! ईश्वरके मार्गमें न तो आँखोंकी जख्खरत है और न जीभकी। जख्खरत है पवित्र हृदयकी। ऐसा प्रयत्न करो जिससे वह पवित्रता पाकर तुम्हारा मन जाग जाय।

१५८८—पूरे जागे हुए मनका अर्थ यही है कि ईश्वरके सिवा दूसरी किसी चीजपर चले ही नहीं।

१५८९—नरकके बीज बोकर स्वर्गके फलकी आशा रखनेसे अधिक मूर्खता क्या होगी ?

१५९०—सासारिक वस्तुएँ ऐसी अनिष्टकारक हैं कि उनकी इच्छामात्र ईश्वरसे दूर ले जाती है, यदि कोई उन्हें पा ले तब तो उसकी क्या हालत होगी ?

१५९१—धर्मके अनुष्ठानसे जो फल मिले उसे श्रीप्रभुप्रेमके लिये उत्सर्ग कर दो ।

१५९२—ईश्वरपर निर्भर रहकर ही दुनियाकी गुलामीसे छूटा जा सकता है ।

१५९३—ईश्वराज्ञाका पालन करनेपर ही सच्चा आनन्द मिलेगा ।

१५९४—जो अपने उपदेशको अनुभव और आचरणमें नहीं उतार सकता उसके उपदेशोंसे कुछ भी नहीं बन सकता और वह सदा अपना तथा दूसरोंका अमूल्य समय नष्ट करता है ।

१५९५—परमात्मा सबके अदर है । फिर एक सुमार्गमें जाता है, दूसरा कुमार्गमें । इसका कारण ? कारण यही है कि सुमार्गमें जानेवाला अपना सब कुछ भगवान्‌को सौंप देता है और कुमार्गमें जानेवाला अपना सब कुछ इन्द्रियोंको सौंप देता है ।

१५९६—पारस तो लोहेको छूकर सोना बना देता है, परंतु सद्गुरु अपने शरणागत शिष्यका तमाम अज्ञान-मोह दूर करके उसे अपने समान बना देते हैं ।

१५९७—जो बनानेवाला है, पालक है हम उसे ही क्यों न प्रसन्न करे ? ऐसी क्या वस्तु है जो उसकी प्रसन्नतासे नहीं मिल सकती ? ससारमें हम किस-किसको प्रसन्न करते फिरें ?

१५९८—अपने साधनमें लगे, दूसरोंकी निन्दामें जरा-सा भी समय व्यर्थ न गँवाओ । समय बड़ा मूल्यवान् है ।

१५९९—भगवान् अपने भक्तको कभी अज्ञानी नहीं रहने देते ।

१६००—जीवन्मुक्त उसे कहते हैं जिसके हृदयमें पूर्ण शान्ति आ जाती है, आनन्दका भण्डार खुल जाता है तथा जिसका चित्त सदा परमात्माके चरणोंमें लगा रहता है ।

१६०१—यह जगत् एक रंगशाला है । जैसे रंगशालाके मञ्च-पर पात्र अपना वेष बदलकर आते हैं, वैसे ही इस ससारमें भी जीव वेष बदल-बदलकर आते हैं ।

१६०२—तुम हृदयको विल्कुल खाली कर दो, उसमें कुछ भी न रहने दो, तब उसमें भगवान् वास करेंगे और जो कुछ भी तुम्हारे मुँहसे निकलेगा, वही भगवान्की ओरसे निकलेगा । बोंसुरीकी तरह अपनेको पोल्ना बना दो, फिर सदा भगवान्के अधरोंका रसपान करोगे और उसीका सुर तुम्हारे भीतरसे बजेगा ।

१६०३—भगवान्की शरणमें जानेके सिवा हृदयके मैल धोने-का कोई साधन है नहीं ।

१६०४—जो श्रद्धा और भक्तिसे भगवान्का पल्ला पकड़ता है, भगवान् उसका सारा भार अपने कंधेपर उठा लेते हैं और उसे तनिक भी कष्ट नहीं होने देते ।

१६०५—जबतक हृदयमें विकार है, विषाद है, भय है और अविश्वास है, तबतक श्रद्धा और भक्ति दृढ़ नहीं हो सकती ।

१६०६—हम क्या चाहते हैं ? ईश्वरका साक्षात्कार ।

क्यों : आत्मिक शान्तिके लिये । आत्मिक शान्ति क्यों चाहते हैं : दुःखोंसे छूटनेके लिये ।

१६०७—जबतक इच्छा है, तबतक दुःख जरूर है । इच्छा गयी तो दुःख भी गया ।

१६०८—गुरुका काम शिष्यको अपने सदृश बना लेना है ।

१६०९—भगवत्साक्षात्कार करनेवालेका नाम ही विद्वान् है ।

१६१०—हम भगवत्साक्षात्कार भी चाहें और सांसारिक चिन्ताओंको भी न छोड़ें—यह कैसे हो सकता है ?

१६११—शरीरके द्वारा, वाणीके द्वारा, मन तथा इन्द्रियोंके द्वारा बुद्धिसे, आत्मासे अथवा स्वाभाविक प्रकृतिके वशीभूत होकर जो भी कर्म करता हूँ, उन सबको हे नारायण ! तुम्हारे चरणोंमें निवेदन कर देता हूँ ।

१६१२—यह शरीर सैकड़ों प्रकारके जोड़ लगनेके कारण बहुत ही कमजोर बना हुआ है । यह एक-न एक दिन अवश्य नष्ट हो जायगा, क्योंकि यह नाशवान् है । अरे ! हतभागी नीच ! तू शोक क्यों करता है ? सब रोगोंको दूर करनेवाले कृष्णरसायनका निरन्तर पान क्यों नहीं करता ? उसके पान करनेसे सम्पूर्ण रोग चले जायँगे ।

१६१३—जिनके करकमलोंमें मनोहर मुरलिका विराजमान है, जिनके शरीरकी आभा नूतन मेघके समान श्याम है, जो पुनीत पीताम्बरको धारण किये हैं, जिनका मुख शरदके पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर है, नेत्र कमलके समान कमनीय हैं तथा अधर बिम्बाफलके समान लाल हैं, ऐसे श्रीकृष्णको छोड़कर

में काई दूसरा परतत्त्व नहीं जानता । मेरे सर्वस्व तो ये ही वृन्दावनविहारी श्रीमुरलीमनोहर हैं ।

१६१४—यमुनाजीका सुन्दर पुलिन हो, वृन्दावनके सुन्दर वनोंमें वशी बजाते हुए हलधर और सुदामा आदि प्यारे गोपोंके सहित आप विचरण कर रहे हो । हे मेरे प्राणनाथ ! हे मेरे मदनमोहन ! ओ मेरे चित्तचोर ! मेरे ऐसे दिन कब आवेंगे, जब मैं तुम्हारी इस प्रकारकी छविको हृदयमें धारण किये पागलोंकी भाँति कृष्ण-कृष्ण चिल्लाता हुआ अपने जीवनका सम्पूर्ण समय निमिषकी नाईं बिता दूँगा ।

१६१५—नाथ ! मुझे रोनेका वरदान दो । रोता रहूँ, पागलोंकी भाँति सदा रोऊँ, उठते-बैठते, सोते-जागते सदा इन आँखोंमें आँसू ही भरे रहें, रोना ही मेरे जीवनका व्यापार हो, खूब रोऊँ, हर समय रोऊँ, हर जगह रोऊँ और जोर-जोरसे रोते-रोते तुम्हें—केवल तुम्हें पुकारता रहूँ ।

१६१६—वह कुल परम पावन है, वह जननी धन्य है और वह वसुन्धरा भाग्यशालिनी है, जहाँपर भगवद्भक्त महापुरुष उत्पन्न हुआ हो ।

१६१७—श्रीगङ्गाजी पापोंको क्षय कर देती हैं । चन्द्रमा तापको शमन करनेमें समर्थ है और कल्पवृक्ष दैन्यको नष्ट कर देता है, किंतु संत महापुरुष तो पाप, ताप और दैन्य इन सभीको नष्ट करनेमें समर्थ होते हैं ।

१६१८—शास्त्र पढ़नेपर भी यदि उसके अनुसार आचरण न करे तो वह मनुष्य मूर्ख ही है ।

१६१९—कृपालु सत भोजके वृक्षके समान दूसरोंके हितके लिये भारी विपत्ति सहते हैं; किंतु दुष्टलोग सनकी भोंति दूसरोंको बाँधते हैं और उन्हें बाँधनेके लिये अपनी खालतक खिंचवाकर विपत्ति सहकर मर जाते हैं । दुष्ट बिना किसी स्वार्थके भी सोंप और चूहेके समान अकारण ही दूसरोंका अपकार करते हैं ।

१६२०—सुन्दर, सुललित स्वरयुक्त धाराप्रवाह वाणी और बढ़िया व्याख्यान देनेकी युक्ति—ये सब मनुष्यको ससारी भोगोंकी ही प्राप्ति करा सकते हैं । इनके द्वारा मुक्ति अर्थात् प्रभु-पाद-मार्गोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

१६२१—धर्मका आचरण करो और विषय-वासनारूपी जो सासारिक व्यवहार हैं उन्हें छोड़ दो । सत्पुरुषोंका निरन्तर सङ्ग करो और हृदयसे भोगोंकी इच्छाको निकालकर बाहर फेंक दो । दूसरोंके गुण-दोषका चिन्तन करना एकदम त्याग दो । श्रीहरिकी सेवा-कथारूपी जो रसायन है, उसका निरन्तर पान करते रहो । बस, मनुष्यमात्रका इतना ही कर्तव्य है ।

१६२२—जो साठ घड़ोंके दिन-रातमें दो घड़ी सध्या-पूजनके लिये नहीं निकाल सकता, वह आगे उन्नति ही क्या कर सकता है ?

१६२३—जिसके हृदयमें भगवत्प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे फिर अन्य ससारी बातें भली ही किस प्रकार लग सकती हैं ? जिसकी जिह्वाने मिश्रीका रसास्वाद कर लिया है, फिर वह गुड़के मैलको आनन्द और उल्लासके साथ स्वेच्छासे कब पसंद कर सकता है ?

१६२४—प्रेमीकी स्थिति सदा एकरस रहती है, उसे प्रतिक्षण अपने प्रियतमसे मिलनेकी छटपटाहट होती रहती

है। वह सदा अमृत ही बना रहता है। प्यारेके सिवा उसका दूसरा कोई है ही नहीं।

१६२५—जिस कर्मके द्वारा भगवान् हरि संतुष्ट हो सकें, वास्तवमें वही कर्म कहा जा सकता है और जिससे मुकुन्दचरणोंमें रति उत्पन्न हो सके, वही सच्ची विद्या है। जिस वर्णमें, जिस कुलमें और जिस आश्रममें रहकर श्रीकृष्ण-कीर्तन करनेका सुन्दर सुयोग प्राप्त हो सके, वही वर्ण, कुल, आश्रम शुभ और परम श्रेष्ठ है।

१६२६—श्रीकृष्णके मनोहर नामोंका ही स्मरण करते रहना चाहिये। श्रीकृष्ण-कथाओंके अतिरिक्त अन्य कोई भी संसारी बातें न सुननी चाहिये। खाते कृष्ण, पीते कृष्ण, चलते कृष्ण, उठते कृष्ण, बैठते कृष्ण, हँसते कृष्ण, रोते कृष्ण—इस प्रकार सदा कृष्ण-कृष्ण ही कहते रहना चाहिये।

१६२७—श्रीकृष्णनामामृतके अतिरिक्त इन्द्रियोंको किसी प्रकारके दूसरे आहारकी आवश्यकता ही नहीं है। इसीका पान करते-करते वे सदा सुतृप्त बनी रहेंगी।

१६२८—भगवान् ऐसे दयालु हैं कि भक्तिसे दिये हुए एक चुल्लू जल तथा एक तुलसीपत्रके द्वारा ही अपनी आत्माको भक्तोंके लिये दे देते हैं।

१६२९—प्रेम अन्धा है—यह कौन कहता है? असलमें प्रेमके अतिरिक्त अन्य सभी अन्धे हैं। प्रेम ही एक ऐसा अमोघ बाण है जिसका लक्ष्य कभी व्यर्थ नहीं जाता। उसका निशाना

सदा ही ठीक लक्ष्यपर बैठता है। 'अपना' कहीं भी छिपा हो, प्रेम उसे वहीं खोज निकालेगा।

१६३०—तुम जैसी हालतमें हो, जहाँ हो, जैसे हो, जिस किसी भी वर्णके हो, जैसी भी स्थितिमें हो, हर समय और हर कालमें हरिके सुमधुर नामोंका सकीर्तन कर सकते हो। नाम-जपसे पापी-से-पापी मनुष्य भी परम पावन बन जाता है, अत्यन्त नीच-से-नीच भी सर्वपूज्य हो जाना है और बुरे-से-बुरा भी महान् भगवद्भक्त बन जाता है।

१६३१—भगवन्नामके सम्मुख भारी-से-भारी पाप ठहर नहीं सकते। भगवन्नाममें पापोंको क्षय करनेकी इतनी भारी शक्ति है कि चाहे कोई कितना भी घोर पापी-से-पापी क्यों न हो, उतने पाप वह कर ही नहीं सकता जितने पापोंको मेटनेकी शक्ति हरिनाममे है।

१६३२—भगवान् जिसे कृपा करके अपनी शरणमें लेते हैं, सबसे पहले, धीरेसे उसका सर्व-‘स्व’ अपहरण कर लेते हैं। उसके पास ‘अपना’ कहनेके लिये कुछ भी रहने नहीं देते।

१६३३—जप-तप, भजन-पूजन तथा लौकिक, पारलौकिक सभी प्रकारके कार्योंमें विश्वास ही मुख्य है। विश्वासके सम्मुख कोई बात असम्भव नहीं।

१६३४—प्रभुके प्यारे भक्त अपनी वाणीमे निरन्तर सुमधुर हरिनामका उच्चारण करते रहते हैं, मनसे उम मुरलीमनोहरके सुन्दर रूपका चिन्तन करते रहते हैं और गरीबमे सदा प्रभुके चरणोंमें दण्ड-प्रणाम करते रहते हैं। वे सदा विक्ल-मे, पागल-से, अधीर-से तथा अतृप्त-से ही बने रहते हैं ! उनके नेत्रोंसे सदा जल टपकता

रहता है। इस प्रकार वे अपनी सम्पूर्ण आयुको श्रीहरिके ही निमित्त समर्पण कर देने हैं।

१६३५—प्रेममें उन्मत्त हुआ भक्त कभी तो हँसता है, कभी रोता है, कभी गाता है और कभी ससारकी लोक-लज छोड़कर दिगम्बरवेशमें ताण्डवनृत्य करने लगता है। उसका चलना विचित्र है, वह विलक्षण भावसे हँसता है, उसकी हर चेष्टामें उन्माद है। उसकी भाषा ससारी भाषासे भिन्न है। वह संसारके विधि-निषेधोंका गुलाम नहीं।

१६३६—कलियुगमें हरिनाम, हाँ केवल हरिनाम, एकमात्र हरिनाम ही ससार-सागरसे पार होनेका 'सर्वोत्तम साधन' है। इसके सिवा इस कालमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, दूसरी कोई गति है ही नहीं।

१६३७—जिस क्षण 'तेरा हूँ' कहकर भक्त भगवान्को पुकारता है, उसी क्षण प्रभु उसे अपना लेते हैं। वे तो भक्तोंके लिये भूखे-से बैठे रहते हैं, लोगोंके मुखकी ओर ताकते रहते हैं कि अब कोई कहे कि 'मैं तुम्हारा हूँ'।

१६३८—जलकी मथनेपर घी भले ही निकले, वालूकी पेरने-पर उससे तेल भले ही निकले, परतु भगवान्के भजनके बिना इस संसार-सागरको तरना सर्वथा असम्भव है—यह अकाव्य सिद्धान्त है।

१६३९—चारों वेद, छहों शास्त्र, अठारहों पुराण पढ़कर सारा ज्ञान प्राप्तकर और सभी संतोंका सत्संग प्राप्तकर अन्तमें तुम 'राम-नाम'में ही लौटोगे। फिर अभीसे उसीमें क्यों नहीं लगते !

१६४०—जिसमें बुलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण प्राणोंके सहित मन ओत-प्रोत है, उस एक आत्माको ही जानो और सब बातोंको छोड़ दो; यही अमृतका सेतु है ।

१६४१—प्रकृति और पुरुषका नियन्ता, सकल प्राणियोंका अन्तर्यामी और षड्गुण-ऐश्वर्ययुक्त परमात्माके चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी ससार-भय दूर नहीं होता ।

१६४२—जिसने इच्छाका त्याग किया, उसको घर छोड़नेकी क्या आवश्यकता और जो इच्छाका बंधु आ है, उसको वनमें रहनेसे क्या लाभ हो सकता है, सच्चा त्यागी जहाँ रहे, वही वन और वही कन्दरा है।

१६४३—न जीनेकी इच्छा रखो न मरनेकी वर हर बातके लिये ऐसे तैयार रहो जैसे नौकर मालिकके हुकमके लिये ।

१६४४—भगवान् विष्णुका आश्रय ही संसारासक्त मनवाले लोगोंके लिये ससारचक्रका नाश करनेवाला है । इसीको बुद्धिमान् लोग ब्रह्मनिर्वाण सुख कहते हैं, अतएव तुमलोग अपने-अपने हृदयमें स्थित भगवान्का भजन करो ।

१६४५—रागके समान आग नहीं, द्वेषके समान भूत-पिशाच नहीं, मोहके समान भयकर जल नहीं और तृष्णाके समान भीषण नदी नहीं ।

१६४६—कौन बेरी ली है ? कौन तेरा पुत्र है ? यह ससार अतीव विचित्र है । तू कौन है ? कहाँसे आया है ? हे भाई ! इस तत्त्वपर विचार कर ।

१६४७—आत्मजयसे बढ़कर और कोई विजय नहीं है । वही है सशस्त्र स्थायी सुखोंका आधार ।

१६४८—बदगी जो सम्पूर्ण हृदयके साथ न हो, निष्फल है ।

१६४९—अचेत आदमीके लिये ससार भोग-विलासका स्थल है, परंतु विचारवान्के लिये युद्धक्षेत्र है, जहाँ जीवनपर्यन्त मन और इन्द्रियोंसे संग्राम करना पड़ता है ।

१६५०—सच्चा खोज करनेवाला वही है जो जबतक आप न खो जाय मालिकको खोजता रहे ।

१६५१—आवेगमें आकर कोई काम मत करो । जो मनुष्य अपने आवेगोंका दास है वह अपनेको संयममें नहीं रख सकता । उसका जीवन अस्त-व्यस्त रहता है ।

१६५२—जिसने एक बार श्रीकृष्णरूपको देखा, उसकी आँखें फिर उससे नहीं फिरती, अधिकाधिक उसी रूपका आलिंगन करती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं ।

१६५३—जिस ओर हम दौड़े वह सब दिशाएँ तेरी ही देखीं—सब ओर तू ही था । जिस स्थानपर हम पहुँचे वह सब तेरी ही गलीका सिरा देखा—सर्वत्र तुझे ही पाया ।

१६५४—अगर गिरो तो अपने कुकर्मोंको दोष दो, अगर ऊँचे चढ़ो तो मालिकका गुण गाओ ।

१६५५—मनुष्यका खड़ा रहना, चलना, दूसरोंको ठगना, छिपकर कार्य करना, दो आदमियोंका गुप्त बातचीत करना—सब कुछ परमेश्वर जानता है ।

१६५६—सर्वव्यापी ब्रह्ममें ही सुख है, अल्पपरिच्छिन्नमें सुख नहीं है । ब्रह्म सुखरूप ही है अतएव उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये ।

१६५७—जो भगवान्‌के नामोंका सकीर्तन करता है, जो हरिभक्तोंको प्रिय है, जो महान्‌ पुरुषोंकी सेवा करता है, ऐसा भक्त वन्दनीय है ।

१६५८—जो मनुष्य सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न उदास होता है, उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिये ।

१६५९—सत्य बातका विश्वास करो और पापोंका तिरस्कार करो; जो शब्द सच्चे हृदयसे नहीं निकलते हैं, उनका न निकलना ही अच्छा है ।

१६६०—जिसका मन ईश्वरपरायण है, वही सत्पुरुष है । जिसने कामिनी-काञ्चनका त्याग कर दिया है, वही सत्पुरुष है ।

१६६१—ओ मेरे सिरजनहार ! तुम्हींमें अनुरक्त हूँ और तुम्हींमें उन्मत्त हूँ । रग भी तुम्हारा ही लगा हुआ है, तुम्हारे ही साथ खेलता हूँ, तुम्हींसे मिलता हूँ । मेरे मालिक ! मैं तो एक तुम्हींपर आशिक हूँ । इश्क लगाने और कहाँ जाऊँ ।

१६६२—जो वस्तु तुम्हारे मनको अच्छी लगती है, उसे छोड़ दो और जो चीज अच्छी नहीं लगती, उसपर प्रेम करो । यह तप हमेशा चाल रखो ।

१६६३—जो त्रिलोकीके सम्पूर्ण वैभवके लिये भी आधे क्षणके लिये देवदुर्लभ भगवान्‌के चरणकमलोंके ध्यानको नहीं छोड़ता, वही सच्चा भक्त है ।

१६६४—जो सब भूतप्राणियोंमें परमात्माको और परमात्मामें

सब प्राणियोंको देखता है, वह समदर्शी और आत्मयज्ञ करनेवाला पुरुष स्वराज्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है ।

१६६५—जो सर्वप्राणियोंके हितकारी हैं, किसीमें दोषारोपण नहीं करते, किसीसे डाह नहीं करते, इन्द्रियों और मनको वशमें रखते हैं, निःस्पृह है और शान्त है, वे ही उत्तम भक्त हैं ।

१६६६—जिसको भगवान्की याद आते ही रोमाञ्च हो जाय, आनन्द-के आँसू बहने लगे, गरीरका रग वदल जाय और 'हे श्रीकृष्ण ! हे गोविन्द ॥ हे हरे ॥' मधुर स्वरसे इस प्रकार नाम-गान करता जो रात-दिन भगवान्में चित्त लगाये रखे, वही श्रेष्ठ भक्त है ।

१६६७—वास्तवमें यह सब तमाशां स्वप्नके सदृश है, इसमें कुछ भी सार नहीं है । तुम इस बातको बिना किसी सफोचके ग्रहण कर लो कि ससारकी स्थिति निरन्तर परिवर्तनशील ही रहती है ।

१६६८—'मैं'की भाषा ही भक्त नहीं जानता, 'मेरा' कुछ भी नहीं कहता और सुख-दुःख क्या होता है, यह भी वह नहीं जानता ।

१६६९—उसे कोई राम कहे या रहमान कहे, कृष्ण कहे या महादेव कहे—है ये सब एक ब्रह्महीके नाम ।

१६७०—मेरा राम मेरे रोम-रोममें रम रहा है । मत समझ कि मेरा स्वामी मुझसे दूर है ।

१६७१—बाहरी मददपर कभी भरोसा मत करो । केवल अपनेपर, अपने अन्तरात्मापर, प्रभुपर भरोसा करो, इसीकी आवश्यकता है ।

१६७२—जो सब भूतोंमें आत्माको देखता है और आत्मामें सब भूतोंको, वह किसीसे घृणा नहीं करता । जब मनुष्य यह जानता है कि समस्त भूत आत्मा ही हैं और सबमें एकत्व देखता है, फिर मोह और शोक कहाँ है !

१६७३—बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि विषय-कामनामें फँसा हुआ मन जब-जब परमात्माको छोड़कर अन्यत्र जाय तब-तब वहाँसे लौटकर उसे हृदयस्थित भगवान्‌में लगावे । इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेसे साधकका चित्त थोड़े ही कालमें ईधनरहित अग्निकी भाँति शान्त हो जाता है ।

१६७४—कामना भोगनेसे कभी शान्त नहीं होती, धी डालनेपर अग्निके समान वह अधिकाधिक बढ़ती ही रहती है ।

१६७५—ससारमें न तो कोई किसीका मित्र है, न शत्रु है । जो मनुष्य किसीको अपना शत्रु मानकर उसपर क्रोध करते हैं, वे वास्तवमें अपनी ही हानि करते हैं । ससार विष्णुमय है । शरीरका एक अङ्ग दूसरे अङ्गका शत्रु कैसे हो सकता है ?

१६७६—भगवान्‌की कथामें श्रद्धा करे, भगवान्‌की प्रतिमाकी पूजा करे, भगवान्‌का स्मरण करे, भगवान्‌के ही चरणकमलोंमें सिर झुकावे, भगवान्‌को ही ससारमें सबसे बड़ा साथी माने, भगवान्‌का ही सेवक बने और भगवान्‌के ही चरणकमलोंमें सम्पूर्णरूपसे आत्म-समर्पण कर दे । जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌का भक्ति करते हैं, वे इस असार ससारके बन्धनसे मुक्त होकर परमपद पाते हैं ।

१६७७—तुम परमेश्वर और भोग दोनोंकी सेवा नहीं कर

सकते । विषय न बटोरो । कलके लिये चिन्ता न करो । कल अपनी चिन्ता आप करेगा ।

१६७८—सदा स्मरण करने योग्य तो एक ही वस्तु है । सदा-सर्वदा सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामके स्मरणमात्रसे ही प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है ।

१६७९—रे मनुष्य ! तू दीन होकर घर-घर क्यों भटकता है । तेरा पेट तो सेरभर आटेसे ही भर जाता है । भगवान् तो उस समुद्रको भोजन भी पहुँचाते हैं जिसका शरीर चार सौ कोस लंबा-चौड़ा है । संसारमें कोई भूखा नहीं रहता । चींटी और हाथी सभीका पेट भगवान् भरते हैं । अरे मूर्ख ! तू विश्वास क्यों नहीं करता ।

१६८०—शोक, मोह, दुःख-सुख और देहकी उत्पत्ति सब मायाके ही कार्य हैं और यह संसार भी स्वप्नके समान बुद्धिका ही विकार है । इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है । एक भगवान् ही सत्य हैं ।

१६८१—शरीर और मन, बुद्धिको जीता हुआ अपरिग्रही, निराशी मनुष्य, शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापोंको प्राप्त नहीं होता ।

१६८२—सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वोंमें फँसे हुए जीवोंमें जो मनुष्य हर्ष-शोकरहित होकर विचरण करता है, वही तृप्त है ।

१६८३—मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मोक्ष ही चाहता हूँ । मैं दुःखपीड़ित प्राणियोंके दुःखका नाश चाहता हूँ ।

१६८४—मैं परमेश्वरसे आठ सिद्धियोवाली उत्तम गति या भक्ति नहीं चाहता, मैं केवल यही चाहता हूँ कि समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उसके कर्णोंको भोगूँ, जिससे उन्हें कष्ट न हो ।

१६८५—लोक, दीनता, भय और धन आदि किसी भी कारणसे मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकता—यह मेरा दृढ़ निश्चय है ।

१६८६—धर्मपालनमें बहानेबाजी कभी नहीं करनी चाहिये, मैंने सत्यहीसे सब शस्त्र प्राप्त किये हैं । मैं सत्यसे कभी नहीं डिग सकता ।

१६८७—श्रीहरिके चरणोंकी सेवा मनुष्योंको स्वर्ग, मोक्ष, इस लोककी महान् सम्पत्ति और सब प्रकारकी सिद्धियोंको देनेवाली है ।

१६८८—भगवान्की पूजा छोड़कर जो लोग दूसरेकी पूजा करते हैं, वे महामूर्ख हैं ।

१६८९—‘मैं’ और ‘मेरा’ इन दो शब्दोंमें ही सारे जगत्के दुःख भरे हैं । जहाँ ‘मैं’, ‘मेरा’ नहीं है वहाँ दुःखोंका अत्यन्त अभाव है ।

१६९०—जिस वस्तुके नाशसे बड़ा दुःख होता है, उसके प्राप्त होनेसे पूर्व सुख या दुःख कुछ भी नहीं होता । अतएव उसकी प्राप्तिके पूर्वकी अवस्थाको ध्यानमें रखकर मनको दुखी नहीं करना चाहिये ।

१६९१—मिट्टी कुम्हारसे कहने लगी कि तू मुझे क्यों रौंदता है, एक दिन ऐसा होगा जब मैं तुझे रौंदूंगी यानी मरनेपर शरीर मिट्टीमें मिला दूंगी ।

१६९२—विलम्ब न करो, श्रीरामको तुरंत भज लो, तनरूप तरकससे श्वासरूपी तीर निकला जा रहा है । फिर पछताना पड़ेगा ।

१६९३—कार्यके सब सासारिक सम्बन्धोंको हटा दो । इच्छा-रूपी प्रेतोंको उतार दो । अपने सब कामोंको पवित्र बना दो । आसक्तिके रोगसे अपनेको छुड़ा लो ।

१६९४—नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान तथा और भी करोड़ों ओषधियाँ हैं; किंतु बिना राम-कृपाके भवरोग नष्ट नहीं होता ।

१६९५—एक ही सौन्दर्यराशि जो प्रत्येक रूपमें भासमान है, उसीमें अन्तरके सम्पूर्ण अनुरागको एकत्र करके विश्वके सम्पूर्ण मोहसे परित्राण प्राप्त कर लेना ही संन्यासका उद्देश्य है । विधि एवं निषेधसे परे 'अह', 'त्व' की सीमाको समाप्तकर जो आनन्दधन विराजित है, उसीमें चित्तको व्यवस्थित कीजिये ।

१६९६—घोर संसारमें पड़े हुए जीवोंके लिये भगवान् वासुदेव-की भक्तिको छोड़कर मुक्ति पानेका और कोई भी मार्ग नहीं है ।

१६९७—भगवान् गोविन्दके नामकीर्तनरूप अग्निसे तीनों जन्मोंके पाप जल जाते हैं ।

१६९८—जो आनन्द सतोषी, निरीह और आत्माराम पुरुषको प्राप्त होता है, वह उन लोगोंको कभी नहीं मिलता जो

कामनाओंके वशमे होकर इधर-उधर भटका करते हैं । सतोषी मनुष्यके लिये ससारमें सर्वत्र सुख-ही-सुख है ।

१६९९—जो वस्तु अतिथिको न खिलावे, उसे आप भी न खाय । अतिथिकी सेवा करनेसे धन, यश, आयु और स्वर्गकी प्राप्ति होती है । भोजनके समय आये हुए अम्हागतकी जाति न पूछे । उसे भोजन करावे ।

१७००—जैसे ठोस पहाड वायुसे विचलित नहीं होता, वैसे ही विद्वान् निन्दा या स्तुतिसे विचलित नहीं होते ।

१७०१—भोग्य वस्तुओंमें वासनाका उदय न होना ही वैराग्यकी अवधि है, चित्तमे अहकारका सर्वथा उदय न होना ही बोधकी अवधि है और लीन हुई वृत्तियोंका पुन उत्पन्न न होना ही उपरामताकी अवधि है ।

१७०२—भगवान्का नाम ही दर्पहारी है, वे अभिमानका ही आहार करते हैं । अभिमान करनेसे बड़े-बड़े लोग पतित हो जाते हैं ।

१७०३—जो कर्म निष्काम होकर यज्ञभावनासे किया जाय, जिस कर्मसे जीव-जीवमें अभेदकी वृद्धि हो, वही धर्म है ।

१७०४—छोटेमे नीचे छेद होनेसे सभी जल गिर पडता है । इसी प्रकार साधकके मनमें कामना होनेपर साधनका फल चला जाता है ।

१७०५—सत्यता, सद्बचन, सत्कर्म, उदारता, क्षमा आदि लोकहितके कोई-न-कोई कार्य करते रहना चाहिये । ये सब बहुत बड़े सहायक हैं ।

१७०६—जिन भगवान् विष्णुके स्मरणसे ही संसारके जन्म, जरा आदिसे उत्पन्न हुए भय भाग जाते हैं, उन भयहारी भगवान्के मेरे मनमें रहते मेरे लिये भय कहाँ है ?

१७०७—उपशान्त और यथार्थ ज्ञानद्वारा मुक्त हुए पुरुषोंका मन शान्त होता है । उनकी वाणी और कर्म शान्त होते हैं ।

१७०८—यह शरीर रहे या जाय, जिसकी वृत्ति आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें लीन हो गयी है, वह तत्त्ववेत्ता पुरुष फिर इसकी ओर ध्यान नहीं देता ।

१७०९—मेरे स्वामी ! जगत्के बड़े-बड़े यज्ञ सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर अवतक आपको पूर्णतः तृप्त नहीं कर सके ! परंतु आपने व्रजकी गायों और ग्वालिनोके बछड़े एवं बाळक बनकर उनके स्तनोंका अमृत-सा दूध बड़े उमंगसे पिया है । किन्तनी बड़भागिनी हैं वे ।

१७१०—जिसमें सहनशीलता नहीं वह चाहे कितना भी बड़ा विद्वान्, तपस्वी और पण्डित क्यों न हो, कभी भी भगवत्-कृपाका अधिकारी नहीं बन सकता ।

१७११—भगवन्नाममहिमाको अर्थवाद माननेवालेको तो पाप लगता ही है, सुननेवालेको भी पाप होता है ।

१७१२—भक्तिसे हीन होकर जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, दान, अनुष्ठान आदि कैसे भी सत्कर्म क्यों न किये जायँ, सभी व्यर्थ हैं ।

१७१३—सबके आगे-पीछे वे ही श्रीहरि है । उनके सिवा प्राणियोंका दूसरा आश्रय हो ही नहीं सकता । प्राणिमात्रके आश्रय वे ही हैं । उनके स्मरणसे सबका कल्याण होगा ।

१७१४—करुणामय श्रीहरि सबका भला करते हैं । जो उनकी शरणमें पहुँच जाता है, उसके पाप रहते ही नहीं । रूईके ढेरमें जैसे अग्नि पड़नेसे रूई भस्म हो जाती है, उसीप्रकार सारे पाप भस्म हो जाते हैं ।

१७१५—बहुत ग्रन्थोंके मायाजालमें मत पड़ना । भगवान् केवल विश्वाससे ही प्राप्त हो सकते हैं । सम्पूर्ण जगत्के वैभवको तृण-समान समझना और निरन्तर भगवन्नाम-सङ्कीर्तनमें लगे रहना । यही वेद-शास्त्रोंका सार है ।

१७१६—श्रीकृष्ण दयामय हैं । वे दीनोंपर अत्यन्त ही शीघ्र कृपा करते हैं । तुम उनका ही भजन करो, उन्हींकी शरणमें जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा ।

१७१७—प्रेम छिपानेसे नहीं छिपता । प्रेमको विज्ञापनकी आवश्यकता नहीं ।

१७१८—जिसके मुखसे एक बार भी श्रीकृष्णका नाम निकल जाय, वही वैष्णव है । वैष्णवकी यह एक मोटी पहचान है ।

१७१९—गृहस्थीके लिये तीन ही बातें मुख्य हैं—श्रद्धापूर्वक भगवान्की सेवा-पूजा करता रहे, मुखसे सदा श्रीहरिके मधुर नामोंका सङ्कीर्तन करता रहे और अपने द्वारपर जो आ जाय, उसकी यथाशक्ति सेवा करे तथा साधु-महात्माओंके चरणोंमें श्रद्धा रक्खे ।

१७२०—सत्यसे बढ़कर ससारमें कोई अन्य धर्म नहीं है और मिथ्याभाषणसे बढ़कर कोई दूसरा पाप नहीं है, अतः ऐसी दशामें सत्यकी सदा अर्चना करो, उसे कभी मत छोड़ो ।

१७२१-सत्यवादी मनुष्य यद्यपि आर्थिक दृष्टिसे दरिद्र है, किंतु वह मनुष्योंका वास्तविक राजा है ।

१७२२-प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह जैसा दूसरेको उपदेश करता है, वैसा पहले अपनेको बना ले । जिसने अपने मन, इन्द्रियोंको बशमें किया, वह दूसरोंको भी बशमें कर सकता है ।

१७२३-कर्म-पथमे प्रभुपर विश्वास कर बढ़ते जाओ । सर्वदा अपनी दृष्टिको उसके शब्दोंपर बद्ध रखो, तब तुम्हें आशातीत सफलता प्राप्त होगी ।

१७२४-अपने शत्रुको प्यार करो । जो तुम्हें शाप दें, उन्हें आशीर्वाद दो । जो तुमसे घृणा करें, उनके प्रति भलाई करो और उनके लिये भी प्रभुसे शुभ प्रार्थना करो, जो तुम्हारे साथ तिरस्कार-पूर्ण व्यवहार करते हों ।

१७२५-अच्छे कर्मोंका सम्पादन करो । स्वप्नमय वातावरणमें लीन मत रहो । इस प्रकार करनेसे तुम जीवन, मरण एवं अनन्त विस्तृत कालको एक महान् मधुर सङ्गीतके रूपमें परिवर्तित कर दोगे ।

१७२६-शिक्षा प्राप्त करते समय ऐसा ध्यान रखो कि मानो तुम्हें सर्वदाके लिये संसारमें जीवित रहना है, किंतु संसारमें अपनी आयुका ध्यान करते हुए यह सोचो कि मानो तुम्हें कल ही मृत्युका ग्रास बनना है ।

१७२७-यह कभी मत सोचो कि परमात्मासे रहित तुम केवल अकेले हो । वह तुम्हारे साथ सर्वदा विचरण करता है तथा तुम्हारी भली-बुरी सभी क्रियाओंका द्रष्टा है ।

१७२८—जो मनुष्य विपत्तिमें भी ईश्वरकृपाका अनुभव करता है, वह कभी मृत्युके अधीन नहीं होता ।

१७२९—सज्जनोंको दूसरोंके दोषोंके भीतर भी धर्मका आभास दृष्टिगोचर होता है ।

१७३०—जो मनुष्य सज्जनताके व्यवहारमें कुशल है, उसके लिये कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है ।

१७३१—प्रिय क्या है ? करना और न कहना । अप्रिय क्या है ? कहना और न करना ।

१७३२—पूर्ण महात्मा और सज्जनोंके सङ्गका नाम ही सत्सङ्ग है । इसे आदमी निष्ठाके साथ करे तो वह लोहेसे सोना बन जाय ।

१७३३—जो प्रज्वलित क्रोधरूपी मार्गच्युत रथको रोक सकता है, वही कुशल सारथी है । केवल हाथसे लगाम पकड़े रहनेमें कोई चतुराई नहीं ।

१७३४—जो तपस्वी है, त्यागी है, भक्त है, जिसने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त किया है, वही धर्मका सच्चा प्रवक्ता हो सकता है ।

१७३५—मनकी तरङ्गोंको रोकनेमें बड़ा सुख है, इनके बिना रोके मनुष्य ऐसे बह जाता है, जैसे हवाके झोंकेमें बिना पतवारकी नाव ।

१७३६—ससारके सुख क्षणभङ्गुर हैं, किसी भी ऐसे सुखीका उदाहरण नहीं मिल सकता जो मृत्युको न प्राप्त हुआ हो ।

१७३७—मनुष्य-शरीरकी शोभा विषयभोग नहीं है, यह सम्पदा तप, ज्ञान, भक्ति और धर्मके लिये मिली है ।

१७३८—बालकको जैसे रमणसुख नहीं समझाया जा सकता, वैसे ही मायामुग्ध, विषयासक्त, ससारी जीवको ब्रह्मानन्द नहीं समझाया जा सकता ।

१७३९—जिस हृदयमें प्रभुप्रेमको स्थान नहीं, वह मसानके तुल्य है अथवा श्वास लेनेवाली लोहारकी प्राणरहित धौकनीके समान है ।

१७४०—हर्षके साथ शोक और भय इस प्रकार लगे हैं जिस प्रकार प्रकाशके सङ्ग छाया । सच्चा सुखी वही है, जिसकी दृष्टिमें हर्ष-शोक दोनों समान हैं ।

१७४१—जो समय भगवान्‌के स्मरण-चिन्तनमें लगता है, वही सार्थक है ।

१७४२—विषयोंमें काकविष्टाके सदृश असह्य बुद्धि होनी चाहिये ।

१७४३—दूसरोंके परमाणुके समान गुणोको पर्वतके समान बढ़ाकर हृदयमें रखनेवाले संत इस दुनियामें कितने हैं ?

१७४४—शत्रुसे भी प्रेम रखो । दान अथवा शुभ कर्ममें फलकी कामना न करो, तभी प्रभु प्रसन्न होंगे ।

१७४५—मेरे माथेपर पैर रखकर आओ न मेरे प्राणेश्वर मेरे हृदयमन्दिरमें । आओ, तुम मेरी अन्तरकी सेजपर पौढ़ो और मैं तुम्हारे प्यारे-प्यारे चरण चूमूँ ।

१७४६—हठका सामना हितसे करो तो सफलता प्राप्त होगी । तलवारकी तीक्ष्ण धार मुलायम रेशमको नहीं काट सकती ।

१७४७—सासारिक क्रियाओका सम्पादन करते समय दो बातें सदा स्मरण रखो—प्रथम ईश्वर और द्वितीय मृत्यु ।

१७४८—जीवनमें निम्नलिखित तीन बातोंका सदा स्मरण रखो—(१) क्रोधमें क्षमा, (२) अभावमें उदारता तथा (३) अधिकारमें सहिष्णुता ।

१७४९—जो काम, मद और क्रोधसे छूटकर ईश्वरके चरणोंमें लगे हुए हैं, वे सारे संसारको ईश्वरमय देखते हैं, इसलिये वे किससे क्रोध करें ।

१७५०—जिसने मनरूपी मतवाले हाथीको वशमें कर लिया, वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष है ।

१७५१—जैसे अग्नि जाने या बिना जाने लकड़ीको जला देती है, वैसे ही जाने या बिना जाने लिया हुआ भगवान् हरिका नाम मनुष्यके पापको भस्म कर देता है ।

१७५२—जो पहलेके पापोंका विचार न करके बराबर पाप ही करता रहता है, वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य यमदूतोंद्वारा नरकमें घसीटा जाता है ।

१७५३—उस देवताका मन्दिर तेरे दिलके अंदर ही है । उसीकी तू सेवा कर, उसीकी पूजा कर । क्या तेरा हरेक श्वास इसका साक्षी नहीं है ।

१७५४—जिनका जीवन-आधार ईश्वर नहीं, वे मर हैं और जिनका जीवनाधार ईश्वर है, वे अमर हैं ।

१७५५—उस दुष्ट और नीचके साथ भी, जो तुम्हें दुःख देता है, तुम भलाई करो; क्योंकि सच्चा आनन्द दूसरोंको सुख देनेमें ही है ।

१७५६—जिसने अहंकार, क्रोध, कपट और लालचको जीत लिया, वही सच्चा शूरी है ।

१७५७—सच्चे धर्मात्माकी बोली धीमी होती है, क्योंकि अच्छा पुरुष कठिनाताको जानता है, वह अवश्य ही सम्हलकर बोलेगा ।

१७५८—संसार क्षणभङ्गुर है, एक पलका भी भरोसा नहीं, इसलिये जो भलाई करनी हो, तुरंत कर डालो ।

१७५९—मायामरीचिकाके समय भासनेवाले इस जगत्में केवल भगवान्का भजन ही सार है ।

१७६०—धमण्ड या अहंकार मूर्खताकी निशानी है । जिस जगह शरीरमें खूनकी कमी होती है वहाँ वायु भर जानेसे शरीर फूल जाता है, ऐसे ही जहाँ बुद्धिका घाटा है, वहाँ अहंकार भर जानेसे मन फूल उठता है ।

१७६१—मर्यादासे चलो । कभी सीमाके बाहर मत जाओ । अपनी हानि करनेवालेको जहाँतक बन पड़े, क्षमा करो ।

१७६२—चार प्रकारके मनुष्य मालिकको विशेष प्रिय हैं—
(१) आसक्तिरहित विद्वान्, (२) तत्त्वज्ञानी महात्मा, (३) नम्र धनी और (४) मालिककी महिमा जाननेवाला त्यागी ।

१७६३—मन पाँच प्रकारके होते हैं—(१) मुर्दा मन जैसे नास्तिकोंका, (२) रोगी मन जैसे पापियोंका (३) अचेत मन जैसे पेटभरोंका, (४) उल्टा मन जैसे व्याजकी कमाई खानेवालोंका और (५) स्वस्थ मन जैसे संतोंका ।

१७६४—शुभ कर्म करनेका स्वभाव ऐसा धन है जिसे न शत्रु छीन सकता है और न चोर चुरा सकता है ।

१७६५—क्रोध, दुष्कर्म, कृपणता तथा असत्यको जीतनेके शस्त्र क्रमसे क्षमा, सुकर्म, उदारता और सत्य हैं ।

१७६६—जो ज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें बघारते हैं, पर जिनके हृदयमें दया नहीं है, वे जरूर नरकमें जायेंगे ।

१७६७—वे मनुष्य धन्य हैं, जो दयाशील हैं, क्योंकि परमपिता-की दयाके वे ही भागी हैं ।

१७६८—शूरवीर वही है जिसका हृदय हरिसे भरपूर है ।

१७६९—जो दूसरेके अवगुणकी चर्चा करता है, वह अपना अवगुण प्रकट करता है ।

१७७०—मनुष्यको चाहिये कि अपना मित्र आप ही बने; बाहरी मित्रकी खोजमें न भटके ।

१७७१—जो सच्चे हृदयके साधु होते हैं, वे मनको पीसकर चाले हुए मैदेकी भाँति कर देते हैं, जिसमें मान या गर्वकी किर-किरी नहीं रह जाती ।

१७७२—विद्या व्यर्थ गयी, व्रत बुरे सिद्ध हुए और बहुज्ञता घातक हुई यदि भगवान् श्रीकृष्णके सुभग-शीतल त्रिविध ज्वालाहरण चरणोंमें प्रीति न हुई ।

१७७३—जिस बातसे समाजको सुख पहुँचे, उससे यदि तुम्हें कुछ दुःख भी पहुँचे तो नाराज मत हो ।

१७७४—जो मूर्ख अपनी मूर्खताको जानता है, वह धीरे-धीरे सीख सकता है, परंतु जो मूर्ख अपनेको बुद्धिमान् समझता है, उसका रोग असाध्य है ।

१७७५—जो बाहरसे बहुत सुन्दर है पर जिनका मन मैला है; उससे तो कौआ अच्छा है जो बाहर-भीतर एक रंग है ।

१७७६—संसारमें तीन बातें बड़ी उपकार करनेवाली हैं, परतु धारण करनेमें कठिन हैं—(१) निर्धनतामें उदारता, (२) एकान्तमें इन्द्रियनिग्रह और (३) भयमें सत्य ।

१७७७—अच्छे गुणोंको सीखनेमें तुम्हारी यह धारणा होनी चाहिये कि तुम्हारा अभिप्राय अपने सुधारका है, न कि लोकमें बड़ाई पानेका ।

१७७८—जिसने इन्द्रियोंके वशमें रहकर केवल कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही अपना जीवन बिता दिया है, वह अन्तमें प्राप्त होनेवाली महान् पीड़ासे नष्टबुद्धि होकर मृत्युको प्राप्त होता है ।

१७७९—प्रभु-विरहकी अग्निमें जलनेवालेके आँसू इस प्रकार निकलते हैं, जैसे जलती हुई गीली लकड़ीके दूसरी ओर फेन निकलता है ।

१७८०—इस तनके अंदर ही तो वह सिंहासन है जिसपर हमारा शाहोंका शाह आसीन है । जहानमें जितने भी जीव हैं वहीं-से वह सबका मुजरा लिया करता है ।

१७८१—जो पासमें धन रहनेपर भी अपने भाइयोंकी दीन अवस्थापर तरस नहीं खाता और सहायता नहीं करता, उसके हृदयमें प्रभुका प्रेम कैसे हो सकता है ?

१७८२—जिसकी हार हुई है, वह सदा असंतुष्ट रहता है, सुखी वही है, जो हार-जीतकी परवाह नहीं करता ।

१७८३—साधक यदि ईश्वरमें ही शान्ति प्राप्त न कर सका तो समझना चाहिये कि उसमें सच्चा वैराग्य नहीं है ।

१७८४—मनुष्योंसे मैत्री और पशुओंके प्रति दया रखो । यदि उनमें विष भी हो तो भी उनकी उत्पत्ति तो एक ही दयालुताके अमृतभण्डारसे किसी प्रयोजनको लेकर ही हुई है । अतएव उन्हें सुख पहुँचानेका यत्न करो ।

१७८५—प्रत्येक मनुष्य अपने मतको सच्चा और अपने बन्धेको सुन्दर समझता है, इससे सिद्ध है कि सबके मतों और सबके बन्धोंका समान आदर करना और समान प्रेम रखना अपना कर्तव्य है ।

१७८६—जो कोई तुम्हें कोसे, तुम उसे कभी मत कोसो । स्मरण रखो कि क्रोधीके शापसे आशिष्का फल मिलता है ।

१७८७—जिसने कभी दुःख नहीं उठाया, वह सबसे बड़ा दुखिया है और जिसने कभी पीर नहीं सही, उसपर दैव बेपीर ही है ।

१७८८—सन्यासीको सदा ज्ञाननिष्ठ रहकर आत्माके बन्धन और मोक्षका विचार करना चाहिये । इन्द्रियोंके चञ्चल होनेमें ही आत्माका बन्धन है और इन्द्रियोंके वशमे होनेसे आत्माका मोक्ष है ।

१७८९—उमड़ती हुई जवानीमें प्रमोद करते हुए जवानको, खेलते हुए बालकको, रोग-शोकसे पीडित वृद्धको और माताके उदरमें रहनेवाले गर्भको काल एक-सा ही ग्रस लेता है, यह जगत् ऐसा ही है ।

१७९०—प्रेमकी एक ही चिनगारी हृदयमें पड़ जाय तो जीव निहाल हो जाय । धन्य है वह हृदय जहाँ ऐसी आग लगी हुई है ।

१७९१—हमारा हरि तो केवल भावका भूखा है, न उसका रागसे मनलब, न कालसे ।

१७९२—पानी ऊपर नहीं ठहरता, वह नीचे ही रहता है, जो नीचा (नम्र) होता है वही भरपेट पानी पी सकता है, ऊँचा तो प्यासा ही मरता है ।

१७९३—दूसरोंका भला करनेवाला ही भला होता है ।

१७९४—प्रीतिकी लता तो अकेले ही चढ़ती है । किसी दूसरी वेलिको अपने पास फैलने नहीं देती ।

१७९५—बदला लेनेका ख्याल छोड़कर क्षमा करना, अन्धकारसे प्रकाशमें आना और नरककी जगह सदेह ही स्वर्गका सुख भोगना है ।

१७९६—अपने तो हारना भला है, जगत्को जीतने दे । जो हारता है वह हरिसे मिलता है और जो जीतता है वह यमके द्वारपर जाता है ।

१७९७—गँठमे जो द्रव्य नहीं बाँधता, कामवासनामें जिसका प्रेम नहीं, जिसके हृदयमे केवल हरिका वास है वही साधु है, वही सिद्ध है, वही सबमे सिरमौर है ।

१७९८—रामकी शरण हो जाओ, यही भवसागरसे पार उतरनेके लिये जहाज है, इसीको छोड़कर संसारसे उद्धार पानेका और कोई उपाय नहीं है ।

१७९९—जो ईश्वरके रंगमें रँगा हुआ है वही चतुर है और वही जगत्मे सब तरहसे भला है ।

१८००—किसीको दुःख न देना तथा कोई तुम्हारे विरुद्ध बर्ताव करे, तब भी उसका बदला लेनेकी इच्छा न करके इस बातको गुप्त रखना, यही सहनशीलता है ।

१८०१—जो बन्धनमें हेतु नहीं होता वही कर्म है और जो मुक्तिमें हेतु है वही विद्या है । इसके सिवा दूसरे कर्म परिश्रममात्र तथा दूसरी विद्याएँ शिल्पनिपुणतामात्र हैं ।

१८०२—मुझे अब यह नैहरका रहना अच्छा नहीं लगता । मेरे साँकी नगरी कितनी सुन्दर है, जहाँ जाकर कोई लौटता नहीं ।

१८०३—जगत्में जितने प्रकारके भाव या धाराएँ हैं, उन सबका जो सूक्ष्म सार निष्कर्ष है, उसीका नाम ईश्वर है ।

१८०४—जो निराधार और नीच-से-नीच मनुष्यकी सेवा करता है वह प्रभुकी सेवा करता है ।

१८०५—बुद्धिमान् मनुष्य और किसी बातमें जल्दी नहीं करता, वरं कभी-कभी चुप रह जाता है, परंतु जब धर्मका काम आ पड़ता है, तब वह उसे तुरंत कर डालता है ।

१८०६—बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सदा बड़ोंका सङ्ग करे, इससे अनेक सुख मिलते हैं, जैसे जो पक्षी बड़े वृक्षके आश्रित रहते हैं, उन्हें खानेको फल भी खूब मिलते हैं और वे छायासे भी सदा सुखी रहते हैं ।

१८०७—संशयात्मा, चञ्चलचित्त, अविश्वासी, डरपोक, चिन्तातुर और इन्द्रियोंके गुलामको कभी स्वप्नमें भी सुख नहीं मिल सकता ।

१८०८—भक्त वह है जो अपना मन उस पृथ्वीके समान बना ले, जिसमें लोग विष्टा डालते हैं, पर वह अन्न देती है ।

१८०९—मनुष्यको चाहिये कि वह अपना काम देखे, दूसरेके काममें नुक्ताचीनी न करे ।

१८१०—सुखी वही है, जो भगवान्‌को प्यार करता है, क्योंकि भगवान् सर्वदा उसके साथ रहते हैं ।

१८११—जो मनुष्य आत्मनिरीक्षण न करके अपनेको सदा निर्दोष मानता है, अपने दोषोंकी ओर देखता ही नहीं, वह अहंकारी ही बना रह जाता है ।

१८१२—सासारिक कामनाओंको छोड़ देनेपर ही तुम शोक और दुःखसे छूट सकोगे तथा तुम्हें तभी सच्चा सुख और शान्ति मिलेगी ।

१८१३—जो बाहरसे खूब साफ है और अंदरसे मैला है, वह नरकके दरवाजेकी चाभी हाथमें लिये हुए है ।

१८१४—मानव-प्रेमके पीछे बराबर ही एक तीखा स्वाद लगा रहता है । एकमात्र भगवत्प्रेम ही ऐसी चीज है जो कभी निराश नहीं करती ।

१८१५—जो किसीको दुःखमे देखकर उसपर दया नहीं करता, वह मालिकके कोपका पात्र होता है ।

१८१६—जैसे हम द्वेषसे जगत्‌को नरक-सदृश बना देते हैं । ऐसे ही प्रेमसे उसे स्वर्गके समान भी बना सकते हैं ।

१८१७—त्रिषयीको संसार सुन्दर मालूम होता है, पर वही साधुको भयानक लगता है ।

१८१८—जैसे वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसकी सभी शाखाएँ और पत्ते आप-से-आप तृप्त हो जाते हैं, वैसे ही एक परमात्माकी भक्तिसे सारे देवी-देवता आप ही प्रसन्न हो जाते हैं ।

१८१९—मालिकपर भरोसा रखो, परंतु ऊँटके पैर बाँधकर मत रखो । यानी उद्योग मत छोड़ो ।

१८२०—दीर्घसूत्रताका स्वभाव समयकी चोरी है । यदि मनुष्य आजका काम कलपर न टाले तो वह बहुत-सी बुराइयोंसे बच सकता है ।

१८२१—सदा याद रखो कि कोई भी मनुष्य तुम्हारा भला या बुरा नहीं कर सकता, त्रिभुवनपति ईश्वर ही सब कुछ करते हैं, उन्हींपर विश्वास रखो ।

१८२२—जगत्से जगत्की किसी भी घटनासे भगवान्को अलग न करनेके कारण ही जगत्की कोई भी घटना ज्ञानीके चित्त-को विचलित नहीं कर सकती । भगवान्को अलग कर देनेसे ही जगत्का प्रत्येक व्यापार महान् दुःखरूप बन जाता है ।

१८२३—जो प्रत्येक काममें मालिककी प्रेरणा समझता है—वह निष्कामी और सच्चा भक्त है ।

१८२४—बुरे आचरणवाले लवे जीवनसे शुभ आचारका थोड़ा जीवन हजार दरजे अच्छा है ।

१८२५—जैसे मरे हुए मनुष्यसे कोई ईर्ष्या नहीं करता, ऐसे ही जीते हुएसे भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उस मनुष्यको और ईर्ष्या करनेवालेको एव-सा ही मरना है ।

१८२६—शत्रु-मित्र और पुत्र-बन्धुओंमें विरोध या मेलके लिये चेष्टा मत कर । यदि शीघ्र ही भगवत्की प्राप्ति चाहता है तो सबमें सर्वत्र समचित्तवाला हो जा ।

१८२७—दान और सत्कर्म करो, पर फलकी कामनासे नहीं ।
इससे प्रभु तुमपर प्रसन्न होगा ।

१८२८—दीन बनते रहो, दुःख भगवान् ही भेजते हैं, ऐसा मानकर दुःखका स्वागत करो, तिरस्कारमें आनन्द मानो, सुख-आराम और रक्षाका आधार एक भगवान् को ही बना लो ।

१८२९—सत्य-प्रेमसे जिसका अन्तःकरण भरा हुआ हो, ऐसा मनुष्य किसी कलामें निपुण न होनेपर भी बहुत बड़ी देश-सेवा कर सकता है ।

१८३०—हे चित्त ! अब शान्त हो, इन्द्रियोंके सुखके लिये विषयोंकी खोजमें कठिन परिश्रम मत कर । आभ्यन्तरिक शान्तिकी चेष्टा कर, जिससे दुःखोंका नाश होकर कल्याण हो, तरङ्गके समान चञ्चल चालको छोड़ दे, संसारी पदार्थोंमें सुख मत मान, ये सभी नाशवान् और असार हैं । वस, तू अपने आत्मामें ही सुख मान ।

१८३१—शान्त स्वभाव रहो और तुमपर कोई दोष लगावे तब भी मनको मत विगाड़ो ।

१८३२—जिसने अपना सारा हृदय प्रभुको अर्पण कर दिया है और अपने शरीरको लोक-सेवामें लगा रक्खा है, वही सच्चा त्यागी, दाता और जानी है ।

१८३३—चार प्रकारके मनुष्य होते हैं—(१) मक्खीचूस—न आप खाय न दूसरेको दे, (२) कजूस—आप तो खाय, पर दूसरेको न दे, (३) उदार—आप भी खाय और दूसरेको भी दे और (४) दाता—आप न खाय और दूसरेको दे । यदि सब लोग दाता नहीं बन सकते तो उदार तो बनना ही चाहिये ।

१८३४—जो विपत्तिसे डरते हैं, वह उन्हींपर ज्यादा आती है, जो मनको दृढ़ रखते हैं और आनेवाले हर एक सुख-दुःखको भगवान्‌का दान समझकर प्रसन्नतासे रहते हैं, उनके लिये विपत्ति कोई चीज नहीं ।

१८३५—अभी सोकर क्या करते हो । उठो, जागो और परमात्माको याद करो । एक दिन तो लवे पैर पसारकर सभीको सोना है ।

१८३६—अज्ञानका नाश हो जानेपर राग-द्वेष, चिन्ता, शोक-भय आदिका अत्यन्ताभाव हो जाता है और अज्ञानका नाश होता है—परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे ।

१८३७—जिनके काम, क्रोध, मद, लोभ आदि छः विकार नहीं होते, जो कुमार्गको जानते ही नहीं और जो सदा ब्रह्ममें लीन हैं वे ही साधु हैं ।

१८३८—जो पुरुष मनरूपी तीर्थके ज्ञानरूपी सरोवरमें ईश्वरके ध्यानरूपी जलसे स्नान करके राग-द्वेषरूपी मलको धो डालता है, वह ससारसागरको बिना प्रयास तर जाता है ।

१८३९—इन्द्रियोंको रोकने, राग-द्वेषका नाश करने और अहिंसा व्रतके पालन करनेसे मनुष्य मोक्षपदकी प्राप्तिके योग्य होता है ।

१८४०—जो विषयोंका प्रेमी है, वही बँधा हुआ है । विषयोंका त्याग ही मुक्ति है । यह शरीर ही घोर नरक है और तृष्णाका नाश ही सच्चा स्वर्ग है ।

१८५६—ईश्वर-प्रेमका परिचय वाणीसे नहीं मिलता, कार्य चाहिये। केवल स्तुति-प्रार्थनासे नहीं, परंतु अनेक दुःख सहकर सब प्रकारके स्वार्थको तिलाञ्जलि देकर ही इस प्रेमका परिचय देना पड़ता है।

१८५७—अदरके रोगकी पाँच दवाइयाँ हैं—(१) सत्संग, (२) धर्म-शास्त्रका अध्ययन, (३) अल्प आहार-विहार, (४) सुबह-शामकी उपासना और (५) जो कुछ करना हो सो एकाग्रता-के साथ सारी शक्ति लगाकर करनेकी पद्धति।

१८५८—अपने गुप्त-से-गुप्त विचारोंको भी पवित्र रखो; क्योंकि उनमें भी अद्भुत शक्ति भरी है। तुम्हारे मुखसे निकलते हुए शब्दोंमें उन विचारोंके भावका पता लग जाता है और तुम्हारे भविष्यके निर्माणकर्ता भी वे गुप्त विचार ही होते हैं।

१८५९—१—माता-पिताकी आज्ञा पूर्णरूपसे मानो। २—सब सम्बन्धियोंसे प्रेम रखो। ३—अपने मुखको ज्ञान-दर्पणमें देखो, यदि सुन्दर है तो ऐसा काम मत करो जिससे उसपर धब्बा लगे और यदि कुरूप है तो सत्य, सेवा और परोपकार करके सुन्दर बनाओ। ४—जो तुम्हारे साथ बुराई करे उसको तो बाह्यपर लिखो और जो भलाई करे उसको पत्थरपर।

१८६०—जो पुरुष ईश्वरके तत्त्वसे अनभिज्ञ लोगोंको अमृतरूप ज्ञानका प्रकाश दिखलाकर सन्मार्गपर ले आता है, उस दयालु दीनबन्धु पुरुषपर सभी देवगण कृपा करते हैं।

१८६१—अन्यायकी शिक्षा देनेवाले मनुष्यके सामने वह अन्यायकी शिक्षा ही एक दिन भीषण मृत्युके रूपमें आती है और तब उसे अपनी करनीपर पछताना पड़ता है ।

१८६२—प्राणघात, चोरी और व्यभिचार—ये तीन शारीरिक पाप हैं, असत्य, निन्दा, कटुभाषण और व्यर्थभाषण—ये चार वाणीके पाप हैं और परधनकी इच्छा, दूसरेके अनिष्टकी इच्छा तथा सत्य, अहिंसा, दया, दान आदिमें अश्रद्धा—ये तीन मानसिक पाप हैं ।

१८६३—भोग और ऐश्वर्यको अनित्य समझते हुए विवेक-वैराग्यपूर्वक व्रतमें किये हुए मन और इन्द्रियोंको शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त अपने-अपने विषयोंसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

१८६४—जो दयालु हैं, उन्हींपर भगवान्की दया होगी; जिसका मन शुद्ध है, उन्हींको भगवान्के दर्शन होंगे, जो धर्मके लिये सताये जाते हैं, स्वर्गका राज्य उन्हींका होगा और जो धर्मके पिपासु हैं, उन्हींकी तृप्ति होगी ।

१८६५—जब तुम सासारिक कामनाओंको छोड़ दोगे, तभी शोक और दुःखसे छूटकर सच्चे सुख और शान्तिको पा सकोगे ।

१८६६—हे जीव ! यदि तू भगवान्के इच्छानुसार चलना चाहता है तो उसकी शरणके सिवा और कोई उपाय नहीं है । जो मनुष्य अपने इच्छानुसार अपनेको चलाना चाहता है, वह स्वयं अपनेको धोखा देता है ।

१८६७—जिसमें जितना प्रेम है, वह उतना ही ईश्वरके समीप पहुँचा हुआ है—उतने अंशमें वह प्रभुमय बन गया है, क्योंकि प्रभु स्वयं अपार प्रेममय हैं ।

१८४१—सच्चा दार्शनिक सदा संयमसे रहता है और शारीरिक सुखोंसे दूर भागता है, वह कदापि अपनेको विषय-सुखोंमें मग्न नहीं होने देता ।

१८४२—सदा प्रसन्न रहो । सब दुखी जीवोंको सुखी करते रहोगे तो तुम्हारी प्रसन्नता बनी रहेगी ।

१८४३—हमें अपने अमूल्य समयको अमूल्य कार्यमें ही व्यगाना चाहिये । भगवान्की स्मृति ही अमूल्य कार्य है ।

१८४४—सभी वैरियोंके साथ भलाई और नम्रताका वर्तव्य करनेसे सुख होता है, परंतु मन-वैरीके साथ नम्रता करनेसे दुःख उत्पन्न होता है । अतएव भयानक वैरी मनको मारो ।

१८४५—अनन्त, अजर, अमर, अघिनाशी, शान्तिघन परमात्मा-का ध्यान करो । जो उस ब्रह्मानन्दकी जरा-सी भी झोंकी देख पाते हैं, उनकी दृष्टिमें ससारके राजाओंका आनन्द तुच्छ हो जाता है ।

१८४६—महापुरुष, उनका मत और उनका जीवन साधकों-के लिये दर्पण है, पथप्रदर्शक है, मार्ग है और द्वार है, जिससे वे नित्य जीवनक्षेत्रमें प्रवेश कर सकते हैं ।

१८४७—जाग्रत् मन उसीको कहते हैं, जिसमें ईश्वरको छोड़कर दूसरे किसी विषयकी इच्छा या दूसरा कोई उद्देश्य न हो । जिसका मन परम प्रभु परमात्माकी सेवामें डूबा रह सकता है, उसके लिये दूसरे मित्रकी जरूरत ही क्या है ।

१८४८—विपत्तियोंके समूह बाढकी लहरोंके समान आया करते हैं, धीर पुरुष उनको चट्टानकी तरह संभालता रहे तो वह धीरे-धीरे आप ही चले जाते हैं ।

१८४९—सत्य और दयायुक्त धर्म तथा तपोयुक्त विद्या भी भगवान्की भक्तिसे रहित मनुष्यके मनको सम्पूर्णरूपसे पवित्र नहीं कर सकते ।

१८५०—जो मनुष्य दूसरेके ऐश्वर्यको नहीं सह सकता, जिसकी बुद्धि क्लृप्ति है, जो परधन हरण करता है, जो प्राणियोंकी हिंसा करता है, जो झूठ बोलता है, जो कठोर वचन कहता है और जिसका मन निर्मल नहीं है, उसके हृदयमें भगवान् निवास नहीं करते ।

१८५१—चौदह बातोंका त्याग करना चाहिये—हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य, स्वच्छन्दता, द्वेष, भय, मोह, मद्यपान, रात्रिभ्रमण, व्यसन, जूआ, कुसगति और आलस्य ।

१८५२—सब धर्मोंका मूल दया है, परंतु दयाके पूर्ण विकासके लिये क्षमा, नम्रता, शीतलता, पवित्रता, समय, संतोष, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन दस धर्मोंका सेवन करना चाहिये ।

१८५३—यदि मैं अपना सारा धन कंगालोंको खिला दूँ तथा अपनी देह भी उन्हें जलानेके लिये दे दूँ, पर प्रेम न रखूँ तो कोई लाभ नहीं, प्रेममें ही धैर्य और कृपा है । प्रेम डाह नहीं करता, प्रेम अपनी न तो बड़ाई करता है और न फूलता ही है ।

१८५४—किसी भी सिद्धान्तको मानकर चलिये, परिणाम एक ही होगा, क्योंकि श्रीभगवान् एक ही हैं ।

१८५५—विचारशील और ब्रह्मज्ञानीको संसार नहीं लुभा सकता, मछलीके उछलनेसे समुद्र नहीं उमड़ा करता ।

१८५६—ईश्वर-प्रेमका परिचय वाणीसे नहीं मिलता, कार्य चाहिये । केवल स्तुति-प्रार्थनासे नहीं, परंतु अनेक दुःख सहकर सब प्रकारके स्वार्थको तिलाञ्जलि देकर ही इस प्रेमका परिचय देना पड़ता है ।

१८५७—अदरके रोगकी पाँच दवाइयाँ हैं—(१) सत्संग, (२) धर्म-शास्त्रका अध्ययन, (३) अल्प आहार-विहार, (४) सुबह-शामकी उपासना और (५) जो कुछ करना हो सो एकाग्रता-के साथ सारी शक्ति लगाकर करनेकी पद्धति ।

१८५८—अपने गुप्त-से-गुप्त विचारोंको भी पवित्र रखो, क्योंकि उनमें भी अद्भुत शक्ति भरी है । तुम्हारे मुखसे निकलते हुए शब्दोंमें उन विचारोंके भावका पता लग जाता है और तुम्हारे भविष्यके निर्माणकर्ता भी वे गुप्त विचार ही होते हैं ।

१८५९—१—माता-पिताकी आज्ञा पूर्णरूपसे मानो । २—सब सम्बन्धियोंसे प्रेम रखो । ३—अपने मुखको ज्ञान-दर्पणमें देखो, यदि सुन्दर है तो ऐसा काम मत करो जिससे उसपर धब्बा लगे और यदि कुरूप है तो सत्य, सेवा और परोपकार करके सुन्दर बनाओ । ४—जो तुम्हारे साथ बुराई करे उसको तो बालू पर लिखो और जो भलाई करे उसको पत्थर पर ।

१८६०—जो पुरुष ईश्वरके तत्त्वसे अनभिज्ञ लोगोंको अमृतरूप ज्ञानका प्रकाश दिखलाकर सन्मार्गपर ले आता है, उस दयालु दीनबन्धु पुरुषपर सभी देवगण कृपा करते हैं ।

१८६१—अन्यायकी शिक्षा देनेवाले मनुष्यके सामने वह अन्यायकी शिक्षा ही एक दिन भीषण मृत्युके रूपमें आती है और तब उसे अपनी करनीपर पछताना पड़ता है ।

१८६२—प्राणघात, चोरी और व्यभिचार—ये तीन शारीरिक पाप हैं, असत्य, निन्दा, कटुभाषण और व्यर्थभाषण—ये चार वाणीके पाप हैं और परधनकी इच्छा, दूसरेके अनिष्टकी इच्छा तथा सत्य, अहिंसा, दया, दान आदिमें अश्रद्धा—ये तीन मानसिक पाप हैं ।

१८६३—भोग और ऐश्वर्यको अनित्य समझते हुए विवेक-वैराग्यपूर्वक वशमें किये हुए मन और इन्द्रियोंको शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त अपने-अपने विषयोंसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

१८६४—जो दयालु हैं, उन्हींपर भगवान्की दया होगी; जिसका मन शुद्ध है, उन्हींको भगवान्के दर्शन होंगे, जो धर्मके लिये सताये जाते हैं, स्वर्गका राज्य उन्हींका होगा और जो धर्मके पिपासु हैं, उन्हींकी तृप्ति होगी ।

१८६५—जब तुम सासारिक कामनाओंको छोड़ दोगे, तभी शोक और दुःखसे छूटकर सच्चे सुख और शान्तिको पा सकोगे ।

१८६६—हे जीव ! यदि तू भगवान्के इच्छानुसार चलना चाहता है तो उसकी शरणके सिवा और कोई उपाय नहीं है । जो मनुष्य अपने इच्छानुसार अपनेको चलाना चाहता है, वह स्वयं अपनेको धोखा देता है ।

१८६७—जिसमें जितना प्रेम है, वह उतना ही ईश्वरके समीप पहुँचा हुआ है—उतने अंशमें वह प्रभुमय बन गया है, क्योंकि प्रभु स्वयं अपार प्रेममय हैं ।

१८६८—जिसके हृदयमें प्रेम पूर्ण होता है, प्रेमके देवता स्वयं ईश्वर ही उसका योगक्षेम चलाया करते हैं ।

१८६९—ममताका नाश ही दुःखनाशका उपाय है । ममता होती है अज्ञानसे । अतः ज्ञानके अथवा भक्तिके द्वारा अज्ञानको नष्ट करना उचित है ।

१८७०—जिसके हृदयमें दया और धर्म बसते हैं, जो अमृतवाणी बोलते हैं और जिनके नेत्र नम्रतावश नीचे रहते हैं, असलमें वे ही ऊँचे हैं ।

१८७१—हे मेरी आत्माके प्रियतम स्वामी ! मैं तुमको ही चाहता हूँ, मुझे और कोई भी वस्तु प्यारी न लगने दो, जो वस्तुएँ मुझे तुमसे दूर हटाती हों, वे मुझे जहर-सी लगने लगीं । एकमात्र तुम्हारी इच्छा ही मेरे लिये मधुर हो—तुम्हारी इच्छा ही मेरी इच्छा बन जाय ।

१८७२—दुर्गुण एवं दुराचारका त्याग और सद्गुण एवं सदाचारका सेवन ही शुद्ध सात्त्विक जीवनका स्वरूप है ।

१८७३—भगवत्प्राप्तिके लिये ममता और अहंकारका त्याग एवं भगवान्‌का सतत स्मरण आवश्यक है ।

१८७४—एक भंगी भी अपने झाड़ने-बुहारनेके कार्यको भगवान्‌का कार्य समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये आवश्यक समझकर करता है, तो उसके कर्मको भगवान् सादर ग्रहण करते हैं और उसे अपनी सेवा समझते हैं । वह भगवान्‌का परमप्रिय होता है ।

१८७५—परमेश्वरकी इच्छा यह है कि तुम पवित्र बनो, व्यभिचारसे बचे रहो, तुममेंसे हर एक पवित्रता और आदरके साथ

भगवान्की प्रार्थना करना जाने, तुम सब आपसमें प्रेम करो; क्योंकि परमेश्वर प्रेमकी ही शिक्षा देता है ।

१८७६—गृहस्थको पाँच अशुभ प्रवृत्तियोंसे बचना चाहिये—
(१) हिंसा, (२) चोरी, (३) व्यभिचार, (४) असत्य और (५) व्यसन ।

१८७७—शम, दम, व्रत और नियमपरायण विश्वहितैषी मुमुक्षु मनुष्य निष्कपट भावसे जो कुछ भी किया करता है, उसीसे उसके गुण बढ़ते हैं ।

१८७८—दिनभरकी बुरी भावनाओं और बुरे कर्मोंसे बचकर रहना रातभरके भजनसे बढ़कर है ।

१८७९—बिगले ही मनुष्य अपनी इच्छा और मनके विरुद्ध बर्ताव कर सकते हैं । ऐसा उपदेश तो बहुत लोग दिया करते हैं, परंतु इसका पालन बहुत थोड़े कर सकते हैं ।

१८८०—ससार क्षण-क्षणमें नाश हो रहा है, इस मिथ्या नामरूपके ढेरको देखकर भूलना नहीं चाहिये ।

१८८१—वह वीर नहीं है जिसने शरीरको चकनाचूर कर डाला, बलिहारी है उस वीरको जो मनको जीतकर खड़ा है ।

१८८२—जिन्होंने वासनाओंको पददलित किया है, वे ही मुक्त हुए हैं, जिन्होंने ईर्ष्याका त्याग किया है, उन्हींको प्रेमकी प्राप्ति हुई है और जिन्होंने धैर्य धारण किया है वे ही शुभ परिणामको प्राप्त कर सके हैं ।

१८८३—प्रेमभक्तिमें गद्गद होकर एकान्तहृदयसे जिस तरह परमात्माकी प्रार्थना करते हो, प्रार्थनाके बाद उसी तरह

कठिन-से-कठिन कर्तव्यके पालनमें लग जाओ और उसे पूरा करो, नहीं तो तुम्हारी पूजा व्यर्थ है ।

१८८४—सर्वत्र भगवद्दृष्टि ही दिव्य दृष्टि है, जो भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होती है ।

१८८५—‘गुरुजनोंकी सेवा, भक्ति, सब वस्तुओंका भगवान्के प्रति समर्पण, साधु-भक्तोंका सङ्ग, ईश्वरकी आराधना, भगवान्की कथामें श्रद्धा, भगवान्के गुण-कर्मोंका कीर्तन, भगवान्के चरण-कमलका ध्यान, भगवान्की मूर्तियोंके दर्शन और उनका पूजन एव भगवान् हरि सब प्राणियोंमें स्थित हैं’ ऐसा जानकर सब प्राणियोंमें समदृष्टि रखनेसे भगवान्में प्रीति होती है ।

१८८६—सावधान ! लोगोंको दिखानेके लिये धर्मका आचरण न करो । यदि ऐसा करोगे तो भगवान्से तुम कुछ भी फल नहीं पाओगे ।

१८८७—पापी मनुष्य तभीतक सुख भोगता है, जबतक कि उसका पाप पक नहीं जाता । पापके परिपक्व होते ही उसको दुःखोंका शिकार बनना पड़ता है ।

१८८८—विषय-सुखोंके त्यागद्वारा जो भय और राग-द्वेषसे दूष्ट गया है वही त्यागी पुरुष सयमी कहलाता है ।

१८८९—जो हरि-जैसे हीरेको छोड़कर दूसरेकी आशा करते हैं, वे मनुष्य यमलोकमें ही जायेंगे ।

१८९०—सम्पत्तिकी ओर न ताककर सारी सम्पत्तिके स्वामी परमात्माकी ओर दृष्टि रखनेका नाम ही कृनज्ञता है ।

१८९१—दीन बना रहें, दुःखोंके प्रेरक भगवान् ही हैं ऐसा समझकर दुःखोंसे भेंट कर, तिरस्कारमें आनन्द मान, सुख-आराम और रक्षाके लिये भगवान्पर ही निर्भर कर ।

१८९२—जो मेरे परमपिता परमात्माकी इच्छाके अनुसार जीवन बिता रहा है, वही मेरा भाई है, वही मेरी बहिन और वही मेरी माता है ।

१८९३—वाणीसे स्तुति, मनसे स्मरण, सिरसे प्रणाम और हृदयसे भजन करते हुए प्रेमाश्रुनेत्र भक्तजन अपनी समस्त आयु श्रीहरिके अर्पण कर देते हैं ।

१८९४—जगत्में दो ही परमानन्दमें रहते हैं—(१) अबोध शिशु और (२) भगवत्-प्राप्त गुणातीत मुक्त पुरुष ।

१८९५—जिस परमात्मासे सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं और जिसमें सब लीन हो जाते हैं तथा जो सब प्राणियोंका पालन करता है, उस वेदप्रतिपादित ज्ञेय ब्रह्मको जो नहीं जानते वे बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं ।

१८९६—जबतक धन पैदा करनेकी ताकत रहती है, तभीतक घरके लोग प्रसन्न रहते हैं । जब बुढ़ापेमें शरीर जर्जर हो जाता है, तब कोई बात भी नहीं पूछता ।

१८९७—उन्नतिके सात साधन हैं—श्रद्धालु होना, पापकर्मसे लजाना, लोकापवादसे डरना, विद्वान् होना, सत्कर्म करनेमें उत्साह रखना, स्मृति जाग्रत् रखना और प्रज्ञावान् बनना ।

१८९८—इस संसारमें प्राणियोंके जन्मकी इतनी ही सफलता है कि वे अपने प्राण, धन, बुद्धि और वाणीके द्वारा निरन्तर ईश्वरबुद्धिसे दूसरोंका कल्याण करते रहें ।

१८९९—संसारसे अलग रहना ही उत्तम है, यहाँके सम्बन्धोंकी जड़में दुःख और कष्ट भरा है । जिसने अपना जीवन चुपचाप बिता दिया, सच तो यह है कि उसीका जीवन उत्तम बीता ।

१९००—जबतक मनुष्य अपने आत्माको नहीं पहचानता—यह नहीं जानता कि मैं वास्तवमें क्या हूँ, कौन हूँ और संसारमें किस लिये आया हूँ, तबतक उसका सारी दुनियापर विजय प्राप्त कर लेना भी व्यर्थ ही है ।

१९०१—आनन्द और अंदरकी शान्ति प्रभुमय जीवनके फल हैं, परंतु जो जीव हृदयसे भगवान्‌के शरण नहीं होता, उसको इनकी प्राप्ति नहीं होती ।

१९०२—जिसके मनमें कभी क्रोध नहीं होता और जिसके हृदयमें रात-दिन राम बसते हैं, वह भक्त भगवान्‌के समान ही है ।

१९०३—प्राणिमात्रको न सताना ही उत्तम दान है, कामनाका त्याग ही उत्तम तप है, वासनाओंको जीतनेमें ही वीरता है और सत्य ही समदर्शन है ।

१९०४—देवता, अतिथि, आश्रित, पितृगण और अपने-आप—इन पाँचोंको जो कुछ भी नहीं देता वह जीता ही मर चुका है ।

१९०५—जीवन कमलपर जलकी बूँदके समान अत्यन्त चञ्चल है, जल्दी चेतो और भवसागरसे पार होनेके लिये क्षणभरके लिये साधु-सङ्ग करो, यही भवसमुद्रकी नाव है ।

१९०६—आत्मज्ञानका सम्पादन करना और आत्मकेन्द्रमें स्थिर रहना मनुष्यमात्रका प्रधान कर्तव्य है ।

१९०७—प्रेम, दया और सेवा ऐसे शस्त्र हैं कि इनसे अधर्मके दुर्दान्त कामादि शत्रुओंके दल सहजमें ही पराभव हो जाते हैं ।

१९०८—शत्रुसे शत्रुता करना वैरको दूना बढ़ाना है, वैर दूर करनेका उपाय तो प्रेम है ।

१९०९—मासाहारी मनुष्य प्रत्यक्ष ही राक्षस है, उसका सङ्ग नहीं करना चाहिये, उससे भजनमें भंग पड़ता है ।

१९१०—जिनको जगना है, वे अभी जग जायँ; यही जागनेकी वेला है । जब पाँच पसारके सो जाओगे, तो फिर क्या जागोगे ?

१९११—भगवत्प्राप्तिके लाभके सामने समग्र ससार एक मच्छरकी पाँख जितना भी नहीं है, अतः ऐसी तुच्छ वस्तुसे वैराग्य होना कौन बड़ी बात है ।

१९१२—जिसका मन भगवान्में लगा रहता है, भगवान् उसकी सँभाल रखते हैं ।

१९१३—किसी भी दुखियाका दिल मत दुखाओ, दुखाओगे तो उसे बड़ा दुःख होगा, वह यदि दुःखमें रोकर पुकार उठेगा तो तुम्हारा सारा गुड़ मिट्टी हो जायगा ।

१९१४—धन, जन, यौवनका गर्व न करो, काल एक निमेषमें ही इन सबका हरण कर लेता है । इस मायामय प्रपञ्चको छोड़कर शीघ्र ही ब्रह्मपदका आश्रय ग्रहण करो ।

१९१५—अपने गरीब कुटुम्बी भाई और दूसरे दुखी लोगोंकी यथासाध्य सहायता करना, भूले हुएको मार्ग बतलाना और भूखेको

अपनी रोटीमेंसे आधा हिस्सा बॉटकर फिर खाना । सब लोग एक ही परमात्माकी संतान होनेके कारण ऐसा करना मनुष्यका धर्म है ।

१९१६—वैराग्य तीन प्रकारका होता है—(१) अपवित्र वस्तुओंका त्याग करना साधारण वैराग्य है, (२) आवश्यकतासे अधिक प्राप्त हुई पवित्र वस्तुओंका भी त्याग करना विशेष वैराग्य है और (३) ईश्वरसे दूर हटानेवाली वस्तुमात्रका त्याग करना ऋषियोंका वैराग्य है ।

१९१७—जिस क्षणमें भगवान्का चिन्तन नहीं किया, वही हानि है, वही महान् अपसध है, वही अन्धापन है, वही मूर्खता है और वही ठूँठपना है ।

१९१८—विपत्तिमें धैर्य, वैभवमें दया और संकटमें सहनशीलता—ये महात्माओंके लक्षण हैं ।

१९१९—भगवान्का भक्तिमार्ग प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंसे विलक्षण है । इसमें सासारिक विषयोंका त्याग नहीं है, न भोगही है, उन्हें भगवान्की वस्तु मानकर भगवान्के सुखके लिये भगवान्के अर्पण करते रहना ।

१९२०—यदि भगवान् मेरे हृदयसे चले जायें तो मैं रोगसे छूटना नहीं चाहता, भगवान् रहें तो मैं सदा-सर्वदा ही रोगी रहना पसंद करता हूँ । मुझे शरीर नहीं, पर भगवान् प्यारे हैं ।

१९२१—क्राम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा और दम्भसे रहित दयालु, सत्यवादी और सबका हित करनेवाले ही वैष्णव हैं ।

१९२२—जगत्में केवल सत्सङ्ग ही भवसागरसे पार करनेकी नौका है, उसीका आश्रय ग्रहण करो ।

१९२३—प्रेममें प्रतिकूलता नहीं रहती । प्रेम प्रतिकूलताको खा जाता है । प्रेमास्पद यदि प्रेमीके प्रतिकूल कार्य करके सुखी होता है तो उसीमें प्रेमीको अनुकूलता दीखती है ।

१९२४—भगवान्का निग्रह और अनुग्रह दोनों ही बड़े विचित्र हैं । उनके निग्रहमें भी अनुग्रह है । उनकी लीला कौन जान सकता है ।

१९२५—जिसका मन वशमें है, वही जगद्गुरु है । जैसे कच्ची छतमें जल भरता है, वैसे ही अज्ञानीके मनमें कामनाएँ जमा होती हैं ।

१९२६—पहली डुबकीमें रत्न नहीं मिला, इससे रत्नाकरको रत्नहीन मत समझो । धीरजके साथ साधन करते रहो, समयपर भगवत्कृपा होगी ही ।

१९२७—ईश्वरको पाना चाहते हो तो मनको पवित्र करो, भक्तिसे भगवान्के नामका गान करो, नम्र बनो, साधुओंकी चरणरज सिर चढ़ाओ, कुनर्क न करो, परनिन्दामें शामिल मत हो और यथा-शक्ति परोपकार करो ।

१९२८—जबतक कामना है, तबतक सुखके दर्शन स्वप्नमें भी नहीं होंगे । कामना श्रीराम-भजन बिना मिट नहीं सकती । अतएव सुखी होना हो तो श्रीरामका भजन करो ।

१९२९—दसों दिशाओंमें अशान्तिकी भयानक आग भडक उठी है, इससे बचना हो तो भागकर संतोंकी शीतल संगतिमें चले जाओ ।

१९३०—जो कपटरहित है, निर्भय है और बाहर-भीतरसे एक-सा है, वही सच्चा साधु है, चाहे वह गृहस्थ हो या संन्यासी ।

१९४६—घरमें रोशनी करते ही जैसे युगान्तरका अँधेरा एक ही साथ नाश हो जाता है, वैसे ही भगवान्की तनिक-सी कृपा-दृष्टिसे हजारों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं ।

१९४७—इन्द्रियों ही मनुष्यकी शत्रु हैं । आशा मिट जानेपर यह पृथ्वी ही स्वर्ग है । विषयोंमें प्रेम ही बन्धन है । सदा संतुष्ट ही बड़ा धनी है । मनको जय करनेवाला ही संसारमें विजयी है ।

१९४८—सारे सद्गुण विनयके अधीन हैं, विनय नम्रतासे आती है । अतएव जो पुरुष नम्र है वही सद्गुणसम्पन्न होता है ।

१९४९—दूसरेकी उन्नति करनेमें स्वाभाविक ही तुम्हारी भी उन्नति हुआ करती है । दूसरोंकी भलाई करनेमें तुम अपने अहंकार और लौकिक हितको जितना ही भूलोगे, उतना ही उसका परिणाम अधिक शुभ होगा ।

१९५०—पतंग बिना ही समझे आगमें कूदकर जल मरता है । मछली भी अज्ञानसे बसीका मांस खाकर फँस जाती है, परंतु हमलोग तो समझ-बूझकर भी विपत्तियोंसे भरे हुए विषयोंको नहीं छोड़ते । मोहकी यही महिमा है ।

१९५१—अपनी इच्छा छोड़कर प्रभुके शरण हो जाओ और उसकी कृपाकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त दीन बनो । —

१९५२—जो ईश्वर-प्रेमी हो गया वह संसार-प्रेमी नहीं हो सकता । संसार-प्रेमी जबतक संसारकी असारता और दुःखरूपताका अनुभव नहीं करता, तबतक वह ईश्वर-प्रेमी नहीं हो सकता ।

१९५३—निन्दा, खाद और वाद-विवादको छोड़कर दिन-रात श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये ।

१९५४—तीनों लोकोंमें इन चार बातोंसे बढ़कर मनुष्यको प्रसन्न करनेवाली और कोई बात नहीं है—दान, मैत्री, सब जीवों-पर दया और मीठे वचन ।

१९५५—सरलता बिना कोई भी मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता, अशुद्ध जीव धर्म नहीं कर सकता, धर्म बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष बिना सुखकी प्राप्ति असम्भव है ।

१९५६—जिस प्रकार वृक्ष जल सींचनेवाले और फल-फूल तोड़नेवाले दोनोंके साथ समान बर्ताव करता है, उसी प्रकार सज्जन भी अपनी भलाई करनेवाले और बुराई करनेवाले दोनोंके साथ एक-सा व्यवहार करते हैं ।

१९५७—भगवान्‌के नामका उच्चारण करनेसे सभी पाप जल जाते हैं, इसमें मनुष्यकी अचल श्रद्धा होनी चाहिये ।

१९५८—जिस नन्दनन्दनने यमुनाके तटपर सब गोपोंको बचानेके लिये कालियका मथन किया, वह क्या शरण चाहने-वालोंको शरण नहीं देगा ?

१९५९—जो लोग काम, क्रोध, मद और लोभमें रत हैं तथा दुःखरूप गृहमें आसक्त हैं, वे भवकूपमें पड़े हुए मूढ़ मनुष्य भगवान्‌को कैसे जान सकते हैं ? इन मायाके विकारोंसे छूटना हो तो सब कामनाओंको छोड़ यह विचारकर भी भगवान्‌का भजन करो कि श्रीहरिकी मायाके दोष-गुण हरिका भजन किये बिना नष्ट नहीं हो सकते ।

१९६०—जिसको भगवत्‌की प्राप्ति हो गयी है, वह पुरुष ईश्वर-भजनको छोड़कर दूसरोंका मार्गदर्शक या उपदेशक नहीं

१९३१—संसारका मोह छोड़कर ईश्वरकी वस्तु ईश्वरके ही अर्पण कर देनी चाहिये । संसारके भोगसुखोंसे तो केवल दुःख और मृत्युकी ही प्राप्ति होती है ।

१९३२—धन जिनका गुलाम है वे बड़भागी हैं और जो धनके गुलाम हैं वे बड़े अभाग्य हैं ।

१९३३—जो दूसरेके दुःखसे दुखी है वह भक्त रामको प्यारा है, ऐसे भक्तको भगवान् एक पलके लिये भी अपनेसे अलग नहीं करते ।

१९३४—जिस मनुष्यको परमात्माका यथार्थ ज्ञान होता है, वह कर्मसे नहीं बँधता, परंतु जिसको परमात्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होता वह संसारमें बार-बार जन्मता-मरता है ।

१९३५—श्रद्धा ही पुरुषके लिये श्रेष्ठ धन है, धर्म ही स्थायी सुख देनेवाला है, सत्य ही परम स्वादु पदार्थ है, और प्रज्ञासे जीवन बितानेवाला ही संसारमें श्रेष्ठ व्यक्ति है ।

१९३६—जो धनपर भरोसा करते हैं, उनके लिये परमेश्वरके राज्यमें प्रवेश करना ऊँटका सुईके छेदसे निकल जानेसे भी अधिक कठिन है ।

१९३७—जैसा कुटुम्बसे प्रेम है, वैसा ही यदि हरिसे हो जाय, उस दासका मोक्षमार्गमें जाते कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता ।

१९३८—संसार दुःखका सागर है और श्रीराम सुखका सागर । अतः संसारके निकम्मे कामोंको छोड़कर सुखसागरकी ओर जाना चाहिये ।

१९३९—श्रद्धाका आश्रय लिये बिना धर्मके मार्गपर नहीं चला जा सकता। चाहे और कुछ भी न हो, परंतु परमात्मापर श्रद्धा जरूर होनी चाहिये। श्रद्धासे सारे पाप भस्म हो जाते हैं।

१९४०—वैराग्य और ज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं। किसी भी परिस्थितिमें सर्वदा और सर्वत्र ही वैराग्यका आचरण किया जा सकता है। विवाहित स्त्री-पुरुष भी वैराग्यका सम्पादन कर सकते हैं।

१९४१—(१) मुक्ति कब होती है ? जब तमाम जजाल छूट जाते हैं। (२) निर्भरता किसे कहते हैं ? जब सब कुछ ईश्वरपर छोड़ दिया जाय। (३) अधीनता किसे कहते हैं ? जब प्रत्येक कार्य ईश्वरके अर्पण हो।

१९४२—‘जो ईश्वरीय आज्ञाको सुनते और उसीके अनुसार चलते हैं, उन्हींका जीवन धन्य है।’ इस परम सत्य वाक्यके अनुसार हमारा जीवन जितना प्रकाशित होगा, उतनी ही हमारे ज्ञान और सुखकी वृद्धि होगी।

१९४३—दूसरोंकी निन्दामें अपना पाण्डित्य दिखलाना, अपने कार्योंमें उद्योग न करना और गुणज्ञोंके साथ द्वेष रखना—ये तीन विपत्तिके मार्ग हैं।

१९४४—जिसके उच्च कुलमें जन्म होनेका, कठोर तपका, ऊँचे वर्णका, सत्-कर्मोंका, आश्रम और जातिका कोई भी अहंकार नहीं है, ऐसा पुरुष भगवान्‌को प्रिय होता है।

१९४५—भगवान् दुःख नहीं देते, दुःख-निवारणका उपाय करते हैं, परंतु हम अपनी नासमझीके कारण उसको दुःख मानने लगते हैं।

१९४६—घरमें रोशनी करते ही जैसे युगान्तरका अंधेरा एक ही साथ नाश हो जाता है, वैसे ही भगवान्की तनिक-सी कृपा-दृष्टिसे हजारों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं ।

१९४७—इन्द्रियाँ ही मनुष्यकी शत्रु हैं । आशा मिट जानेपर यह पृथ्वी ही स्वर्ग है । विषयोंमें प्रेम ही बन्धन है । सदा सतुष्ट ही बड़ा धनी है । मनको जय करनेवाला ही संसारमें विजयी है ।

१९४८—सारे सद्गुण विनयके अधीन है, विनय नम्रतासे आती है । अतएव जो पुरुष नम्र है वही सद्गुणसम्पन्न होता है ।

१९४९—दूसरेकी उन्नति करनेमें स्वाभाविक ही तुम्हारी भी उन्नति हुआ करती है । दूसरोंकी भलाई करनेमें तुम अपने अहकार और लौकिक हितको जितना ही भूलोगे, उतना ही उसका परिणाम अधिक शुभ होगा ।

१९५०—पतंग बिना ही समझे आगमें कूदकर जल मरता है । मछली भी अज्ञानसे बसीका मांस खाकर फँस जाती है; परंतु हमलोग तो समझ-बूझकर भी विपत्तियोंसे भरे हुए विषयोंको नहीं छोड़ते । मोहकी यही महिमा है ।

१९५१—अपनी इच्छा छोड़कर प्रभुके शरण हो जाओ और उसकी कृपाकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त दीन बनो । --

१९५२—जो ईश्वर-प्रेमी हो गया वह संसार-प्रेमी नहीं हो सकता । संसार-प्रेमी जबतक संसारकी असारता और दुःखरूपताका अनुभव नहीं करता, तबतक वह ईश्वर-प्रेमी नहीं हो सकता ।

१९५३—निन्दा, खाद और वाद-विवादको छोड़कर दिन-रात श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये ।

१९५४—तीनों लोकोंमें इन चार बातोंसे बढ़कर मनुष्यको प्रसन्न करनेवाली और कोई बात नहीं है—दान, मैत्री, सब जीवों-पर दया और मीठे वचन ।

१९५५—सरलता बिना कोई भी मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता, अशुद्ध जीव धर्म नहीं कर सकता, धर्म बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष बिना सुखकी प्राप्ति असम्भव है ।

१९५६—जिस प्रकार वृक्ष जल सींचनेवाले और फल-फूल तोड़नेवाले दोनोंके साथ समान बर्ताव करता है, उसी प्रकार सज्जन भी अपनी भलाई करनेवाले और बुराई करनेवाले दोनोंके साथ एक-सा व्यवहार करते हैं ।

१९५७—भगवान्‌के नामका उच्चारण करनेसे सभी पाप जल जाते हैं, इसमें मनुष्यकी अचल श्रद्धा होनी चाहिये ।

१९५८—जिस नन्दनन्दनने यमुनाके तटपर सब गोपोंको बचानेके लिये कालियका मथन किया, वह क्या शरण चाहने-वालोंको शरण नहीं देगा ?

१९५९—जो लोग काम, क्रोध, मद और लोभमें रत हैं तथा दुःखरूप गृहमें आसक्त हैं, वे भवकूपमें पड़े हुए मूढ़ मनुष्य भगवान्‌को कैसे जान सकते हैं ? इन मायाके विकारोंसे छूटना हो तो सब कामनाओंको छोड़ यह विचारकर भी भगवान्‌का भजन करो कि श्रीहरिकी मायाके दोष-गुण हरिका भजन किये बिना नष्ट नहीं हो सकते ।

१९६०—जिसको भगवत्‌की प्राप्ति हो गयी है, वह पुरुष ईश्वर-भजनको छोड़कर दूसरोंका मार्गदर्शक या उपदेशक नहीं

वनता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक प्रभुके सिवा कोई भी दूसरा रक्षक-शिक्षक या मार्गदर्शक है ही नहीं ।

१९६१—शरीरको छोड़नेके समय आत्माकी जिस वस्तुमें आसक्ति होती है, वह उसीमें प्रवेश करता है । उस समय यदि उसके हृदयमें भगवान्का प्रकाश न होकर जगत्का प्रकाश होता है, तो उसको अँधेरे जेलखानेमें जाना ही पडता है ।

१९६२—जब 'मैं' था, तब 'हरि' नहीं थे, अब 'हरि' हैं 'मैं' नहीं रहा । प्रेमकी गली बहुत ही सँकड़ी है, इसमें दो नहीं समा सकते ।

१९६३—मनुष्य सोता हो या बैठा हो, मृत्यु उसे खोजती ही रहती है और मौका पाते ही उसका नाश कर डालती है । फिर तू निश्चिन्त कैसे बैठा है ?

१९६४—जिस मनुष्यने जन्म लेकर अपना और दूसरेका कल्याण किया और तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लिया उसीका जीवन सार्थक है ।

१९६५—जिसको 'मैं कौन हूँ' का पूरा ज्ञान हो गया तथा जो प्रभुके प्रेम-रसमें पग गया है वही सच्चा साधु है ।

१९६६—जो सत्यपर कायम है वह परमेश्वरकी ज्योतिके समीप जाता है और जो बुराई करता है वह उस ज्योतिका शत्रु है । अतएव बुराई छोड़ो और सचपर डटे रहो ।

१९६७—जो मनुष्य अपने क्रोधको अपने ही ऊपर झेल लेता है वह दूसरोंके क्रोधसे बच जाता है ।

१९६८—दुनिया और दुनियाकी सब चीजें नाश होनेवाली हैं, पता नहीं रातको ही सब नष्ट हो जायें । इसलिये इनमें दिलको फँसाना कभी उचित नहीं ।

१९६९—जैसे जलके बिना नाव करोड यत्न करनेपर नहीं चल सकती, इसी प्रकार सहज सतोष बिना कभी शान्ति नहीं मिलती ।

१९७०—जो झूठ नहीं बोलता, परनिन्दा नहीं करता, सहृद्योंको धारण करता है, सबसे निर्वैर है, सबमें समभावसे आत्माको देखता है और हरिके चरणोंका प्रेमी है वही साधु है ।

१९७१—देवतालोग जबतक उन्हें अमृत नहीं मिला, तबतक न तो अमूल्य रत्नोंको पाकर ही तृप्त हुए और न भयानक जहरसे ही डरे, समुद्र मथनेमें लगे ही रहे । इसी प्रकार धीर पुरुष अपने उद्देश्यको सिद्ध किये बिना विश्राम नहीं लेते ।

१९७२—सच्चा भक्त जगत्में रहता हुआ भी राग-द्वेष छोड़कर कर्तव्य-कर्म करता है और कर्मके फलस्वरूप जो नफा-नुकसान या सुख-दुःख मिलता है, उसे ईश्वरकी गोदमें अर्पण कर देता है । वह तो रात-दिन केवल भक्तिके लिये ही ईश्वरसे प्रार्थना करता है । निष्काम कर्म इसीको कहते हैं ।

१९७३—जो मनुष्य ससारकी तरफ वासनाकी नजरसे देखा करता है, उसके अन्तःकरणमेंसे ईश्वर-प्रेम, दीनता और वैराग्यकी ज्योति निकल जाती है ।

१९७४—सपना सच्चा न होनेपर भी स्वप्नकी अवस्थामें जैसे स्वप्नसम्बन्धी दुःख नहीं मिटता, वैसे ही संसार सत्य न होनेपर

भी विषयोका चिन्तन करनेवाले पुरुषका अज्ञान-अवस्थामें जन्म-मरण नहीं छूटता । अतएव अज्ञानके नाशका प्रयत्न करना चाहिये ।

१९७५—सद्गुणोंको पानेके लिये प्रयत्न करो, बाहरी आडम्बरोसे क्या लाभ है ? बिना दूधकी गाय केवल गलेमें घटा बाँधनेसे ही नहीं बिकती ।

१९७६—यदि भगवान् विष्णुका परमपद शीघ्र पाना चाहते हो तो शत्रु-मित्र, पुत्र-वन्धु आदिके बखेडोंसे चित्त हटाकर सर्वत्र समबुद्धि करो ।

१९७७—पुत्र और परिवार आदि विषयोंमें आसक्त मनुष्योंपर मृत्यु उसी प्रकार आक्रमण करती है, जैसे रातके समय बाढ़ आकर गाँवमें सोये हुए लोगोंको बहा ले जाती है । जब मृत्यु आ जाती है, तब उसे पुत्र, पिता या वन्धु कोई नहीं बचा सकते । शीलवान् पण्डित इस बातको समझकर अपने लिये निर्वाणका रास्ता साफ करते हैं ।

१९७८—जिसके सङ्गसे तुम्हारे अदर अहकार पैदा होता हो, उसका सङ्ग छोड़ दो और जो मनुष्य तुम्हारे दोषोंको दिखलावे उसकी खुशामद करो ।

१९७९—जो पुरुष वनमें या घरमें कहीं भी रहकर विश्वके स्वामी, विश्वके हितैषी, विश्वके धारण-पोषण करनेवाले परमात्मामें मन लगाता है, वही पुण्यात्मा है और वही कृतार्थ है ।

१९८०—दया बिना जीवन यथार्थ जीवन नहीं है, वह जीते ही मरण है । इसलिये अपने हृदयमें सब ओरसे दया-प्रेमका

प्रवाह बहने दो, इससे तुम्हें दिव्य आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होगी, क्योंकि ईश्वर ही प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है ।

१९८१—सदा स्मरण रखिये कि ईश्वरने हमें सुख और प्रसन्नता सदा दे रखी है और ये हमारी चेतनामें वैसे-वैसे ही विस्तार पायेंगी, जैसे-जैसे हम इनको अपनायेंगे और इन्हें अपनेमें रहने देंगे ।

१९८२—श्रीरामके शरणागत हो जाओ, यही भवसागरकी नौका है, ससारसे तरनेका और कोई उपाय नहीं है ।

१९८३—जो मनुष्य ईश्वरीय वाणीकी मधुरता चाखे बिना ही इस लोकसे चले जाते हैं, वे बेचारे शान्ति और कल्याणसे वञ्चित ही रह जाते हैं । लोगोंके साथ सद्भावसे बर्तना, प्रभु पुरुषोत्तमकी सेवा करना, उनकी आज्ञामें रहना तथा प्रभुके ध्यान-स्मरणमें पवित्रतासे जीवन बिताना—यही हमारा यथार्थ कर्तव्य है ।

१९८४—झूठ बोलनेसे यज्ञका फल नष्ट हो जाता है, गर्व करनेसे तपका नाश होता है, ब्राह्मणकी निन्दा करनेसे आयु घटती है और किसीको दिया हुआ दान बतला देनेसे वह निष्फल हो जाता है ।

१९८५—जब शान्त और सत्त्वगुणी होकर चित्त आत्मामें लग जाता है, तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यकी प्राप्ति आप ही हो जाती है और जब वही शरीर तथा घर आदि मिथ्या पदार्थोंमें लगकर प्रबल रजोगुणी और विषयोंका अनुरागी बन जाता है, तब अधर्म, अज्ञान, विषयलोलुपता और अनीश्वरता छा जाती है ।

१९८६—जो परखीको बुरी दृष्टिसे देखता है, वह अपने इसीर मानसिक व्यभिचारका पाप चढ़ाता है ।

१९८७—सत्सङ्गके बिना भगवान्का रहस्य सुननेको नहीं मिलता, उसके सुने बिना मोह दूर नहीं होता और मोहका नाश हुए बिना भगवान्के चरणोंमें दृढ अनुराग नहीं होता ।

१९८८—जो परमात्मा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हैं, जो विश्वके ईश्वर हैं, सातों समुद्र जिनकी आज्ञामें रहते हुए पृथ्वीको डुबो नहीं देते उन वेद और उपनिषदोंद्वारा प्रतिपादित सब जगत्के साक्षी और सर्वज्ञ प्रभुको धन और जवानीमें मतवाले मूर्खलोग नहीं मानते ।

१९८९—स्वामीपनमें नम्रता, गुणोंमें प्रेम, हर्षमें सावधानता, मन्त्रमें गुप्तता, शास्त्रोंमें सुबुद्धि, धन होनेपर उदारता, साधुओंका सम्मान, दुष्टोंसे विमुखता, पापोंसे भय, दुःखमें कष्टसहिष्णुता—ये सब कल्याण चाहनेवाले महात्माओंके गुण हैं ।

१९९०—उपवास, अल्प भोजन, आजीविकाका नियम, रसत्याग, सर्दी-गर्मीका समभावसे सहन करना और स्थिर आसनसे रहना—यह छः प्रकारका बाह्य तप है और प्रायश्चित्त, ध्यान, सेवा, विनय, शरीरोत्सर्ग और स्वाध्याय—यह छः प्रकारका आभ्यन्तर तप है ।

१९९१—अगर कोई बोलना जाने तो बोली बड़ी ही अनमोल चीज है । पहले हृदयके तराजूपर तौलकर ही बोलनेके लिये मुँह खोलना चाहिये ।

१९९२—मनुष्य जितना ही मनकी वासनाओंका आदेश पालन करता है, उतना ही अधिक रोगी, दुखी और असंतोषी बनता है ।

१९९३—जब तुम्हारी ईश्वरकी ओर अनन्य दृष्टि हो जायगी तब तुरत ही प्रभुके साथ तुम्हारा मिलन होगा और जब तुम अपने तुच्छ स्वार्थों तथा सासारिक पदार्थोंकी ओर देखोगे तब तुरंत ही भगवान्से तुम्हारा वियोग हो जायगा ।

१९९४—सच्चा मित्र वह है जो दर्पणके समान तुम्हारे दोषोंको यथार्थरूपसे तुम्हे दिखा देता है । जो तुम्हारे अवगुणोंको गुण बतलाता है वह तो खुशामदी है, मित्र नहीं ।

१९९५—उठो, आलस्य मत करो, सच्चे धर्मका आचरण करो, धर्मका आचरण करनेवाला ही लोक-परलोकमें सुखी रहता है । बुरे मार्गमें भूलकर भी मत जाओ ।

१९९६—प्रेम सदा ही सहनशील और मधुर है, प्रेम ईर्ष्या नहीं करता, आत्मश्लाघा नहीं करता, गर्व नहीं करता, दुष्ट आचरण नहीं करता, स्वार्थकी चेष्टा नहीं करता, शीघ्र क्रोध नहीं करता, बुरा नहीं मानता, अधर्ममें सुखी नहीं होता और सदा सत्यके साथ आनन्द करता है ।

१९९७—सारे छल-कपट छोड़कर श्रीरामसे प्रेम करो । अरे, जो स्वामी सारा शरीर देख चुका है, उससे छिपाना क्या है ?

१९९८—इस असार ससारके उलट-फेरके फेरमें न पड़कर सर्वत्र समताका पवित्र भाव हृदयमें रखो, सर्वभूत-प्राणियोंमें समता रखना ही भगवान्की सत्रसे बड़ी भक्ति है ।

१९९९—भगवान्की शरण होना और उनके दर्शनके लिये हृदयसे प्रार्थना करना साधकका परम कर्तव्य है । जिसको

ईश्वरका साक्षात् हो चुका है, उसके लिये तो आशा या याचनाकी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती ।

२०००—सासारिक विषयोंमें उपरामता, ईश्वरकी आज्ञाका पालन और ईश्वरकी इच्छासे जो कुछ हो रहा है, उसीमें प्रसन्न रहना, यही सच्ची भक्तिके लक्षण हैं ।

२००१—हाथ और मनको काममें लगे रहने दे, परंतु अपने हृदयको तो केवल भगवान्‌में ही रख, भगवान्‌ आत्मा हैं । आत्मामें निवास कर, आत्मामें कर्म कर, आत्मामें प्रार्थना कर, सब कुछ आत्मामें ही कर, तू भी आत्मा ही है, भगवान्‌की मूर्ति ही है ।

२००२—तुम अपनी प्रत्येक वासनाको जीत सकते हो; क्योंकि तुम उसी अनन्त परमात्माके ही अंश हो जिसकी शक्तिका सामना कोई नहीं कर सकता ।

२००३—दूसरे किसीमें भी ममता न रहकर एक भगवान्‌में जो अनन्य ममता होनी है, उसीको प्रेम कहते हैं । इसी प्रेमको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदिने भक्ति बतलाया है ।

२००४—सद्विचारोंके परायण होना ईश्वरकी कृपाका चिह्न है । भगवत्कृपा बिना किसीका परम कल्याण नहीं हो सकता ।

२००५—सत्कर्म करनेवालोंकी देवता भी सहायता करते हैं और असत्-मार्गपर चलनेवालेका साथ सगा भाई भी छोड़ देता है ।

२००६—इस ससारमें दो ही अमूल्य रत्न हैं—एक भगवान्‌ और दूसरा संत । इन दोनोंका कोई मोल-तौल नहीं हो सकता ।

२००७—विरागकी प्राप्तिसे ही मनुष्य विरक्त होता है, विरक्त होनेपर ज्ञान होता है, तभी उसका जन्मक्षय होता है, तभी उसे

ब्रह्मचर्यका फल मिलता है, तब उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है; फिर उसे यहाँ आकर जन्म नहीं लेना पड़ता ।

२००८—विषय-सुखोंके त्यागद्वारा जिन्होंने भय और राग-द्वेषको छोड़ दिया है ऐसे त्यागी पुरुष ही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं ।

२००९—सूर्यकी किरणें सब जगह समान पड़नेपर भी जल और दर्पणमें प्रकाश अधिक दिखायी देता है, वैसे ही भगवान्‌का विकास सबके हृदयोंमें समानरूपसे होनेपर भी साधुके हृदयमें उसका विशेष प्रकाश होता है ।

२०१०—बैठे-बैठे अँधेरेमें क्या टटोल रहे हो : प्रकाशकी खोज करो । वह प्रकाश है भगवत्-प्रेम, भगवत्-निष्ठा ।

२०११—एक बार अपने अंदर प्रेमकी आग जग जाने दो, फिर तुम्हारे जिस दोषके साथ उसका स्पर्श होगा वही दोष जल जायगा । तुम्हारा 'तू' पन जल जायगा, अहकार नाश हो जायगा, 'मैं', 'मेरा' आदि भाव भस्म हो जायँगे और जब नया भाव सुलग उठेगा तब उसके तापमें प्रेमसे इतना महान् सुख मिलेगा कि उसके सामने विश्वका सारा सुख तुच्छ हो जायगा ।

२०१२—किसीके दोष न देखा करो, इससे आँख और मन दोनों मलिन होते हैं और जगत्‌में पापका बोझ बढ़ता है । इसलिये जो कुछ देखो अच्छाईकी ओर लक्ष्य रखो । अच्छाई ही सत्य और जीवन है । भगवान्‌को छोड़कर कोई भी पूर्ण नहीं है यह न भूलो ।

२०१३—दूसरेको सुखी देखकर प्रसन्न होना, दुखी देखकर उसकी सहायता करना, पर दुखी देखकर कभी प्रसन्न तो होना ही नहीं ।

२०१४—शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, मोह और क्रोध—इन छःसे जो मुक्त है वह सदा मुक्त है ।

२०१५—अहा ! वह कैसा सुखी होगा जो प्रभुको सदा समीप और अनुकूल देख पाता है ।

२०१६—सच्चा एकान्त कब हो ? जब भगवान्से शून्य जीवन-से परे हो जाओ ।

२०१७—जिसका मन कभी भी विकल नहीं होता और सदा ही प्रसन्न रहता है वह सदा मुक्त ही है ।

२०१८—दृढ़ निश्चय करके भगवान्की खूब भक्ति करनी और शरीर छूटनेसे पहले ही भगवान्को प्राप्त करनेका प्रयत्न करना—यही जीवनका कर्तव्य है ।

२०१९—किसका संग किया जाय ? जिसमें 'तू मैं'का भाव नहीं ।

२०२०—निन्द्य जीवनसे वैर बाँधकर ईश्वरके मित्र बनो । ईश्वरसे वैर बाँधकर निन्द्य जीवनसे प्रीति न करना ।

२०२१—एक छोटे-से जीवको भी अपनेसे नीचा मत समझो । बाहरी दुनियाको देखो भी तो ऊपर-ही-ऊपरसे । भीतरी आँखोंको तो उस प्रभुकी ओर ही लगाये रहो ।

२०२२—आगे-पीछेका विचार छोड़ो । जो हो गया है और जो होगा उसकी चिन्ता न करो । वर्तमानमें प्रभुके भजनमें लगे रहो ।

२०२३—दूसरेकी चीज लेनेकी कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये । इस नियमके पालनसे चोरी नहीं होगी; घूस नहीं ली

जा सकेगी, किसीका न्याय्य हक नहीं छीना जायगा, मुफ्तमें कुछ भी नहीं लिया जायगा, परखीके प्रति विकारसे नहीं देखा जायगा और केवल अपना हक ही लिया जायगा ।

२०२४—हृदय कब सुखी होता है ? जब हृदयमें प्रभु आ विराजते हैं ।

२०२५—जिसपर ईश्वरकी कृपा होती है, सासारिक सुखोंका उसीको अभाव रहता है ।

२०२६—सतोंका एक ही लक्ष्य होता है—भगवान् । किसी भी हालतमें उनका मन भगवान्से नहीं हटता ।

२०२७—अपने निर्वाहके लिये जो चिन्ता अथवा प्रपञ्च नहीं करता वही सच्चा विश्वासी है ।

२०२८—अहभावको छोड़कर विपत्तिको भी सम्पत्ति मानना ही सच्चा सतोष है ।

२०२९—उच्च और पवित्र भावना एक ऐसी अद्भुत वस्तु है जो मनुष्यके मनमें आकर भी स्थिर नहीं रहती । उसका तो मनुष्यपर बहुत प्रेम है, किंतु मनुष्यकी उसपर प्रीति हो तब न ।

२०३०—इस नाशवान् ससारमें जो आसक्त नहीं है वही सच्चा ऋषि है । तल्लीन होकर ईश्वरके गुण गाना, मत्त होकर प्रभुके संगीत सुनना और प्रभुकी अधीनता मानकर काम करना ही ऋषिका धर्म है ।

२०३१—जो ईश्वरमें लीन रहता है वही सच्चा सत है ।

२०३२—अपना भार दूसरेपर न लादना और बिना संकोच दान करना बड़ी दिलेरीका काम है ।

२०३३—ईश्वरमें निमग्न होना भावावेशमें अपनेपनका नाश करना है ।

२०३४—वास्तविक साक्षात्कारमें एक ईश्वरमें ही स्थित होनेके कारण अहता और ममताका नाश हो जाता है । ऐसी हालतमें तुम अपने शरीर और जीवको नहीं देख पाओगे ।

२०३५—सारी रात बिना नींदके प्रभुका स्मरण करनेवाला और दूसरे यात्रियोंके उठनेके पहले ही मंजिल तय कर लेनेवाला मनुष्य ही सच्चा प्रभु-भक्त और सत्पुरुष है ।

२०३६—जहाँ ईश्वरकी चर्चा होती है, वही स्वर्ग है ।

२०३७—जहाँ विषयोंकी चर्चा होती है, वही नरक है ।

२०३८—हे प्रभो ! तेरे सिवा मेरा कोई नहीं, तू मेरा है तो फिर सब कुछ मेरा है ।

२०३९—हं प्रभो ! मैं तो तुम्हींको चाहता हूँ और कुछ भी नहीं । तुम महान्-से-महान् हो; परम कृपालु हो, मुझे तुमसे शान्ति मिलेगी । मुझे अपनेसे जरा भी अलग न करना, मेरे सामने अपने सिवा और किसीको न आने देना ।

२०४०—ईश्वरकी कृपाके बिना मनुष्यके प्रयत्नसे कुछ भी नहीं मिल सकता ।

२०४१—ईश्वरके गुणोंका अपनेमें आरोप करनेवाला योगी अधम है ।

२०४२—अन्तःकरणमें एक भण्डार है, उस भण्डारमें एक रत्न है। वह रत्न है प्रभु-प्रेम । इस रत्नको पानेवाला ही ऋषि है ।

२०४३—मनुष्य ज्यों-ज्यों संसारी परदोंसे ढकता जाता है, त्यों-ही-त्यों वह प्रभुकी पूजा और साधना छोड़ता जाता है ।

२०४४—जो ईश्वरको जानता है वह ईश्वरको छोड़कर और किसी बातकी चर्चा ही नहीं करता ।

२०४५—सत वही है जिसे कोई भी विषय मलिन नहीं कर पाता, ब्रज्जिक मलिनता भी जिसे छूकर पवित्र हो जाती है ।

२०४६—सत्य और प्रिय वाणी, ब्रह्मचर्य, मौन और रसत्याग—इन चारका सेवन करनेवालेमें सदा सिद्धियाँ बसती हैं ।

२०४७—पीड़ाकी आग तो उसीको सता सकती है जो ईश्वरको नहीं पहचानता । ईश्वरको जाननेवाला तो धधकती हुई आगको भी ठंडी और सुखदायक जान पाता है ।

२०४८—जो ईश्वरके नजदीक आ गया उसे किस बातकी कमी ? सभी पदार्थ और सारी सम्पत्ति उसीकी है, क्योंकि उसका वह परम प्रिय सखा सर्वव्यापी और सारी सम्पत्तिका स्वामी है ।

२०४९—त्याग तप है । त्यागके बिना न तेज है न सत्कार है, न शान्ति है, न प्रसन्नता है, न आनन्द है और न मुक्ति ही है । त्याग करो—घरका नहीं, स्त्री-पुत्रोंका या धनका नहीं, त्याग करो क्रोधका, कड़वी वाणीका, विषयभोगका, मनकी विविध कामनाओंका, दूसरेको दुख देनेवाले स्वभावका, आलस्यका, अभिमानका, ओसक्तिका, ममताका और अहंकारका ।

२०५०—कोईके वन जाओ, स्वामी बना लो । स्वामी समर्थको बनाओ । सबसे समर्थ हैं—भगवान् । भगवान्के वन जाओ ।

भगवान्से विवाह कर लो । हाथ पकड़ लो । वे पकड़ा हुआ हाथ नहीं छोड़ते । दयालु हैं, समर्थ हैं, देखो, अगर तुम छोड़ भी दोगे तो याद रखो, भगवान्के बन जानेपर भगवान् कभी भूलते नहीं । छोड़ते नहीं ।

२०५१—या तो जैसे बाहरसे दिखाते हो वैसे ही भीतरसे बनो, नहीं तो जैसे भीतर हो वैसे ही बाहरसे दिखाओ ।

२०५२—प्रभुमें ही सब लोगोंकी स्थिति और गति देख सकनेपर ही पक्के पायेपर प्रभु-दर्शन हुए जानना ।

२०५३—धर्मकी भूख बादलके समान है । जहाँ वह बराबर जमी और चातककी-सी आतुरताकी गर्मी बढ़ी कि तुरत ईश्वरकी कृपाका अमृत बरसने लगा ।

२०५४—तीन बातें ध्यान देने लायक हैं—(१) जब कभी किसी घुरे आदमीसे काम पड़ जाय तो उसके नीच स्वभावको अपने भले स्वभावसे ढक लेना इससे स्वयं तुम्हें संतोष होगा, (२) जब कभी कोई तुम्हे दान दे तो पहले कृतज्ञ होना उस प्रभुका, उसके बाद उस उदारहृदय दाताको वन्द्यवाद देना, (३) जब कभी विपत्ति आ पड़े तो तुरंत विनीतभावसे उस विपत्तिको सहनेकी शक्तिके लिये प्रभुसे प्रार्थना करना ।

२०५५—जब-जब मनमें अशान्ति हो, तब-तब समझना चाहिये कि मैं भगवान्को भूल गया हूँ और इसलिये उस समय भगवान्का स्मरण करना चाहिये ।

२०५६—धर्म, सत्य और तप—यही जीवनकी सार सम्पत्ति है ।

२०५७—जो यह जानते हैं कि ईश्वर हमारा हर एक काम देखता है, वे ही बुरा काम करनेसे डर सकते हैं ।

२०५८—यहाँकी लक्ष्मी तो जीवके लिये भाररूप, चिन्ता, भय, क्लेश, श्रम, दुःख और मदको देनेवाली है और अन्तमें जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाली है ।

२०५९—शरीरका त्याग करनेसे भगवान्की प्राप्ति नहीं होती, उनकी प्राप्तिका एकमात्र सहज उपाय है निष्काम भजन—अहैतुकी भक्ति ।

२०६०—कोई भजन गाता हो, व्याख्यान देता हो, नाचता-कूदता हो और गाता-गवाता हो, पर यदि वह सदाचारी न हो तो उसका त्याग कर देना चाहिये ।

२०६१—दुराचारी संक्रामक रोगकी अपेक्षा भी अधिक भयंकर है । दुराचारके समान कोई दूसरा संक्रामक रोग नहीं है ।

२०६२—विशुद्ध प्रभुप्रेम जगत्में एक दुर्लभ पदार्थ है । मनमेंसे कपटबुद्धिका दूर करनेका जब मैंने प्रबल प्रयत्न किया, तब उस प्रभुने अनेक सद्गुणोंके रूपमें आकर मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया ।

२०६३—जो मनुष्य परस्त्रीके साथ या स्त्री-सम्बन्धी बातें करनेमें रस लेता हो, निर्लज्ज हो, ऊपरसे मीठी-मीठी बातें बनाने-वाला हो और रास्तेमें चलते-चलते खाता हो, उसका संग कभी नहीं करना चाहिये । ऐसे लोग प्रायः हृदयके कपटी और दुष्ट भाव-वाले होते हैं ।

२०६४—सत ईश्वरपरायणताकी ऊँची अवस्थामें अपार सुख-शान्ति भोगते हैं । वे ससारसे दूर भागे हुए होते हैं । वे न किसी चीजके मालिक होते हैं और न किसी चीजके गुलाम ही ।

२०६५—जो न तो दुनियाकी किसी चीजपर अपना बन्धन ही रखते और न खुद किसी बन्धनमें बँधते हैं, वे ही संत हैं ।

२०६६—सच्चे सतका धर्म बाहरी आचार और पण्डिताई दिखानेमें नहीं है । उनका धर्म है पवित्र-चरित्र होकर ईश्वरका अनुसरण करना, जो बाहरी दिखावे और ज्ञानकी बातें रट लेनेसे नहीं मिल जाता ।

२०६७—मुक्त रहना, वीर बनना और बाहरी सुख-वैभवसे अलग रहना, ईश्वरको पानेके लिये पशुवृत्तियोंकी गुलामी छोड़ देना—यह सच्चे सतका स्वभाव है । इस उत्तम स्वभावसे ससारकी मित्रताको छोड़कर ईश्वरसे स्नेह जोड़नेकी शक्ति आती है ।

२०६८—जिनकी सदा ईश्वरकी ओर दृष्टि है और जो ससारसे विरक्त हैं, वही सत हैं ।

२०६९—जो दुराचारियोंके अत्याचारोंसे कभी जरा भी व्यथित नहीं होते, वे ही महापुरुष हैं ।

२०७०—परमेश्वरके नामपर लोगोंको अपनी ओर घसीटनेवाले धर्मध्वजी बहुत-से हैं । उनसे बचकर रहना ।

२०७१—एक ईश्वरप्रेमीके लिये सभी स्थल मन्दिर हैं, सभी दिन पूजाके दिन हैं और सभी महीने व्रतके हैं । वह जहाँ रहता है, ईश्वरके साथ रहता है ।

२०७२—‘उस’ के अस्तित्वका ज्ञान होते ही मैंने अपने अस्तित्वकी ओर देखा, तो वहाँ भी मुझे उसीका अस्तित्व दिखायी दिया ।

२०७३—प्रभु अपने प्रेमियोंको ऐसी जगह रखता हैं जहाँ साधारण लोग पहुँच ही नहीं पाते । जो लोग उस जगह पहुँच गये हैं, उनको जनसाधारण पहचान ही नहीं सकते कि वे प्रभु-प्रेमी हैं । जब कभी मैंने उस प्रभुके सौन्दर्यकी बात लोगोंसे कही तो उन्होंने मुझे पागल बतलाया ।

२०७४—जिस किसीने साधु पुरुषोंका सद्वास किया है, वही ईश्वरको पा सका है ।

२०७५—हे प्रभो ! तुम जब मेरा सदा स्मरण रखते हो, तो मेरे आखिरी साँसतकके हर एक साँसके साथ तुम्हारा नाम रहे, मन भी सदा तुम्हारे स्मरणमें लगा रहे और तन और जीवन भी तुम्हारा अनुसरण करते रहें ।

२०७६—हे प्रभो ! तुमने मुझे अपने लिये ही रचा है और तुम्हारे लिये ही मैं जनमा हूँ । कृपाकर अपनी रची हुई किसी भी वस्तुके प्रति मेरे मनमें मोह न उत्पन्न होने देना ।

२०७७—मनुष्य ज्यों ही यह मानने लगता है कि मैं कुछ तो जानने लगा, तभीसे उसके ज्ञानके द्वार बंद हो जाते हैं ।

२०७८—पुरुषकी छिपी कामवासनामें यदि स्त्रीका देखना, सुनना, एकान्तमें मिलना और बातचीत करना चलता रहता है तो वह वासना बढ़कर प्रत्यक्ष कामनाका रूप धारण कर लेती है और फिर सहज ही मनुष्यका पतन हो जाता है ।

२०७९—स्त्रीसम्बन्धी साहित्य पढ़ना, स्त्रियोंके चित्र देखना और उनके नृत्य-गानके दृश्य देखना आदिसे दुर्वासनाकी सहज ही वृद्धि होती है ।

२०८०—स्त्रियोंके साथ बात करनेसे विकार बढ़ता है और स्पर्श करनेपर तो मानो वह पूरा बढ़ जाता है ।

२०८१—मानव-जीवन भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है, इसके द्वारा मोक्ष अथवा भगवान्‌को पा लेनेमें ही इसकी सच्ची सार्थकता है ।

२०८२—साधुओंका समागम करनेसे प्रभुप्रेमरूपी सुन्दर बादल उमड़ेंगे और उनसे ईश्वर-अनुग्रहका स्वच्छ जल बरसेगा, किंतु जब तुम उस प्रभुका ही समागम करने लग जाओगे तब तो उन बादलोंसे प्रेमके अमृतकी वर्षा होने लगेगी ।

२०८३—जो ईश्वरकी ओर जाता है उसे वह कुछ ऐसी वस्तु दे देता है जिससे उसका अपना सब कुछ चला जाता है और उसके बदलेमें भजन, भाव, उपासना, प्रार्थना आदि दैवी पदार्थ प्रभुकी ओर-से उसे मिलते रहते हैं ।

२०८४—स्वयं ईश्वर जिसका मार्गदर्शक है, उसका रास्ता अपने भरोसे ही चलनेवालेके रास्तेसे कहीं अधिक सुगम और छोटा है; क्योंकि ईश्वर अपने आश्रितको दिव्य दृष्टि प्रदान करता है, जिससे वह अपने सीधे रास्तेको सरलतासे देख लेता है ।

२०८५—रास्ते दो हैं—एक लंबा दूसरा छोटा । लंबा रास्ता भक्तके पाससे शुरू होकर भगवान्‌के पास जाता है और छोटा रास्ता भगवान्‌के पाससे शुरू होकर भक्तके पास आता है ।

२०८६—किये बिना मिलनेका नहीं । जैसा करता है वैसा मिलता है, पहले किया है वैसा अब मिल रहा है और अब जैसा करोगे वैसा आगे मिलेगा ।

२०८७—कुटुम्ब-पालन और विषयभोग तो पशु-पक्षी भी करते हैं । फिर तुम मनुष्य होकर कुटुम्ब-पालन और विषय-भोगमें ही अपनी आयुको क्यों खो रहे हो ? देखो तो सही ।

२०८८—जब पूरी तरहसे अपना विनाश कर लोगे तभी तुम 'पूर्ण' बनोगे ।

२०८९—स्वर्ग और मृत्युलोकके सारे जीवनमें किये हुए धर्मानुष्ठानोंकी अपेक्षा पलभरका पवित्र प्रभु-समागम कहीं श्रेष्ठ है ।

२०९०—मनुष्यके विचार उसके इतने अधिक समीप है कि जितने समीप उसके हाथ, पैर और आँख, कान आदि अङ्ग भी नहीं है । मनके विचारोंका आत्माके साथ साक्षात् सम्बन्ध है, जब कि हाथ-पैर तथा आँख-कान आदि तो मनके सेवकमात्र हैं ।

२०९१—ईश्वरके प्रेमियोंके लिये है उसका स्नेह और पापियोंके लिये है उसकी दया ।

२०९२—जागो, उठो और लग जाओ । ऐसा अवसर फिर जल्दी नहीं आयेगा । ईश्वरका भजन करो । अपने पास कुछ हो तो दान करो । भूलेको मार्ग बताओ । दुखीकी सहायता करो तथा मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर भगवान्में लगाओ ।

२०९३—माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना संतानका धर्म है । निष्काम भावसे या भगवद्बुद्धिसे हो तो इतने ही धर्मके पालनसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।

२०९४—पलभरका ईश्वरका सहवास हजारों वर्षोंकी साधनासे कहीं अधिक उत्तम है ।

२०९५—साधुओंका बाना तो बहुत पहन लेते हैं; परतु ईश्वर तो चाहता है मनकी शुद्धि और व्यवहारकी सात्त्विकताका बाना ।

२०९६—ऐसे लोगोंकी ही सङ्गति करना जो ज्ञानाग्निसे शुद्ध होकर प्रभुके ममতারूपी अमृतसागरमें डूबे हैं ।

२०९७—मनुष्यका यह धर्म है कि वह बिना किसी भेदभाव-के दुःखमें पड़े हुए जीवकी यथाशक्ति सहायता करे—उसे कष्टसे बचावे और सुख पहुँचावे ।

२०९८—जो श्रोता प्रभुको पानेकी इच्छा नहीं रखता उससे बात मत करो, और जिस वक्ताको प्रभुके दर्शन नहीं हुए उसकी बात मत सुनो ।

२०९९—सच्चे प्रभु-प्रेमी बनकर जिस-किसी ओर देखोगे, वही ईश्वर ही दिखायी देगा । कारण, ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है ही ।

२१००—यदि किसीके पास धन आये तो उसे तुरंत भगवत्प्रीत्यर्थ लोकसेवाके काममें लगाना आरम्भ कर देना चाहिये । धनकी सार्थकता और सफलता इसीमें है । भगवान्की प्रसन्नताके लिये व्यय किया हुआ धन भगवान्की प्रसन्नताका तथा भगवत्प्राप्तिका कारण होता है ।

२१०१—पूरी लगनसे काम करके उसे ईश्वरको समर्पित कर देनेवाला ही सच्चा साधु है ।

२१०२—प्रभु-प्रेमी ही प्रभुको पाता है और जो प्रभुको पा लेता है, वह अपने-आपको भूल जाता है। उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है।

२१०३—पौथियोंके पण्डित धर्मका उपदेश दूसरोंको सुनानेमें ही लगे रहते हैं, किंतु सच्चे साधु अपने-आपको सुनाते हैं और स्वयं उसपर आचरण करते हैं।

२१०४—लोगोंके आगे रोनेकी अपेक्षा प्रभुके आगे रोओगे तो सच्चा लाभ होगा।

२१०५—तुमने 'उसे' कहाँ देखा ?—जहाँ मैं खुद खो गया। अपने-आपको मैं नहीं देख पाया वहाँ।

२१०६—मैं नहीं कहता कि काम मत करो। काम जरूर करो, किंतु अपनी शक्ति और सम्पत्तिके सहारे नहीं, उस प्रभुकी शक्ति और सम्पत्तिके सहारे करो। वह करावे तभी करो।

२१०७—साधु पुरुषो । सावधान रहना । फकीरो । फकीरी पोशाकसे ही तुम्हें उसके दर्शन नहीं हो सकेंगे । इन बाहरी साधनोंमें ही साधुता मान बैठनेसे तो हानि ही होगी ।

२१०८—यदि ईश्वरप्रीत्यर्थ ही सब कुछ किया जाय या अपने-को निमित्तमात्र मानकर अपने ऊपर कर्तृत्वका अभिमान न लादा जाय तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता ।

२१०९—क्या करनेसे जाग्रत रहा जा सकता है ? हर एक श्वासके साथ यही समझो कि बस, यही अन्तिम श्वास है ।

२११०—आत्म-विसर्जन ही प्रेमका मूल मन्त्र है । प्रेमास्पद-का हित और सुख ही प्रेमीका परम सुख है । प्रेमास्पद उसके

प्रेमका तिरस्कार करे, उसे ठुकरा दे, पर प्रेमीके पास इन सब बातोंकी ओर देखनेके लिये चित्त ही नहीं है, उसका चित्त तो सहज ही अपने प्रेमास्पदमें लगा है ।

२१११—इस दुनियाके कँटीले झाड़के नीचे बैठकर प्रभुका ध्यान करना मुझे पसंद है, किंतु स्वर्गके कल्पतरुके नीचे बैठकर ईश्वरको भूल जाना मुझे पसंद नहीं ।

२११२—ईश्वरके मार्गमें पहले व्याकुलता, तीव्र जिज्ञासा और पीछे निर्मलता, पश्चात्ताप, प्रभुकी महिमाका कीर्तन और परमात्म-दर्शन क्रमशः आते हैं ।

२११३—पवित्र बनो । ईश्वर स्वयं पवित्र है और वह पवित्रात्मापर ही अपने प्रेमकी वृष्टि करता है ।

२११४—सच्चा सत ईश्वरकी गोदमें हँसने, खेलनेवाला सुन्दर बालक है । ईश्वरकी गोदमें संत बिना किसी सकोचके खेलता-कूदता और गाता-बजाता रहता है ।

२११५—अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुको अपने परम प्रिय सखा परमात्माके लिये न्यौछावर कर दो, यही प्रभु-प्रेमका लक्षण है ।

२११६—गहरे उतरकर तुम उसकी खोज नहीं करते, इसीलिये तो उसे नहीं पा सकते ।

२११७—मनुष्यने प्रभुको देखा नहीं है, इसीलिये वह विषय-भोगोंके पीछे दौड़ता फिरता है । उसने उसे देख लिया होता तो वह दूमरी चीजोंके पीछे क्यों दौड़ता फिरता ?

२११८—अपने मनमें सोचकर देखो, क्या वास्तवमें तुम्हें प्रभुको प्राप्त करनेकी अभिलाषा है ? यदि यथार्थ ही उन्हें पानेकी अभिलाषा है तो अवश्यमेव पूरी होगी ।

२११९—जिस प्रकार वर्षाऋतुके आनेपर जल बरसता है, बिजली चमकती है, मेघ गर्जना करते हैं, हवा जोरसे चलने लगती है, फूल खिल उठते हैं और पक्षी आनन्दमें झुंझकर कूदने लगते हैं, उसी प्रकार परमात्माके दर्शन हो जानेपर आनन्दित होकर नेत्र जलवर्षा करने लगते हैं, ओठ मृदु हास्य करने लगते हैं, अन्तरकी कली खिल उठती है, आनन्दके झोंकेसे मेस्तक हिलने लगता है, प्रतिक्षण उस प्रिय सखाके नामकी गर्जना होने लगती है और प्रेमकी मस्ती प्रभुके गुणगानमें सराबोर कर देती है ।

२१२०—जो मनुष्य अपनी वडाई सुनकर उसका विरोध करता हुआ भी मन-ही-मन प्रसन्न होता है, वह मूर्ख है और प्रायः दूसरोंके द्वारा ठगा जाता है ।

२१२१—प्रभुकी पूजा करना ही सच्चा कर्तव्य है । उसकी खोज करना ही सच्चा रास्ता है, उस परमात्माका दर्शन होना ही एक सच्ची कथा है ।

२१२२—जिस व्यक्तिका अहंकार जितना ही अधिक होता है, उसके दुःख भी उतने ही अधिक होते हैं । अहंकारकी वृद्धि एक प्रकारका पागलपन है ।

२१२३—प्रभुस्मरणके लिये संसारको भूल जाओ और परलोककी बात भी मत सुनो ।

२१२४—सृष्टिमेंसे मनको खींचकर स्रष्टामें लगाना ही वैराग्य है । ईश्वरेतर सब चीजोंसे परे रहना ईश्वरके समीप जाना है ।

२१२५—सृष्टि और स्रष्टा तथा विधान और विधाताको एक समझनेमें ही पूर्णता है ।

२१२६—लोककल्याणको अपने कल्याणसे भी अधिक मानना ही सच्ची साधुता, महत्ता और उदारता है ।

२१२७—जिस लोक-कल्याणमें अभिमानका पुट है वह तो मोह है—त्याज्य है ।

२१२८—इस समय तुम्हें जो क्षण प्राप्त है, वही तुम्हारा सबसे बढ़कर कीमती धन है । आध्यात्मिक जगत्में काल नामकी वस्तु ही नहीं है, इसीलिये भूत और भविष्य भी नहीं हैं ।

२१२९—जिस प्रकार स्नान आदिसे प्रतिदिन शरीर स्वच्छ करना जरूरी है, उसी प्रकार मनको भी रोज स्वच्छ करना चाहिये । मनको धोनेके लिये भगवान्‌का भजन ही स्वच्छ सरोवर है ।

२१३०—ईश्वर भीतरकी छोटी-से-छोटी बातको भी देख रहा है—इस बातको एक क्षण भी न भूलो ।

२१३१—जिस साहित्यसे मनमें कामनाएँ जाग्रत् हों, मन विषयोंमें जाय, उसे मलिन साहित्य मानकर उसका त्याग करना चाहिये और जिससे कामनाएँ घटें, मनमें भगवान्‌के प्रति प्रीति उत्पन्न हो, मन निर्मल हो—उसे शुद्ध साहित्य मानकर उसका अध्ययन करना चाहिये ।

२१३२—जिसके मनमें कामवासना प्रबल हो उसके लिये विवाह कर लेना ही उचित है । ऐसा करनेसे वह दूसरे पापों और

सङ्कटोंसे बच जाता है । मेरी भी नजरमें अगर दीवार और औरत एक-सी न लगती होती तो मैंने भी विवाह कर लिया होता ।

२१३३—जिन भगवान् ने तुम्हे शक्ति, साधन, सम्पत्ति दी है, वे प्राणिमात्रके हृदयमें बसते हैं, अभिमान छोड़कर उन्हें उनकी सेवामें खर्च करके भगवान् की सेवा करो ।

२१३४—भाग्यशाली कौन ? जो ईश्वरकी भक्ति करके उसके प्रेमका स्वाद चखकर इस लोक और परलोकमें शान्ति पाता है ।

२१३५—सावधान रहना । जो आदमी तुम्हारे आगे दूसरोंकी निन्दा करता है, वह दूसरोंके आगे तुम्हारी निन्दा अवश्य करता होगा । ऐसे आदमीकी बातोंमें मत फँसना, नहीं तो बड़ी भारी विपत्तिका सामना करना होगा ।

२१३६—सदा प्रभुसे डरकर चलना और भूलकर भी किसीका अहित न चाहना, न करना ।

२१३७—ईश्वरपर विश्वास रखकर जो भी काम किया जाता है, वही मङ्गलमय हो जाता है । विश्वास मुख्य वस्तु है ।

२१३८—जगत् में सत्य और प्रिय बोलनेवाले बहुत ही दुर्लभ हैं । कभी वे मिलें तो उनके दर्शनसे, उनको प्रणाम करके, उनको सतुष्ट करके, उनका सत्सङ्ग करके पवित्र हो जाओ ।

२१३९—सदा सत्पुरुषोंकी सङ्गतिमें रहना ।

२१४०—सावधान ! परस्त्रीकी ओर कभी दृष्टिपात भी न करना ।

२१४१—दिवसका पहला और आखिरी प्रहर प्रभुके गुणगान, पठन और गुण-श्रवणहीमें बिताना ।

२१४२—ईश्वरोपासनाको परम कर्तव्य मानकर उसीमें लगे रहना ।

२१४३—साधनाके लिये निर्जनताका आश्रय बहुत ही उत्तम है ।

२१४४—सब बातोंको छोड़कर अपने एकमात्र परम मित्र परमात्मामें लीन होना ही योगकी ऊँची अवस्था है ।

२१४५—जो वस्तु—जो स्थिति तुम्हें ईश्वरसे दूर रखती है, उससे तुम खय दूर रहो, यही निवृत्ति है ।

२१४६—सासारिक सम्पत्ति छोड़कर परमात्मामें समायी हुई सच्ची शान्ति पाना ही सच्चा वैराग्य है । अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति करना ही सच्चा विलास है ।

२१४७—मनमें जो कामनाएँ उठें, उन्हें मनमें ही लीन कर दो । सुखके लिये कभी कामना मत करो । कामना न करनेसे ही यथार्थ सुखका अनुभव होगा ।

२१४८—जिसकी दृष्टिमें जन्म और मरण समान हैं वही सच्चा साधु है ।

२१४९—लोगोंकी नजरमें जिसका दरजा ऊँचा हो गया है, समझ लो वह बहुत ही हल्का मनुष्य है ।

२१५०—जिस प्रभु-प्रेमीको दुनियाके लोग नाचीज, पागल और बेसमझ समझते हैं, वह सबसे ऊँचा है । दुनियावी तराजूमें यह तराजू न्यारा है ।

२१५१—जो मनुष्य विपत्तिमें भी अपने ऊपर ईश्वरकी कृपाको देख सकता है, वह कभी मृत्युकष्टके अधीन नहीं हो सकता ।

२१५२—ईश्वरकी सेवासे शरीरमें और श्रद्धासे प्राणोंमें ज्योति प्रकट होती है ।

२१५३—जो कुछ भी तुम्हारा है उसका त्याग करो और 'बह' जैसी आज्ञा दे उसका पालन करो ।

२१५४—ईश्वरका भय मनका दीपक है । इस दीपकके प्रकाशसे मनुष्य अपने गुण-दोष भलीभाँति देख सकता है ।

२१५५—दूसरोंसे लेनेकी अपेक्षा देनेमें जिसे अधिक सुख नहीं मालूम होता वह सच्चा सत नहीं हो सकता ।

२१५६—दुनियामें घुसना बहुत आसान है, पर उनमेंसे निकलना उतना ही मुश्किल है ।

२१५७—ईश्वरके प्रति नम्र होना, उसकी आज्ञाके मुताबिक चलना, उसकी प्रत्येक इच्छाके आगे सिर झुकाना—इसीका नाम ईश्वरके प्रति विनय दिखाना है ।

२१५८—प्रभुपर निर्भर और उसके अधीन रहनेवाला वास्तवमें वही है जिसने ईश्वरका दृढ आश्रय लिया है और जो किसी भी बातका उसे दोष नहीं देता ।

२१५९—एक ईश्वरकी प्राप्तिके लिये ही जिसके मनमें वैराग्य उपजा हो वही सच्चा वैरागी है, स्वर्गके लोभसे जो वैरागी बना हो वह तो असली वैरागी नहीं ।

२१६०—अपने पास बहुत-से नौकर-चाकर और भोगोंके सामान देखकर एक अज्ञानी ही फूल नहीं समाता ।

२१६१—जिसने अपना अभिमानका बोझ हल्का कर लिया

है, वही पार उतर सकता है । जिसने बोझ बढ़ा लिया है, वह तो डूबेगा ही ।

२१६२—जो मनुष्य ससागको नाशवान् और भगवान्को सदाका साथी समझकर चलता है, वही उत्तम गति पाता है । जो नाशवान् चीजोंका मोह छोड़कर, संसारका भार प्रभुपर छोड़कर भाररहित हो जाता है, वह सहज ही संसार-सागरसे तर जाता है ।

२१६३—इस दुनियामें इन्द्रियोंको बाँधनेके लिये जैसी मजबूत साँकल चाहिये वैसी मजबूत साँकल पशुओंको बाँधनेके लिये भी नहीं चाहिये ।

२१६४—तुम्हारे पूर्वज ईश्वरकी आज्ञाओंका पालन करते हुए चलते थे । रातको वे उसका चिन्तन करते थे और दिनमें उसीके अनुसार वर्ताव करते थे, परंतु तुमने वैसा करना छोड़ ही नहीं दिया, उलटे ईश्वरकी आज्ञाओंके उलटे-सुलटे अर्थ लगाकर तुम ससारमें आसक्ति बढ़ानेवाले लेख तैयार कर रहे हो ।

२१६५—तुम्हारा चिन्तन तुम्हारा दर्पण है । कारण, तुम्हारे शुभाशुभका हाल वह बता देगा ।

२१६६—जिसकी दृष्टि वशमें नहीं, उसे कुमार्गपर जाना पड़ता है ।

२१६७—जिसने वासनाओंको पैरोंतले कुचल दिया है, वही मुक्त है ।

२१६८—जबतक हृदय सकेत नहीं करता, ज्ञानी मौन रहते हैं । उनकी जीभसे वही बात निकलती है जो उनके हृदयमें होती है ।

२१६९—इस दुनियामें लोगोंकी दोस्ती बाहरसे देखनेमें सुन्दर पर भीतरसे जहरीली होती है ।

२१७०—इस मायावी संसारसे सदा सचेत रहना, यह बड़े-बड़े पण्डितोंके मनको भी वशमें कर लेता है ।

२१७१—जिन्हें ईश्वरकी स्तुति और ईश्वरका स्मरण करनेके बदले लोगोंको शास्त्रवचन सुनाना ही अच्छा लगता है, प्रायः उन सबका ज्ञान बाहरी—नकली है, उनका जीवन सारहीन है ।

२१७२—अपनेसे छोटे और अधीनको सुधारनेके लिये, भूल हो तो उसे मीठे वचनोंसे एकान्तमें उसकी भूल समझा दो, किंतु तिरस्कार-तकरार न करो ।

२१७३—विपत्तिको सह लेनेमें अचरज नहीं है, अचरज है वैसी हालतमें भी शान्त और आनन्दमग्न रहनेमें । और यही ईश्वर-विश्वासका लक्षण है ।

२१७४—ईश्वरसे डरकर जो काम किया जाता है वह सुधरता है, और जो काम बिना उसके डरके किया जाता है वह बिगड़ता है ।

२१७५—जबतक लोक और लौकिक पदार्थोंमें आसक्ति रहेगी, तबतक ईश्वरमें सच्ची आसक्ति न हो सकेगी ।

२१७६—जिसकी जीभ सत्य और हितकर वाणी बोलती है, वही वास्तविक वक्ता है ।

२१७७—प्रभु-प्रेम मनुष्यसे प्रभु-प्रेमकी बातें करवाता है । प्रभुकी लज्जा उसे असत् बोलनेमें मौन रखती है और प्रभुका भय उसे पाप करनेसे बचाता है ।

२१७८—दानादि सत्कर्मोंको करते समय होनेवाली अपनी प्रशंसाकी ओर कान भी न दो । वह प्रशंसा तुम्हारी नहीं, उस ईश्वरकी महिमा है ।

२१७९—पहले प्रभुके दास बनो और जबतक वैसे न बन पाओ, 'अह ब्रह्मास्मि' 'मैं वही हूँ' ऐसा मन कहो । नहीं तो, घोर नरककी यातना भोगनी होगी ।

२१८०—जो मनुष्य सासारिक विषयों तथा विषयी लोगोंके ससर्गसे दूर रहता है और साधुजनोंका ही सङ्ग करता है, वही सच्चा प्रभु-प्रेमी है, कारण, भगवत्परायण साधुजनोंसे प्रीति करना और ईश्वरसे प्रीति करना एक ही समान है ।

२१८१—सच्चे प्रभु-प्रेमीके दो लक्षण हैं—स्तुति-निन्दामें समभाव रहना और भगवान्से कोई भी लौकिक कामना न रखना ।

२१८२—सयोगका वियोग एक दिन अवश्य होना है । मचित-का क्षय अनिवार्य है । जो इस प्रकार समझ लेते हैं, वे विज्ञ पुरुष यहाँकी लाभ-हानिमें हर्ष और शोकके वश नहीं होते ।

२१८३—विश्वासके चार लक्षण हैं—सब चीजोंमें ईश्वरको देखना, सारे काम ईश्वरकी ओर नजर रखकर ही करना, हर एक दुःख-सुखमें उसका हाथ देखना और हर हालतमें हाथ पसारना तो उस सर्वशक्तिमान्के आगे ही ।

२१८४—मनुष्यको, जहाँतक बने, अपने दोष देखने चाहिये, उनके लिये मन-ही-मन अपनी निन्दा करनी चाहिये और अपनेको निर्दोष बनानेका सतत प्रयत्न करना चाहिये ।

२१८५—जो मनुष्य दुःखमें प्रभुका आशीर्वाद देखता है, वह महान् है ।

२१८६—जो मनुष्य सुखमें प्रभुका चिन्तन करता है, वह भाग्यवान् है ।

२१८७—ईश्वरसे डरनेवालेका मन ईश्वरको नहीं छोड़ता, उसके मनमें प्रभु-प्रेम दृढ़ रहता है और उसकी बुद्धि पूर्णताको प्राप्त होती है ।

२१८८—बड़प्पनको खोजनेवाला तो हल्काईको ही पाता है ।

२१८९—इस ससारमें एक ईश्वरका भय दूसरे सब भयोसे मुक्त करता है ।

२१९०—अचरजकी बात है ! तेरा प्यारा मित्र तेरे समीप भी है और अनुकूल भी है, फिर भी तेरी यह हालत ?

२१९१—दूसरोंके दोष-दर्शन, परनिन्दा और वृद्धों तथा सत्पुरुषोंका अपमान करनेमें मनुष्यका अभिमान ही प्रधान कारण है ।

२१९२—ईश्वरकी कठोर-से-कठोर आज्ञाका पालन करनेमें भी प्रसन्न होना सीखो । ईश्वरका आदेश सुनने-समझनेकी इच्छा हो तो पहले अभिमान छोड़कर आदेशको सुनकर उसके पालनमें जुट जाओ । भयानक विपत्तिमें भी हरेक साँसके साथ प्रभुके प्रेमको बनाये रखो ।

२१९३—मनुष्य कब ईश्वरार्पण हो सकता है ? जब कि वह अपने आपको, अपने हरेक कामको बिल्कुल भूल जाय, सर्वभावसे उसका आसरा ले ले और उसके सिवा किसी दूसरेकी न आशा रखे, न किसीसे सम्बन्ध ही रखे ।

२१९४—जबतक मैं-मेरा है, तबतक तुम उलटी ही राहपर हो ।
जहाँ निःस्वार्थता और सच्ची श्रद्धा है, वहीं धर्मका बल है ।

२१९५—जहाँ उपदेश अधिक होता है, वहाँ गम्भीरता कम होती है, जहाँ गम्भीरता अधिक होती है, वहाँ उपदेश कम होता है ।

२१९६—भगवान् ने तुम्हारे लिये जो रच रखा है, उसका विरोध करना तुम्हारे ओछे स्वभावका परिचयमात्र है ।

२१९७—जगत् की तमाम चीजोंके रचनेवाले भगवान् को प्राप्त करना किसी भी चीजको प्राप्त करनेकी अपेक्षा सहज है तो भी तुम उससे दुनियावी चीज ही चाहते हो, यह कैसी बात है ?

२१९८—जो मनुष्य स्वर्गादि सुखोंके लिये ईश्वरकी पूजा करता है, वह तो अपनी ही पूजा करता है और जो ईश्वरके लिये ईश्वरकी सेवा करता है, वह भी ईश्वरको नहीं जानता, क्योंकि ईश्वरको न तो तुम्हारे द्वारा सेवा करानेकी जरूरत है, न चाह ही है । जो ईश्वरको प्रेमके लिये पूजता है, जिससे पूजे बिना रहा नहीं जाता, वही यथार्थ पूजता है ।

२१९९—धन, अधिकार और उच्च स्थिति आदिका क्या मूल्य है ? प्रथम तो वे स्वल्प और अपूर्ण हैं, दूसरे, जितने जो कुछ हैं वे भी अनित्य ही हैं । आज हैं कल नहीं । उनपर गर्व करना और उनके कारण अपनेको ऊँचा तथा दूसरोंको नीचा समझना तो वास्तवमें मूर्खता ही है ।

२२००—जो मनुष्य हर हालतमें अपनेको और तमाम वस्तु-स्थितियोंको भगवान् में ही देखता है, वही तमाम वस्तुओंकी इच्छाका त्याग कर सकता है ।

२२०१—अपनी दुनियावी स्थिति और शक्तिपरसे विश्वास उठ जाना भी प्रभुकी महत्त्वपूर्ण सेवा है, क्योंकि ऐसा होनेपर ही मनुष्य ईश्वरसेवाकी योग्यता प्राप्त करता है ।

२२०२—जो भी भक्त या साधु अपने ज्ञान-वैराग्यके लिये मनमें गर्व रखता है, वह तो ज्ञान-वैराग्यका उपहास ही कराता है, तुम अपने किसी भी वैराग्य या निवृत्तिके लिये क्या गर्व करते हो ? ईश्वरके निकट तुम्हारा यह सब कुछ मच्छरकी पाँखके बराबर है ।

२२०३—जिस मनुष्यका मन प्रभुचिन्तनकी ज्योतिसे प्रकाशित है और जिसमें सदा प्रभुका ही विश्वास भरा है, वही सच्चा ज्ञानी है ।

२२०४—इन चार बातोंका पालन करोगे तो तुमसे शुद्ध साधना हो सकेगी—१—भूखसे कम खाना, २—लोकप्रतिष्ठाका त्याग, ३—निर्धनताका स्वीकार और ४—ईश्वरकी इच्छामें संतोष ।

२२०५—भोजन अपवित्र होता है तो एकान्तमें भी उत्तम साधना नहीं हो सकती और ईश्वरके अर्पण किये बिना कोई भी वस्तु पवित्र हो नहीं सकती ।

२२०६—अन्यायसे प्राप्त की हुई वस्तुका उपभोग करनेवालेके तमाम अङ्गोंमें पाप लिपट जाता है । अपनी इच्छा न होनेपर भी ऐसा आदमी पापमें ही डूबता जाता है । जो मनुष्य न्यायपूर्वक मिली हुई पवित्र वस्तुका उपभोग करता है, उसके तमाम अङ्ग साधनके अनुकूल ही वर्तते हैं ।

२२०७—जो सच्ची निवृत्ति चाहता है, उसे चाहिये कि वह तमाम पापोंको और उल्टी समझको छोड़ दे ।

२२०८—तुम जो कुछ भी करो अगर वह ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार नहीं है तो तुमको दुःख ही मिलेगा ।

२२०९—भक्त जबतक परमात्मासे प्रेम नहीं करता और मृत्युको याद नहीं रखता, तबतक उससे सर्वाङ्गसुन्दर तप नहीं हो सकता ।

२२१०—जीवनके कार्य जबतक पवित्रतासे न हों, तबतक लोगोंका विश्वास नहीं जमता । सच्ची निवृत्ति तो प्रभुके विशुद्ध प्रेमसे ही उपजती है और विशुद्ध प्रेमकी पूर्णता तभी होती है जब प्रभुके दर्शन होते हैं ।

२२११—जिनमें प्रभुका विशुद्ध प्रेम नहीं है वे लोग प्रपञ्चको दोष न समझकर गुण ही मानते हैं ।

२२१२—जो मनुष्य समझ-बूझकर अपनी इच्छासे परमात्माकी पूजा नहीं करता, उसको तो बाध्य होकर मनुष्योंकी पूजा ही तो करनी पड़ेगी ।

२२१३—जो भगवान्को छोड़कर दूसरे किसी पदार्थमें सुख मानता है, उसका तो मन ही दूषित है । उसके हृदयमें प्रभु-विश्वास और पवित्रताकी ज्योतिका प्रकट होना कठिन है ।

२२१४—जो मनुष्य भगवान्को छोड़कर दूसरी बातोंमें फँसा रहता है, वह अपने ही हाथों अपना गला काटता है ।

२२१५—जो मनुष्य अपने सब पदार्थ मान-प्रतिष्ठा और लोक-परलोक सबकी अपेक्षा भगवान्को ही बड़ा समझकर भगवान्में ही प्रेम रखता है, उसीके हृदयमें सदाके लिये आध्यात्मिक सूर्य उगता है ।

२२१६—तुम बाहरसे निर्धन दीखनेवाले सच्चे साधुओंका अभिमानवश अपमान करते हो, पर निश्चय समझना कि सर्वोत्तम सम्पत्तिवान् वे ही हैं ।

२२१७—छः चीजोंका आश्रय लेना चाहिये—(१) ईश्वरीय ग्रन्थका अवलम्बन, (२) ऋषि-मुनियोंद्वारा प्रचार की हुई ईश्वरकी आज्ञाओंका पालन, (३) खान-पानकी पवित्रता, (४) दुःख देनेवाले और निन्दा करनेवालेको दुःख न देना और निन्दा न करना, (५) निषिद्ध कामोंसे दूर रहना और (६) जो कुछ देनेका विचार हो तुरन्त दे डालना ।

२२१८—धर्मके मूल तीन हैं—(१) विचार और आचरणमें महात्माओंके मार्गपर चलना, (२) खान-पानको पवित्र रखना और (३) सत्कार्यमें ही स्थिति और प्रीति रखना ।

२२१९—दो चीजें मनुष्यका विनाश करनेवाली हैं—(१) मान-बड़ाईके लिये दौड़ना और (२) निर्धनतासे डरना ।

२२२०—इस जगत्में प्रभुके समान कोई भी सच्चा सहायक नहीं है और प्रभुके भेजे हुए महापुरुषोंके समान अच्छे मार्गका कोई दिखानेवाला नहीं है ।

२२२१—मनको अच्छे मार्गपर चढानेके लिये चार सीढियाँ हैं—(१) सत्यका स्वीकार, (२) ससारसे उपरामता, (३) आचरणकी पवित्रता तथा उच्चता और (४) पापोंके लिये भगवान्से क्षमा-प्रार्थना ।

२२२२—जिनका मन मलिनतासे मुक्त और सद्दिचारोसे युक्त है, ईश्वरकी समीपतासे जिसके मायाके बन्धन कट गये हैं और जिसकी नजरमें धूल और सोना समान है, वही सच्चा ज्ञानी है ।

२२२३—अल्प आहारमे, चित्तकी शान्तिमें और लोकससर्गके त्यागमें साधुता भरी है ।

२२२४—विशेष जख्खरतकी भी कोई चीज तुम्हारे पास न हो तो यह विश्वास करो कि तुम्हारे भलेके लिये ही प्रभुने ऐसा किया है । इसीका नाम प्रभुपर निर्भरता है ।

२२२५—सारे सम्बन्धों और चिन्तनोंसे रहित होकर ईश्वरसे ही सम्बन्ध जोड़ना और उन्हींका चिन्तन करना, इसीका नाम आन्तरिक निर्भरता है ।

२२२६—आत्मसमर्पण किये बिना प्रभुपर निर्भर नहीं हुआ जा सकता और स्वार्थ छोड़े बिना आत्मसमर्पण नहीं होता ।

२२२७—प्रभुपर निर्भर रहनेके तीन लक्षण हैं—(१) दूसरेसे कुछ भी न माँगना, (२) मिले तो भी न लेना और (३) लेना ही पड़े तो बौट देना ।

२२२८—प्रभुपर निर्भर करनेवालेको तीन चीजें मिलती हैं—(१) प्रभुके प्रति पूर्ण श्रद्धा, (२) अध्यात्मविद्याका प्रकाश और (३) प्रभुका साक्षात्कार ।

२२२९—ईश्वरने तुमको जो कुछ देना कबूल कर रक्खा है, उसमें जरा भी सदेह न रखना, इसीका नाम निर्भरता है ।

२२३०—जिस चीजकी जख्खरत हो उस चीजके लिये उसीसे जान-पहचान करनी पड़ती है कि जिसके पास वह हो । तुमको मोक्ष और सुख चाहिये तो तुम्हें ईश्वरसे ही परिचय करना होगा, क्योंकि ये उन्हींके पास भरपूर है, संसारके भाई-बन्धुओंके पास नहीं ।

२२३१—जैसे सत्पुरुष बड़े-बूढ़ोंका अभिवादन करके सुखी होते हैं, वैसे ही मूर्खलोग सत्पुरुषोंकी निन्दा करके प्रसन्न होते हैं ।

२२३२—अपकार करनेवालेका बदला अपकारसे न देकर उपकारसे देना और उसके लिये प्रभुसे क्षमा-याचना करना यही साधुता है ।

२२३३—जिसको भगवान्का प्रेम प्राप्त है वह मनुष्य भयानक-से-भयानक रोगमें, बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें और दारुण अन्न-कष्टमें भी धीरज और कृतज्ञताको अटल रखता है ।

२२३४—चार बातोंमें मनुष्यका कल्याण है—(१) वाणीके संयममें, (२) अल्प निद्रामें, (३) अल्प आहारमें, (४) एकान्तके भगवत्स्मरणमें ।

२२३५—मनुष्यके सङ्गका क्या भरोसा ? वह मर जाय तो फिर उसका सङ्ग कैसे मिलेगा ? तब भगवान्का ही सङ्ग करना होगा । इसलिये पहलेसे ही भगवान्का सङ्ग क्यों न किया जाय ?

२२३६—जिसका हृदय भगवान्के प्रेमसे कोमल हो गया है, उसके पास पापरूपी असुर नहीं आ सकता ।

२२३७—जीवनमें पाँच बातें अमूल्य रत्न हैं—(१) ऐसी फकीरी जो अगर आन्तरिक सम्पत्तिका दर्शन करा दे, (२) ऐसा त्याग जो अखण्ड तृप्तिके दर्शन करा दे, (३) ऐसा दुःख जो नित्य प्रसन्नताके दर्शन करा दे, (४) ऐसी वीरता जो शत्रुके प्रति भी मित्रताके दर्शन करा दे और (५) ऐसी साधना तथा ऐसा भगवान्का स्मरण जो भगवान्के दर्शन करा दे ।

२२३८—प्रभु और जीवके बीचमें अभिमानके समान अन्तराय दूसरा नहीं है ।

२२३९—जो मनुष्य अभिमाना होता है, वह प्रभु-भक्त नहीं हो सकता । जो ईश्वरसे डरकर नहीं चलता, वह विश्वासपात्र नहीं बन सकता और जो विश्वासपात्र नहीं बनता, वह प्रभुके अटूट भण्डारकी चावियोंको नहीं पा सकता ।

२२४०—प्रभुकी प्राप्तिके लिये दीनता और हीनताके समान सहज मार्ग नहीं है ।

२२४१—जो मनुष्य दूसरोंके हितके लिये लापरवाह और स्वार्थसाधनमें तत्पर होता है, उसमेंसे सत्यकी सुगन्ध नहीं निकलती, झूठकी ही दुर्गन्ध निकलती है ।

२२४२—संसारमें रहकर भगवान्की आज्ञाका पालन करना संसारमें ही स्वर्गकी प्राप्तिके समान है; इस स्वर्गकी विशेषता है कि इसमें कोई विपत्ति नामकी चीज नहीं रहती ।

२२४३—वीरताकी परख तीन बातोंमें होती है—(१) असत्यका आचरण न करके जीवन-निर्वाह करना, (२) जख्मी चीज न मिले तब भी प्रभुकी प्रशंसा करना और (३) बिना मांगे दान देना ।

२२४४—ईश्वरके आश्रित मनुष्योंके तीन लक्षण होते हैं—(१) उसके विचारोंका प्रवाह ईश्वरकी ओर ही बहता है, (२) ईश्वरमें ही उसकी स्थिति होती है और (३) ईश्वरकी प्रीतिके लिये ही उसके सारे कार्य होते हैं ।

२२४५—जिस मनुष्यको अधिकार और मालिकी प्यारी होती है, वह भगवान्‌को नहीं पा सकता ।

२२४६—मैं एक ऐसा मार्ग जानता हूँ कि जिसपर चलनेसे जल्दी-से-जल्दी ईश्वरके पास पहुँचा जा सकता है । वह मार्ग है किसीसे कुछ भी न चाहना और अपने पास ऐसा कुछ भी न रखना जिसके लिये दूसरेके मनमें चाह हो ।

२२४७—अपनी जीभको निन्दा-स्तुतिसे सदा दूर रखो । हे युवको ! जबतक तुम बूढ़े और कमजोर नहीं हो जाते तभीतक अपने जीवनके मुख्य कामको पूरा कर लो । बुढ़ापेमें यह काम नहीं होगा ।

२२४८—धनवान् पड़ोसी और राजदरबारके पण्डितोंसे दूर रहना । नीचे लिखे परिमाणसे अधिक मिले तो उसको अनावश्यक और बोझरूप मानना चाहिये—(१) प्राण रहे इतना अन्न, (२) प्यास मिटे इतना जल, (३) लाज बचे इतना वस्त्र, (४) रहनेभरका घर और (५) उपयोगी हो इतना-सा हीलौकिक ज्ञान ।

२२४९—कहनीके समान रहनी न हो, इसीका नाम ठगी है ।

२२५०—अपने दोषोंको न देखना और न सुधारना, इसीका नाम धर्मान्धता है ।

२२५१—जिस शक्तिसे इन्द्रिय और मन वशमें किये जा सकें, उसीका नाम शक्ति है ।

२२५२—जो मनुष्य सम्पत्तिका सदुपयोग नहीं कर सकता, उसकी सम्पत्ति इतनी जल्दी नष्ट होगी कि पता ही नहीं लगेगा ।

२२५३—मन तीन प्रकारके होते हैं—(१) पहाड़-जैसा अडिग जिसको कोई नहीं हिला सकता, (२) पेड़-जैसा जो बाहरके संयोगरूपी हिलोरोंसे हिला करता है और (३) तिनके-जैसा जिसको बाह्य संयोगरूपी हवा कहीं-का-कहीं फेंक देती है ।

२२५४—जिस अन्तःकरणमें ससारी लालसाएँ भरी होती हैं उसमें ये पाँच बातें नहीं रह सकतीं—(१) ईश्वरका भय, (२) ईश्वरकी आशा, (३) ईश्वरपर प्रेम, (४) ईश्वरसे लज्जा और (५) ईश्वरके साथ मित्रता ।

२२५५—किसीके आत्मज्ञानका माप वह ईश्वरके समीप कितना पहुँच गया है, इसीसे हो सकता है ।

२२५६—जो मनुष्य सत्यके लिये धीरजको बचा सकता है, वही आगे बढ़ता है ।

२२५७—भजन-पूजन यदि विशुद्ध निष्काम भावसे भगवान्‌के लिये ही किया जाय तो उससे भगवान्‌की प्राप्ति होती है ।

२२५८—प्रभुप्रेमी मनुष्य जब अपने शरीरके प्रति स्नेह-रहित हो जाता है, तभी उसकी साधना और उसका जीवन सुखरूप बनता है ।

२२५९—जबनक एक गाँवको नहीं छोड़ा जा सकता, तबतक दूसरे गाँवमें नहीं पहुँचा जा सकता, इसी प्रकार जबतक मनुष्य संसारका सम्बन्ध नहीं छोड़ सकता, तबतक वह प्रभुके स्थानमें नहीं पहुँच सकता ।

२२६०—जो चीज अपनी नहीं है, उसको जो अपनी मानता है, वह प्रभुकी दृष्टिमें नीचे पड़ता है ।

२२६१—लोगोंमें जिसका परिचय जितना ही अधिक होता है, उसकी सत्यतामें उतनी ही न्यूनता होती है ।

२२६२—केवल अनुमान और शङ्काओंपर निर्भर करके ही किसी उत्तम मनुष्यसे दूर नहीं हटना चाहिये ।

२२६३—जिस मनुष्यको भगवान्‌का प्रेम प्राप्त करना हो, उसे अपना हरेक व्यवहार सर्वज्ञ प्रभुसे डरकर करना चाहिये ।

२२६४—यदि तुम सरलताको वाहन और सत्यको शस्त्र बनाकर चलो तो निश्चय समझना कि भगवान् भी तुम्हारी इच्छा करेंगे ।

२२६५—न तो ईश्वरसे स्वर्गकी कामना करो और न नरकसे ही बचानेकी याचना करो । शरणागतिका यही आदर्श है ।

२२६६—ससारमें ईश्वरके सिवा और जरा भी सार वस्तु नहीं है । जबतक तुम्हारे हृदयमें यह बात धँस न जाती तबतक सच्चा वैराग्य नहीं मिल सकता ।

२२६७—जो वस्तु प्रभुसे दूर रखे, उसके छोड़ देनेका नाम ही वैराग्य है । चाहे वह कितनी ही मूल्यवान् और आवश्यक हो ।

२२६८—फकीरीकी शोभा तीन बातोंमें है—(१) हृदयकी विशालता, (२) अन्तःकरणकी शान्ति और (३) निष्पापबुद्धि ।

२२६९—धनके अभिमानी मनुष्यका तीन बातोंसे जख्म सम्बन्ध होता है—(१) क्लेश, (२) अशुभ विचार और (३) पापकी बुद्धि ।

२२७०—बुद्धिमान् कौन है : जो संसारसे प्रेम हटाकर भगवान्‌में प्रेम करे । वनवान् कौन है : प्रभु जो दे, उसीमें सन्तोष करे ।

चतुर कौन है ? जिसको संसारके भोग न फँसा सकें । त्यागी कौन है ? जिसके मनमें संसारकी कोई कामना नहीं । कृपण कौन है ? जो ईश्वरके दिये हुए धनका उचित दान करनेमें संकोच करे ।

२२७१—चार मनुष्य प्रभुको विशेष प्रिय होते हैं—(१) अहङ्काररहित विद्वान्, (२) तत्त्व जाननेवाले संत, (३) विनयी धनवान् और (४) प्रभुकी महिमा जाननेवाला त्यागी ।

२२७२—चाहे जैसी बुरी-से-बुरी अवस्थामे भी प्रभुपर जरा भी दोषारोप न करो तो समझा जाय कि तुम्हारा प्रभुपर विश्वास है ।

२२७३—यदि दयालु प्रभु मुझे घरसे या देशसे निकाल दें, बिल्कुल दरिद्र बना दे, मोहताज और जन्मरोगी बना दें तो भी मैं तो उनपर प्रेम ही रखूँगा ।

२२७४—अगर तुम्हारेमें अवगुण हैं और दूसरे मनुष्य तुम्हें अवगुणी न कहकर सद्गुणी बतलाते हैं और उससे तुमको संतोष होता है, यह कैसे आश्चर्यकी बात है ?

२२७५—दो आँखोंसे और अल्पज्ञानसे तुम जितना देख या जान सकते हो, हजारों आँखोंवाले सर्वज्ञ प्रभु तुम्हारे हितकी बात उससे बहुत अच्छी देख और जान सकते हैं । इस बातको कभी मन भूलना ।

२२७६—तुम कभी अपने मनमे यह चिन्ता न करना कि हाय ! अमुकने कितने पैसे कमा लिये हैं, पर मैं गरीब हूँ । इसके बदले, यह विचार करना कि हाय ! अमुकने भगवान्‌का जितना भजन किया, उसको देखते मैंने तो कुछ भी नहीं किया ।

२२७७—शाश्वत शान्तिके केन्द्र हैं—भगवान् । वे सदा सबके हृदय-मन्दिरमें विराजमान हैं । शान्ति उनके चरण चूमती है और उसी शाश्वती शान्तिके स्पर्शसे ही मनुष्यके मनमें शान्ति आती है ।

२२७८—सारी चिन्ताओंके दूर करनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान्का चिन्तन करो, वे तुम्हारे परम सुहृद् हैं और सदा तुम्हारी सहायता करनेके लिये तैयार हैं ।

२२७९—जो मनुष्य संसारी मनुष्योंका - सङ्ग छोड़कर निर्जन स्थानमें रहता है, उसे भगवान्का स्मरण और प्रभुकृपाके चिन्तनको छोड़कर और कुछ करना ही नहीं चाहिये । इसके बिना जो एकान्त-सेवन किया जाता है, वह तो प्रमाद, विपत्ति और मृत्युतकको बुलानेवाला होता है ।

२२८०—सच्चा साधक काश्चन-कामिनीके कारण धर्मसे च्युत नहीं होता, परुष वचन सुनकर क्रोध नहीं करता, अपमानसे अस्वस्थ नहीं होता, लोभसे सत्यका त्याग नहीं करता, दुःखमें उसका धैर्य और उद्यम कम नहीं होता । वह सदा साधनपरायण, सदा स्वस्थ और सदा भगवान्में चित्त लगाये रहना है ।

२२८१—एक ओर भोग हैं, जिनसे जन्म-मरण, सुख-दुःख आदिका चक्र चारु रहता है और दूसरी ओर भोग-त्याग है, जिससे मोक्ष मिलता है । यह मोक्ष भोग-त्याग और सच्चे ज्ञानके बिना नहीं मिलता ।

२२८२—मनुष्य जो उपवास करता है या व्रत-नियम लेकर भोग-त्याग करता है वह उत्तम है, पर वह होता है थोड़े कालके

लिये । अन्तःकरणमें मनके भीतर भोगके सुखका रसास्वाद बना ही रहता है, जो अवसर मिलनेपर विशेष बलपूर्वक भभक उठता है ।

२२८३—विवेक, विचार, भोग-त्याग, कर्मफल-त्याग और सत्य तथा प्रिय वाणीका सेवन—इन सबको करते-करते चित्त भगवान्में लीन होता है ।

२२८४—प्रभुकी प्रसन्नताके लिये दरिद्रता और अपमानको सिर चढाना सतोषका काम है ।

२२८५—ससारसे सम्बन्ध तोड़ देना, लोक-संसर्गसे दूर रहना और सदा-सर्वदा सत्य और प्रभुकी तरफ ही झुके रहना सच्चा त्याग है ।

२२८६—जिस मनुष्यमें ईश्वरका स्मरण-चिन्तन करनेकी ताकत है, उस मनुष्यको गरीब या लाचार न समझकर बड़ा धनी समझना और जिसके पास यह सम्पत्ति और शक्ति न हो, वह बड़ा भारी जादशाह होनेपर भी सबसे बड़ा गरीब और अनाथ है ।

२२८७—जो मनुष्य श्रोताओंको मौखिक ज्ञानसे ही ईश्वरप्राप्ति-का मार्ग दिखलाता है, वह तो उन्हें दुर्दशामें ही डालता है । जो मनुष्य अपने उत्तम आचरणद्वारा भगवान्का मार्ग दिखलाता है, वही सच्चा पथप्रदर्शक है ।

२२८८—हृदयकी सरलता और निर्मलता ईश्वरीय ज्योति है । इनसे ईश्वरका मार्ग दीखता है । क्षमा भगवान्की ओर आकर्षित करती है । प्रभुका भय पापसे निवृत्त करता है और प्रभु-महिमाका ध्यान इस सत्यके मार्गको काटता चला जाता है ।

२२८९—किताबोंके पढ़ने-सुननेसे अथवा लिखने-लिखानेसे

भगवान् नहीं मिलते । भगवान्की प्राप्तिमें तो आत्मनिग्रहसे भरा हुआ भगवान्का प्रेम ही महान् कारण है ।

२२९०—निवृत्ति किसे कहते हैं ? भगवान्के सिवा सम्पूर्ण विषयोंसे वृत्तियाँ हटा लेनेको ।

२२९१—जो मनुष्य लड़ाईमें दूसरोंको जीतना चाहता है, उसको छत्तीसों हथियारोंके प्राप्त करने और चलानेकी जरूरत पड़ती है, परंतु अपने मरनेके लिये एक छोटी-सी छुरी काफी है ! इसी प्रकार दूसरोंको जीतकर पण्डिताई फैलाने और मान प्राप्त करनेके लिये बहुत-सी विद्याओंकी जरूरत है, परंतु भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये तो आचरणका सुधार करके उनके नाम जपनेकी विद्या सीख लेना ही काफी है ।

२२९२—जो मनुष्य परमेश्वरको छोड़कर दूसरी बातोंकी चर्चा और चिन्ता करता है, वह अपने कौल-करारको भूला हुआ है ।

२२९३—जो मनुष्य भोगोंके लिये भगवान्को बेच देता है, उससे बढ़कर अभागा और कोई नहीं ।

२२९४—राजा, अफसर और बड़े आदमियोंसे दूर रहना; क्योंकि उनका स्वभाव बालकों-जैसा अस्थिर और उनका प्रताप ज़ौखलाये हुए बाघके समान हानिकारक होता है ।

२२९५—जो मुँहसे बोलना जानता है, वह ठग है; परंतु जो बोलता है, वैसे ही चलता है, वही पण्डित है ।

२२९६—जो मनुष्य लोगोंके सामने भगवान्की बातें करता है, परंतु हृदयमें मान-बड़ाई और ऐसी-वैसी वस्तुओंको स्थान देता है, उसे

देर-सवेर बे-आवरू होकर आफतमें पड़ना ही पड़ेगा, फिर जब वह अपनी भूलको देखकर और स्वीकार करके सच्चा पश्चात्ताप करेगा और ऐसे कामोंको छोड़कर प्रभुपरायण बन जायगा, तभी तमाम सकटोंसे छूटेगा ।

२२९७—जो मनुष्य ससार-त्याग और प्रभुपरायणताकी पोशाक पहनकर लोगोंके सामने हाथ फैलाता है, उसमें लोगोंकी श्रद्धा और दया नहीं रह सकती । आखिर, उसे गिरना पड़ता है और उसका जीवन निराशा तथा विपत्तियोंमें ही बीतता है । फिर उसके हाथमें रह जाते हैं—अफसोस और अवगुण ।

२२९८—जो मनुष्य प्रभु और प्रभुके प्रेमियोंका गुण गानेके बदले अपना ही गुण गाना और गवाना शुरू कर देता है, वह बेचारा दयाका पात्र है ।

२२९९—जो मनुष्य अपने चरित्रको सावधानीके साथ जाँच करता है, उसे अपनी बहुत-सी भूलें और पतनके स्थान दिखलायी पड़ने लगते हैं और वह सुधरकर ऊपरकी सीढ़ियोंपर चढ़ सकता है ।

२३००—तुम कभी किसी मनुष्यको गिरते-पड़ते देखो तो उसकी ओर निरस्कार न दिखलाकर दया ही दिखलाना और सावधान रहना कि तुम्हारे जीवनमें कहीं ऐसा मौका न आ जाय ।

२३०१—न्याग-वैराग्यका गर्व धनवानोंके धन-मदकी अपेक्षा बहुत अधिक ग्वाव है ।

२३०२—अपने लिये इस लोक और परलोककी किसी चीज-

को कभी न चाहना यही सच्ची साधुता है । जिसमें यह साधुता न आ सके, वह तो साधु नामको कलङ्कित करता है ।

२३०३—जो मनुष्य भगवत्-प्राप्तिकी साधना न करके संसारकी साधनामें ही डूबा रहता है, उसे लोक-परलोकमें दुःख और नुकसान ही मिलते हैं ।

२३०४—उदारताके समान सद्गुण नहीं है और कृपणताके समान कोई अवगुण नहीं है ।

२३०५—जीभको काबूमें रखो और सारा बल लगाकर मन-को वशमें करो ।

२३०६—सुखकी इच्छासे हमारा मन दुःखसे भरपूर जगत्के भोगोंकी ओर फँसा है । उसमेंसे वापस लौटाकर इसे परमात्मामें—जो आनन्दका अमित भण्डार है, लगाना है । इस कार्यमें सहायता देनेवाले पुरुषोंका ही सङ्ग और ऐसे ही ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये ।

२३०७—अगर तुम दुःखसे सर्वथा रहित दशाको प्राप्त करना चाहते हो तो संसारको प्रणाम करके चल निकलो और स्वर्गसे भी नौ गज दूरसे ही प्रणाम करके हटे रहो । इस लोक और परलोकको छोड़े बिना परमधाम नहीं मिलता ।

२३०८—योग मुझको ईश्वरकी आराधनामें लगा हुआ जानें और देखें तो ठीक है, ऐसे विचारमें कभी न पडना । यह दम्भ है और मनका धोखा है । ईश्वरके प्रेममें दिखावेकी क्या जल्दतर ?

२३०९—तुम चाहे किसी भी मार्गपर चलो, परंतु भोगकी इच्छाका—विषय-सुखकी वाञ्छाका त्याग किये बिना तुम्हें अखण्ड शान्ति, अखण्ड आनन्दस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होगी ही नहीं ।

२३१०—प्रभुके ही प्रेमपात्र बननेकी ही कोशिश करो । याद रखो, ससारके प्रेमपात्र बनने जाओगे तो नरक और अधोगति तैयार है । यह सार-की-सार बात है ।

२३११—जो भगवान्की प्राप्तिके लिये जूझता है, उसकी सहायता करनेमें प्रभुको बड़ा ही आनन्द आता है ।

२३१२—साधुओंकी सेवासे तीन गुण मिलते हैं—विनय, प्रभु-भक्ति और उदारता ।

२३१३—जिसकी ऐसी इच्छा हो कि प्रभु सदा मेरे साथ रहें, उसको सत्यसे कभी न डिगना चाहिये ।

२३१४—प्रभु-प्रेमीके लक्षण क्या हैं ? (१) प्रभु-प्रेमीको इस लोक और परलोकके कोई भी पदार्थ अच्छे नहीं लगते, (२) उसका अन्तःकरण प्रभुकी महिमा और चिन्तनमें डूबा रहता है, (३) उसके मनमें प्रभुकी सेवाको छोड़कर कोई वासना नहीं रहती, (४) अपने परिवारमें रहकर खाता-पीता, बोलता-चालता और उठता-बैठता हुआ भी वह अपनेको विदेशी मेहमान ही मानता है, क्योंकि उसका जिस परम सखा प्रभुके साथ प्रेम है, वह उसे वहाँसे हटने ही नहीं देता, इस भेदको कोई अनुभवी ही जानते हैं ।

२३१५—रास्ता खुला है, सत्य चमक रहा है, जो तुम्हें बुला रहा है, वही तुम्हारी प्रार्थना भी सुन रहा है, फिर शङ्काक

और वक्त गँवानेका क्या काम ? यह या तो तुम्हारा मोह है अथवा आलसी स्वभाव है ।

२३१६—सद्गुणसे सुख होता है और दुर्गुणसे दुःख । चित्तकी शान्ति ही सुख है और चित्तकी अशान्ति ही दुःख है, अतएव प्रत्येक उपायसे अपने दुर्गुणोंको निकालकर सद्गुणोंको धारण करो । इसीसे सच्ची शान्ति मिलेगी ।

२३१७—जब भक्त सच्ची निष्ठाके साथ भगवत्-प्रेमकी साधना आरम्भ करता है, तभी उसे उसकी मधुरताका स्वाद आता है ।

२३१८—तुम शान्ति और आनन्द ढूँढ़ते फिरते हो और भटकते हो संसारके विषयोंमें, मूर्ख, कहाँ पाओगे ? ये दोनों चीजें तो प्रभुके खजानेमें ही मिलती हैं ।

२३१९—तुम अपनेको साधनाके समुद्रमें फेंक दो । सुख-दुःखकी कोई परवा न करो, हिम्मत और धीरज रखना, प्रभु अपने दयाके जहाजको लेकर सदा तुम्हारे साथ हैं ।

२३२०—ईश्वरतक पहुँचानेकी पहली सीढ़ी है प्रभुकी सत्तापर विश्वास और अन्तिम सीढ़ी है प्रभुपर विश्वास ।

२३२१—साधक दो प्रकारके होते हैं—ससारी, भगवदीय । संसारी साधक जगत्को ही पहचानते हैं और उसीको खुश करनेमें लगे रहते हैं और भगवदीय साधक प्रभुको पहचानते हैं, इसलिये वे अपना हर एक साँस प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही लेते हैं ।

२३२२—उत्तम मनुष्य दो प्रकारके हैं—एक वे जो प्रभुके सिवा और किसी चीजको जानते और चाहते ही नहीं और दूसरे

वे जो प्रभुके विधानपर विश्वास करते हैं । इनमें पहले उच्च कोटिके हैं और दूसरे निम्न कोटिके ।

२३२३—ईश्वरभक्तोंकी उत्तम पोशाक तीन तरहकी होती है—पवित्रता, विनय और प्रभुपर दृढ विश्वास ।

२३२४—जो मनुष्य भोगोंके सहवासमें रहना चाहता है, वह भगवान्‌के सहवासके लिये नालायक है ।

२३२५—जब तुम इस बातको समझोगे कि सच्चा कल्याण किस बातमें है और उसीकी खोज करोगे तब तुम्हारा अहङ्कार गलने लगेगा और कमजोरियाँ सामने आ जायँगी । इसी स्थितिमें तुम दीन होकर भगवान्‌की सहायता चाहोगे । भगवान् तो सहायता देंगे ही ।

२३२६—कौन-सी दीनता ! जो तुम्हारे हृदयको भगवान्‌के सामने उघाड़ दे, अहङ्कार और घमण्डको चूर-चूर कर दे । दीनता ईश्वरके प्रति ही होनी चाहिये, भोगोंके प्रति नहीं ।

२३२७—शुद्ध कर्तव्य-बुद्धिसे किये जानेवाले कर्ममें भी सुख है, परंतु उसमें वह सुख नहीं है जो अपने प्राण-प्रियतम प्रभुकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले कर्ममें होता है ।

२३२८—जो मनुष्य छोटे पापोंको बहुत मामूली समझकर किये जाता है, वह थोड़े ही समय बाद बड़े-बड़े पापोंसे और अन्तमें महान् विपत्तिसे घिर जाता है ।

२३२९—अगर तुम प्रभुके प्रेमी हो अथवा प्रभुकी कृपा प्राप्त करना चाहते हो तो जब भी कोई शुभ कर्म करो तब लोगोंसे बाह-बाही पानेकी, मान मिलनेकी, स्मारक रहनेकी और लोक-

प्रतिष्ठाकी किसी भी भावकी ओर किसी भी वस्तुकी मनमें जरा भी इच्छा न रखना, नहीं तो धोखा खाओगे ।

२३३०—तुम जो कुछ भी सत्कार्य करो, ऐसा मन लगाकर करो कि सारे जगत् में भगवान् ने वह काम केवल तुमको ही सौंपा है और सौंपा भी है तुमको अकेले जानकर गुप-चुप करनेके लिये ही ।

२३३१—मनुष्यके जीवनमें जितने दिन बाकी हैं, यदि वह उनका भी सदुपयोग करे तो भगवान् उसकी पहलेकी सारी भूलों और पापोंको धोकर उसे क्षमा कर देगे और अपना लेंगे ।

२३३२—मान-बड़ाईकी प्राप्तिमें, यदि मनमें हर्ष होता हो तो जान लेना चाहिये कि मान-बड़ाईमें आसक्ति और कामना है । चाहे ऊपरसे न दीखती हो । लोकोपकारके नामपर मान-बड़ाईका स्वीकार करना तो और भी धोखेकी चीज है ।

२३३३—जो लोग प्रशंसा सुनकर तनिक भी हर्षके विकारसे प्रस्त नहीं होते और निन्दा सुनते ही धीरताके साथ गहराईसे आत्मनिरीक्षण करने लगते हैं, वे ही सच्चे बुद्धिमान् साधक हैं ।

२३३४—मनुष्यको ऐसा कोई भी दोषयुक्त कार्य कभी छिपकर भी नहीं करना चाहिये, जिससे भगवान् की दृष्टिमें वह दोषी सिद्ध हो ।

२३३५—सच्चा साधक प्रभु-प्रेमी नहीं बन जाता वहाँतक लोगोंको मुँह नहीं दिखाता । लोग बुलवाना चाहें तो भी नहीं बोलता, विपत्तिमें खेद नहीं करता, सम्पत्तिमें फूलता नहीं, डरता नहीं और डराता भी नहीं, किसीको वचन देता नहीं और किसीसे वचन माँगता भी नहीं । गुप-चुप अपनी सीधी राह जाता है । यह साधककी बात है, सिद्धकी सिद्ध जानें ।

२३३६—सब कुछ खोकर भी यदि मनुष्य भगवत्प्रेम प्राप्त कर ले और प्रभुकी सन्निधि प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो जाय तो जानना चाहिये कि उसका जीवन सफल हो गया ।-

२३३७—भय कई तरहके हैं; इसलिये जो भय तुमको पापोंसे दूर रखे उस भयकी भी इच्छा करनी चाहिये ।

२३३८—आशाएँ भी बहुत प्रकारकी हैं, परंतु जो आशा तुम्हें प्रभुकी राहपर चलावे, उसे तो मित्र ही मानना ।

२३३९—जो मनुष्य दुनियावी बातें सुनता रहता है और विषय-प्रेमियोंमें बसता है, उसका अन्तःकरण साधनाका स्वाद नहीं ले सकता ।

२३४०—अच्छी स्थिति हो जायगी, दुनियाका कोई दुःख नहीं रहेगा, भगवान् हमारी हर एक इच्छाको पूर्ण करते रहेगे, तब हम भजन करेंगे, ऐसा मानना तो मनका धोखा है। तुम भगवान्का भजन तो चाहते नहीं, चाहते हो संसारी आराम ।

२३४१—कोई अगर यों समझता है कि मैं अपने ही साधन-के बलपर प्रभुको पा लूँगा तो वह अपनेको मिथ्या अभिमानके गड्ढेमें डालता है, और जो मनुष्य बिना ही साधन किये प्रभुको पाना चाहता है, वह तो दुराशामें ही डूबता है ।

२३४२—ससारकी सारी स्थितियोंसे अन्तःकरणको मुक्त करके सच्चिदानन्द प्रभुमें ही शान्ति खोजना और प्राप्त करना—मनुष्यका सच्चा धर्म यही है ।

२३४३—भगवान्के गुणानुवाद तीन प्रकारसे गाये जाते हैं—
(१) केवल जीभसे अन्तःकरणको साथ जोड़े बिना ही,

(२) जीभसे अन्तःकरणको साथ जोड़कर, ऐसे ही गुणगानसे शीघ्र प्रभुकृपा मिलती है, (३) केवल अन्तःकरणसे मतलब यह है कि प्रभुके गुणगानमें मन, बुद्धिका गर्क हो जाना ही सर्वोत्तम गुणगान है । ऐसे गुणगानकी महिमा प्रभु ही जानते हैं ।

२३४४—जो ज्ञान तुमको धर्ममें और सदाचारमें प्रेरित करता है, वही सच्चा ज्ञान है और जो विश्वास प्रभुके प्रति अधिक-से-अधिक नम्र बनाता है, वही सच्चा विश्वास है ।

२३४५—जिनमें भगवान्को छोड़कर किसी भी वस्तुमें जरा भी अनुराग नहीं रहता, वे ही सच्चे महाजन या महापुरुष हैं ।

२३४६—जबतक मनुष्य पश्चात्तापके लिये तैयार न हो, तबतक क्षमाकी याचना न करे और जबतक तन-मनसे उपासना न हो तबतक न तो पाप दूर होते हैं और न मन ही असली राहपर आता है ।

२३४७—ससार कुत्तोंकी चाट-जैसा है । बहुत-से कुत्ते एक जगह इकट्ठे होकर पत्तल चाटा करते हैं, परतु जो मनुष्य निरन्तर भोग-विलासमें रचा-पचा रहता है, वह तो कुत्तोंसे भी अधम है, क्योंकि कुत्ते तो खा लेनेके बाद चाटसे दूर हट जाते हैं, पर यह मनुष्य तो वहाँ-का-वहाँ ही खड़ा रहता है ।

२३४८—दैवी सम्पत्तिमें प्रेम होना प्रभुप्रेमका पूर्वरूप है ।

२३४९—पैसोंको बुरे उपयोगसे रोकनेकी अपेक्षा जीभको बुरे उपयोगसे रोकना बहुत कठिन है ।

२३५०—ससारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें ईश्वर न दीखता हो ।

२३५१—खबरदार ! एक पैसा भी कमाओ तो न्यायसे कमाना और कहीं कुछ खर्च करना तो अच्छे मार्गमें ही खर्च करना ।

२३५२—दो बातोंपर पूरा विश्वास रखना—(१) तुम्हारे लिये जो कुछ रचा हुआ है, तुम दूर भागोगे तो भी वह तुम्हें मिलेगा ही और (२) जो दूसरेके लिये रचा गया है, वह करोड़ यत्न करनेपर भी तुम्हें नहीं मिलेगा ।

२३५३—तुम बड़े खराब जमानेमें आ पड़े हो । इस जमानेके आदमी काम नहीं करते, पर बोलते रहते हैं और धर्मका पालन करनेके बदले सूखे ज्ञानके पढने-पढ़ानेमें ही डूबे रहते हैं ।

२३५४—जहाँ खुद प्रभुकी प्रसन्नता खोजनी और पानी चाहिये, वहाँ आज लोग दुनियाकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये टौड़-धूप कर रहे हैं और चिन्तामणि-जैसी प्रभु-कृपाको भूल रहे हैं ।

२३५५—इस जमानेमें चुपचाप भगवान्‌का स्मरण करना और उनकी कृपापर विश्वास करके अपने जीवनको उन्हींपर न्योछावर कर देना उचित है । दयामय आप ही सम्हालेंगे ।

२३५६—अधिक परिश्रमसे स्वास्थ्य नहीं बिगड़ता; स्वास्थ्यको नुकसान पहुँचता है घबराहट, शोक, भय, चिन्ता और असंतोषसे ।

२३५७—जबतक बात तुम्हारे मुँहसे नहीं निकली तबतक तो वह तुम्हारे वशमें है, पर ज्यों ही मुँहसे निकल गयी कि तुम उसके वशमें हो गये ।

२३५८—यदि जीभको वशमें कर लो तो दूसरी इन्द्रियाँ सहज ही तुम्हारे वश हो जायँ और दुनियाकी शत्रुतासे तुम बच जाओ ।

२३५९—दो आदमी बात करते हों तो उनके बीचमें न बोलो, अपनी बुद्धिमानी दिखानेका प्रयत्न मत करो, ऐसी बात तो बोलो ही मत जिससे उन लोगोंकी बात कटे या उन्हें नीचा देखना पड़े, अपनी और अपने वशकी बड़ाई मत करो, दूसरा कोई करता हो तो उसे बुरा मत कहो, चिल्लाकर न बोलो, ऐसी आवाज और ऐसे भावसे न बोलो, जिसमें सुननेवालोंको तुम्हारी हुकूमत या अपना तिरस्कार प्रतीत हो ।

२३६०—अपने बन्धु-बान्धव और पड़ोसियोंका उनकी सच्ची प्रशंसा करनेके अवसरको छोड़कर जहाँतक बने कभी जिक्र ही न करो ।

२३६१—मुँहसे झूठ तो कभी बोलो ही मत, पर सत्य भी अनावश्यक न बोलो । बहुत बोलनेसे वाणीकी शक्ति नष्ट होती है ।

२३६२—भगवान्का नाम और उनके गुणोंकी चर्चा करते रहो और इसको भी कहनेकी अपेक्षा मन-ही-मन करो तो और भी अच्छा है ।

२३६३—भगवान्ने मनुष्योंको आँख और कान तो दो-दो दिये हैं, पर जीभ एक ही । इसलिये उचित है कि चार बातोंको देख-सुनकर एक बात बोलो ।

२३६४—जिस तरह वृक्षमें पत्ते बहुत हो जानेपर फल कम लगते हैं, इसी प्रकार जो बहुत बोलता है, उससे काम बहुत कम होता है ।

२३६५—बहुत प्रश्न करना बुद्धिमानी नहीं है । महात्मासे एक ही बात पूछ लो और जी-जानसे उसका पालन करो ।

२३६६—आर्य स्त्री पतिके द्वारा परित्यक्ता होनेपर भी पतिकी मङ्गलकामना ही करती है और इसीमें अपना सौभाग्य समझती है । इसी प्रकार भक्तको भी अपने भगवान्से ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये ।

२३६७—बिना पूछे न उपदेश करो और न सलाह देने जाओ ।

२३६८—जो मनुष्य अच्छी सलाह नहीं सुनता, उसको धिक्कार सुनना पड़ता है ।

२३६९—मूर्खताके बारह लक्षण हैं—(१) भगवान्को भूलना, (२) समयकी कीमत न समझना, (३) अपनेको बड़ा मानना, (४) एकान्तमें बात करते हुए लोगोंके बीच जा बैठना, (५) बड़े लोगोंकी दिल्लगी उड़ाना, (६) अपनी हैसियतसे ज्यादा खर्च करना, (७) सभामें ऊँची जगह बैठनेकी कोशिश करना, (८) बहुत बोलना और ऐसा बोलना जो दूसरोंको अखरे, (९) दूसरोंसे उधार लेना और उसे चुकानेकी चिन्ता न रखना, (१०) किसी भोजमें बिना न्योते जा पहुँचना, (११) अतिथि होकर घरके मालिकपर हुक्मत करना और (१२) स्त्रियोंके अङ्ग देखनेकी चेष्टा करना । इन बारह दोषोंसे बचनेवाला मनुष्य बहुत-सी आफतोंसे अनायास ही बच जाता है ।

२३७०—जहाँतक हो सके, मित्रोंमें लेन-देन मत रखो ।

२३७१—अपनी कमाईमेंसे दसवाँ हिस्सा, नहीं तो कम-से-कम सोलहवाँ हिस्सा गरीबोंको बाँटनेके लिये जरूर अलग कर

रखो। नहीं तो कमाई अशुद्ध होगी और उसकी वरकत नहीं होगी।

२३७२—किसीको दान देकर यह मत समझो कि तुमने उसपर कोई अहसान किया है। उसे दिया है भगवान् ने ही और वही दिया है जिसके पानेका वह अधिकारी था, तुम तो केवल निमित्तमात्र हो।

२३७३—दरिद्र, अपाहिज, रोगी, अनाथ और विपत्तिमें पड़े हुए जीवोंको अपनेसे छोटा मत समझो, उनसे घृणा न करो, उनकी सेवा करो और उन्हें सुख पहुँचाओ। भगवान् न करें, तुम्हारी भी जीवनमें वैसी ही अवस्था हो सकती है।

२३७४—अपनी तारीफ सुनकर उसका रस न लो और निन्दा सुनकर विषाद अथवा क्रोध न करो।

२३७५—दूसरोंके गुण सुनकर सुखी होओ और उन गुणोंको अपनेमें लानेकी चेष्टा करो।

२३७६—दूसरोंके अवगुण सुनकर खुश न होओ और स्वयं सदा अवगुणोंसे बचते रहो।

२३७७—जो सज्जनोंको देखकर, दूसरोंके सद्गुणोंकी बात सुनकर और दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, उनपर भगवान् की कृपा बरसती है।

२३७८—यहाँके सभी सम्बन्ध आरोपित हैं। अपना-अपना कर्मफल भोगनेके लिये जीव विविध योनियोंमें आते हैं और कर्मफल भोगकर चले जाते हैं। इसमें शोककी वास्तवमें कोई बात नहीं है।

२३७९—जिसने कामनापर विजय प्राप्त कर ली वह रक होनेपर भी राजा है, और जो कामनाका गुलाम है, वह बादशाह होनेपर भी कगाल है ।

२३८०—अभिमान बहुत बड़ा शत्रु है । जिसके अंदर अभिमान आ बसता है, उसका सद्गुणरूप धन नष्ट हो जाता है ।

२३८१—यह सोचो कि तुम्हारी विसात ही क्या है, भगवान् की दयाके बिना अपने पुरुषार्थसे तुम क्या कर सकते हो ? जो कुछ होता है, उन्हींकी शक्तिसे । तुम तो बिल्कुल नाचीज हो । बार-बार ऐसा विचार करनेसे अभिमान चला जाता है ।

२३८२—भगवान् को अभिमानसे द्वेष है और दीनतासे प्यार । याद रखो, भगवान् का नाम दीन-बन्धु है, अभिमानी-बन्धु नहीं ।

२३८३—बड़ा आदमी वह है कि जिसके गुणोंके कारण दूसरे लोग उसको बड़ा मानते हों । आप ही अपनेको बड़ा मानना तो मूर्खता है ।

२३८४—सबसे बड़े भगवान् हैं, परंतु उनकी बड़ाई भी तभी फैली जब भृगुजीके लातको उन्होंने खुशी-खुशी सह लिया ।

२३८५—मृत्यु शरीरका अवश्यम्भावी परिणाम है । दो दिन आगे-पीछे सबकी यही गति होनेवाली है । लोगोंको शोक होता है—ममत्व और स्वार्थके कारण । जिसमें ममत्व और स्वार्थ नहीं होता उसके वियोगमें जरा भी दुःख नहीं होता ।

२३८६—भगवान् की भक्ति, भगवान् के नामका जप और अपने घरमें भगवान् की पूजा करनेका सभीको अधिकार है । स्त्री हो या पुरुष—यह सभीके लिये मङ्गलकारी कार्य है । किसीको

भगवान्की भक्ति-पूजा करनेसे रोकना पाप है और इससे परिणाममें दुःखकी प्राप्ति होती है ।

२३८७—विपत्ति तुम्हारे प्रेमकी कसौटी है । विपत्तिमें पड़े हुए बन्धु-बान्धवोंमें तुम्हारा प्रेम बढे और वह तुम्हें निरभिमान बनाकर आदरके साथ उनकी सेवा करनेको मजबूर कर दे, तभी समझो कि तुम्हारा प्रेम असली है ।

२३८८—जिस तरह खरादे बिना सुन्दर मूर्ति नहीं बनती, उसी तरह विपत्तिसे गढ़े बिना मनुष्यका हृदय सुन्दर नहीं बनता ।

२३८९—विपत्तिमें कभी निराश मत होओ । याद रखो, अन्न उपजाकर संसारको सुखी कर देनेवाली जलकी बूँदें काली घटासे ही बरसती हैं ।

२३९०—विपत्ति असलमें उन्हींको विशेष दुःख देती है, जो उससे डरते हैं । जिसका मन दृढ़ हो, संसारकी अनित्यताका अनुभव करता हो और हरेक बातमें भगवान्की दया देखकर निडर रहता हो, उसके लिये विपत्ति फूलोंकी सेजके समान है ।

२३९१—विपत्ति आनेपर यदि तुम उसके सहन करनेकी शक्ति रखते हो तो घबड़ाओ मत; अपना बल लगाकर उसे निकाल दो और यदि तुम्हारी ताकत उसे नाश नहीं कर सकती तब भी रोओ मत । जख्म एक बार विपत्ति तुम्हें परेशान करना चाहेगी, परतु फिर आप ही नष्ट हो जायगी ।

२३९२—जैसे रास्तेमें दूरसे पहाड़ियोंको देखकर मुसाफिर घबरा उठता है कि मैं इन्हें कैसे पार करूँगा, लेकिन पास पहुँचने-

पर वे उतनी कठिन नहीं मालूम होतीं, यही हाल विपत्तियोंका है । मनुष्य दूरसे उन्हें देखकर घबरा उठता है और दुखी होता है, लेकिन जब वे ही सिरपर आ पड़ती हैं तो धीरज रखनेसे थोड़ी-सी पीड़ा पहुँचाकर ही नष्ट हो जाती हैं ।

२३९३—विपत्ति पड़नेपर पाँच प्रकारसे विचार करो—

१—तुम्हारे अपने ही कर्मका फल है, इसे भोग लोगे तो तुम कर्मके एक कठिन बन्धनसे छूट जाओगे । २—विपत्ति तुम्हारे विश्वासकी कसौटी है, इसमें न घबड़ाओगे तो तुम्हें भगवान्की कृपा प्राप्त होगी । ३—विपत्ति मङ्गलमय भगवान्का विधान है और उनका विधान कल्याणकारी ही होता है । इस विपत्तिमें भी तुम्हारा कल्याण ही भरा है । ४—विपत्तिके रूपमें जो कुछ तुम्हें प्राप्त होता है, यह ऐसा ही होनेको था, नयी चीज कुछ भी नहीं बन रही है, भगवान्का पहलेसे रचकर रक्खा हुआ दृश्य सामने आता है । ५—जिस देहको, जिस नामको और जिस नाम तथा देहके सम्बन्धको सच्चा मानकर तुम विपत्तिसे घबड़ाते हो, वह देह, नाम और सम्बन्ध—सब आरोपमात्र है, इस जन्मसे पहले भी तुम्हारा नाम, रूप और सम्बन्ध था, परंतु आज उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं है, यही हाल इसका भी है, फिर विपत्तिमें घबड़ाना तो मूर्खता ही है, क्योंकि विपत्तिका अनुभव देह, नाम और इनके सम्बन्धको लेकर ही होता है ।

२३९४—असली बात तो यह है कि विधान और विधाता एक ही हैं, विपत्तिके रूपमें सचमुच भगवान् ही तुम्हारे सामने आते हैं ।

२३९५—चार बातोंको याद रखो—बड़े-बूढ़ोंका आदर करना, छोटोंकी रक्षा और उनपर स्नेह करना, बुद्धिमानोंसे सलाह लेना और मूर्खोंके साथ कभी नहीं उलझना ।

२३९६—चार चीजें पहले दुर्बल दीखती हैं, परंतु परवा न करनेसे बहुत बढ़कर दुःखके गड्ढेमें डाल देती हैं—अग्नि, रोग, ऋण और पाप ।

२३९७—चार चीजोंका सदा सेवन करना चाहिये—सत्सङ्ग, सतोष, दान और दया ।

२३९८—चार अवस्थाओंमें आदमी बिगड़ता है । इसलिये इनमें सावधान रहना चाहिये—जवानी, धन, अधिकार और अविवेक ।

२३९९—चार चीजें मनुष्यको बड़े भाग्यसे मिलती हैं—भगवान्‌को याद रखनेकी लगन, संतोंकी सङ्गति, चरित्रकी निर्मलता और उदारता ।

२४००—चार गुण बहुत दुर्लभ हैं—धनमें पवित्रता, दानमें विनय, वीरतामें दया और अधिकारमें निरभिमानीता ।

२४०१—चार चीजोंपर भरोसा मत करो—बिना जीता हुआ मन, शत्रुकी प्रीति, स्वार्थीकी खुशामद और बाजारू ज्योतिषियोंकी भविष्य-वाणी ।

२४०२—चार चीजोंपर भरोसा रखो—भगवान्, सत्य, पुरुषार्थ और स्वार्थहीन मित्र ।

२४०३—चार चीजें जाकर फिर नहीं लौटतीं—मुँहसे निकली हुई बात, छूटा हुआ तीर, बीती हुई उम्र और मिटा हुआ अज्ञान ।

२४०४—चार बातोंको याद रखो—दूसरेके द्वारा किया हुआ अपनेपर उपकार, अपने द्वारा किया हुआ दूसरोंका अपकार, मृत्यु और भगवान् ।

२४०५—चारके सङ्गसे वचनेकी चेष्टा रखो—नास्तिक, अन्यायका धन, जवान स्त्री और दूसरेकी बुराई ।

२४०६—चार चीजें अपने-आप आती हैं—सुख, दुःख, जीविका और मृत्यु ।

२४०७—चारका परिचय चार अवस्थाओंमें मिलता है—दरिद्रतामें मित्रका, निर्धनतामें स्त्रीका, रणमें शूरवीरका और बदनामीमें बन्धु-बान्धवोंका ।

२४०८—धनके साथ दो छुटेरे लगे रहते हैं, जो निरन्तर दैवी गुणोंको छूटते रहते हैं—एक अभिमान और दूसरा खुशामदी ।

२४०९—संसारके लोग चञ्चल लक्ष्मीके पीछे जितने पचते हैं उससे सौवाँ हिस्सा परिश्रम भी यदि परमार्थके लिये करें तो उन्हें अचल सम्पत्ति मिल सकती है ।

२४१०—पापकर्म सभीके लिये बुरा है; परंतु विद्वान्के लिये तो बहुत बुरा है, क्योंकि अन्धा मूर्ख तो आँख न होनेसे राह भूलता है, पर विद्वान् दोनों आँख होते हुए भी कुँएमें गिरता है ।

२४११—तुमसे कोई बैर रखता हो तो तुम केवल इतना देखो कि तुम्हारी किसी क्रियासे उसकी हानि तो नहीं हुई, उसे दुःख तो नहीं पहुँचा । यदि ऐसा नहीं है तो अपने मनको दुखी मत करो और उसपर प्रेम तथा दया बनाये रखो ।

२४१२—तुम्हारा कोई पूर्वकर्म जबतक कारण नहीं होगा, तबतक तुम्हें कोई दुःख नहीं पहुँचा सकता। अगर किसीके द्वारा दुःख मिलता है तो यह समझो कि वह बेचारा तो केवल निमित्त बना है और दयाका पात्र है।

२४१३—क्रोध चार तरहका होता है—(१) लोहेमें लकीर-सा, (२) पत्थरमें लकीर-सा, (३) बाढ़में लकीर-सा और (४) पानीमें लकीर-सा। लोहेमें लकीर-सा तामसी मनुष्योंका होता है, जो जन्म-जन्मान्तरतक चलता है। पत्थरमें लकीर-सा राजसी पुरुषोंका होता है, जो कुछ दिनोंमें मिट जाता है। बाढ़में लकीर-सा सात्त्विक सज्जनोंका होता है जो हवाके झोंकेसे बाढ़की लकीरकी भाँति तुरंत नष्ट हो जाता है और पानीमें लकीर-सा सतोंका होता है, जो आता-सा दीखता है पर वास्तवमें होता नहीं।

२४१४—बुरी बातोंसे बचनेके ये ग्यारह उपाय हैं—भगवान्से प्रार्थना करना, सत्सङ्ग करना, कुसङ्गसे सर्वथा दूर रहना, आलस्य और प्रमाद न करना, नाच, तमाशा, नाटकादि न देखना, बुरी किताबें न पढ़ना, मन और इन्द्रियोंको बुरे विषयोंकी ओर जानेसे रोकते रहना, एकान्तमें मन और इन्द्रियोंकी विशेष रखवाली करना, महात्माओंके वचनों और शास्त्रोंकी शिक्षाओंको याद रखना, अपनी स्थितिको सर्वथा देखते रहना तथा मृत्यु, नरकोंकी यन्त्रणा और बुरी योनियोंके कष्टकी बातोंको याद करते रहना।

२४१५—बुद्धिमान् वह है जो जीवनमें सबसे जरूरी कामको सबसे पहले करता है। मनुष्यके जीवनमें सबसे जरूरी काम है—मालिकका चिन्तन।

२४१६—भगवान्की प्रसन्नताके लिये किसी वाहरी आडम्बरकी, वैष-भूषाकी, बोलचालके खास ढंगकी, आदेश-उपदेशकी, खोंग बनानेकी और साधु सजनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्की प्रसन्नताके लिये तो केवल चाहिये—निर्मल और भक्तिपूर्ण मन।

२४१७—जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्यका फल भोगता है और अकेला ही पापसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको भोगता है।

२४१८—भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी; शरण ग्रहण करने योग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं, उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्य योग' है।

२४१९—जब बच्चा माताके पेटमें रहता है, तब अज्ञानवश हाथ-पैर पीटता है, परंतु क्या माता उसे अपराध समझती है ? इसी प्रकार भगवान् जीवोंके अपराधपर दृष्टि नहीं डालते, क्योंकि सभी तो उनकी ही प्यारी संतान हैं।

२४२०—अच्छे कर्मोंमें लगे रहो। कोरे मनके लड़्डुओंमें लीन मत रहो।

२४२१—संसारके सुख क्षणभङ्गुर हैं। तबतक किसीको सुखी नहीं समझना चाहिये जबतक कि वह सुखकी स्थितिमें मर न जाय।

२४२२—मरनेके पहले किसीको महात्मा न समझो, पता नहीं मनुष्य कब गिर जाय। संसारमें जगह-जगह फिसलान भरी है।

२४२३—जिसने कभी दुःख नहीं उठाया, वह सबसे बड़ा

दुखिया है और जिसने कभी पीर न सही, वह सबसे बढकर बेपीर है, क्योंकि ऐसा हुए बिना दूसरोंके दुःख और पीड़ाका अनुभव नहीं हो सकता और जो दूसरोंके दुःखका अनुभव नहीं करता, उसे परिणाममें दुःखी होना ही पडता है ।

२४२४—और सब बातोंको कलपर छोड़ दो, परंतु भगवान्‌का स्मरण और परोपकारमें एक मिनटकी भी देर न करो ।

२४२५—जैसे हम द्वेषके द्वारा जगत्‌को नरकरूप बना देते हैं, वैसे ही प्रेमसे उसे स्वर्गसे भी बढकर बना सकते हैं ।

२४२६—क्रोध दिलानेपर भी चुप रहना बुद्धिमानी और महत्त्व है । महिमा जीभके वेगको रोकनेमें है और इससे भी बढकर महत्त्व मनके वेगको रोकनेमें है ।

३४२७—आशाके वशमें हुए मनुष्य क्षण-क्षणमें दुःख भोगते हैं । जो आशाके दास हैं, वे समस्त संसारके दास हैं और जिन्होंने आशाको अपनी दासी बना लिया है, उनके लिये यह सम्पूर्ण जगत्‌ दासके तुल्य है ।

२४२८—मनको सदैव शान्त रखो, चाहे तुम्हारे चारों ओर कितने ही विषाद हों और कितने ही क्लेशके कारण मौजूद हों ।

२४२९—तीन काम बडे महत्त्वके हैं—प्राणिमात्रपर दया करके उनके दुःखोंको दूर करना, निर्बलों और असहायोंकी सहायता करना और शत्रुको भी दुःख तथा निन्दासे बचाना ।

२४३०—भगवान्‌ विष्णुकी भक्ति ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चारों पुरुषार्थोंकी जड है । भक्ति ही भगवान्‌को वशमें करनेका उपाय है ।

२४३१—तीन कार्य मुख्य हैं—पापमें अत्यन्त ग्लानि, धर्मके लिये कभी न बुझनेवाली प्यास और प्राणिमात्रके साथ हृदयकी सहानुभूति ।

२४३२—जो भक्तिसे रहित है, वह यदि सुवर्ण आदिसे भगवान्की पूजा करे, तो भी वे उसकी पूजा ग्रहण नहीं करते । सभी वर्णोंके लिये भक्ति ही सबसे उत्कृष्ट मानी गयी है ।

२४३३—आकाशमें उडना आदि तो इन्द्रजालके तमाशे हैं । इनसे परलोकमें कोई सहारा नहीं मिलता । महात्माओंकी सच्ची सिद्धि तो वह है कि उनके सङ्ग और उपदेशसे पापी मनुष्य सदाचारी हो जाता है और परमार्थके मार्गपर लगकर संत बन जाता है ।

२४३४—जो मनुष्य पढ़कर उसे धारण नहीं करता, उसके लिये विद्या भार है । उसके सङ्गसे किसीको लाभ नहीं होता ।

२४३५—जो मनुष्य अपना कल्याण नहीं चाहता, पापके फल दुःखको नहीं मानता और ईश्वरको माननेमें भी आनाकानी करता है, उसको उपदेश करना व्यर्थ है ।

२४३६—कामनाओंका दास भी बना रहे और सुख भी प्राप्त कर ले—यह असम्भव है ।

२४३७—भगवान्के प्रेम और भोगोंके प्रेममें इतना ही अन्तर है जितना सूर्य और अन्धकारमें ।

२४३८—ईश्वरकी सत्ता माने बिना धर्मकी जड़ ही सूख जाती है । ऐसा धर्म, जिसमें ईश्वरको स्थान नहीं है, घोर अधर्म है ।

२४३९—जो इच्छाएँ तुम्हारे आडम्बर और बनावटीपनको हटाती हैं, वे ही शुभ इच्छाएँ हैं ।

२४४०—अपने नामकी बड़ाई चाहनेमें विरक्त भी फँस जाते हैं और अपना दोष प्रकट करनेवाले फँसे भी छूट जाते हैं ।

२४४१—वर्तमान जीवनको भूलकर भावनामय भावी जीवनपर विश्वास न करो, चाहे वह कितना ही आनन्दमय प्रतीत क्यों न होता हो ।

२४४२—कहनेसे कुछ भी काम नहीं सरता, काम चलता है करनेसे ।

२४४३—कहनेवाले वक्ताके जीवनको मत देखो, वह जो कहता है, उसपर गौर करो ।

२४४४—अपना कोई तृणके समान उपकार करे तो उसे पहाड़के समान समझो और तुम पहाड़के समान करो तो भी उसे बालूके कणसे भी कम मानो ।

२४४५—जो काम तुम स्वयं नहीं चाहते, वह दूसरोंके लिये भी मत करो ।

२४४६—किसी दूसरेका काम करना स्वीकार कर लो तो उसे वैसे ही उत्साह और लगनसे करो जैसा अपना करते हो ।

२४४७—धनकी प्यास जलकी प्याससे कहीं बढ़कर दुःख-दायिनी है । जलकी प्यास तो जल मिल जानेपर शान्त हो जाती है, परंतु धनकी तृष्णा धन मिलनेपर और भी बढ़ती है ।

२४४८—सहज ही अपने पास आनेवाले जिज्ञासुओंको अवकाशके अनुसार उपदेश करो, परंतु उपदेशके लिये ही कमर कसकर न बैठो । ऐसा करना अपने अमूल्य समयको खोना है ।

२४४९—जो धर्मके नामपर छल या पाप करता है अथवा झूठे मतका प्रचार करके लोगोंको ठगता है, उसके समान दूसरा कोई पापी नहीं ।

२४५०—दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होनेवाला लोहेके समान है, दुःखमें भी सुखी रहनेवाला सोनेके सदृश है, दुःख-सुखमें बराबर रहनेवाला रत्नके तुल्य है और जो सुख-दुःखकी भावनासे भी परे है वह सच्चा सम्राट् है ।

२४५१—शास्त्रकी बातें यदि भूल जायँ तो फिर याद कर ली जा सकती हैं, परंतु सदाचारसे एक बार भी भ्रष्ट हो जानेपर समझना मुश्किल होता है ।

२४५२—अधर्मके द्वारा इकट्ठी की हुई सम्पत्तिकी अपेक्षा सदाचारी पुरुषकी दरिद्रता कहीं अच्छी है ।

२४५३—लोगोंको रूलाकर जो सम्पत्ति इकट्ठी की जाती है, वह आर्तखरसे रोनेकी आवाजके साथ ही विदा हो जाती है । पर जो धर्मके द्वारा संचित होती हैं, वह बीचमें किसी कारणवश क्षीण हो जानेपर भी अन्तमें खूब फलती-फलती है ।

२४५४—जब तुम दिलके मकर छोड़कर सीधे हो जाओगे तब तुम्हारे सारे काम अपने-आप ही सीधे हो जायँगे ।

२४५५—ईश्वरका साक्षात्कार तब होगा जब संसारकी दृष्टिसे प्रतीत होनेवाले बड़े-से-बड़े वैरियोंको भी क्षमा करनेका तुम्हारा स्वभाव बन जायगा ।

२४५६—देह, बुद्धि, लेख, व्याख्यान, घर, कुटुम्ब, यश और प्रतिष्ठा आदि प्रत्येक दावेका त्याग ही वेदान्त है ।

२४५७—संतके लक्षण हैं—(१) दूसरेकी निन्दाको झूठा समझना और उसकी कहीं चर्चा भी नहीं करना, (२) अपनी प्रशंसाका न सुहाना और दूसरेकी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होना, (३) दूसरेको सुख पहुँचाना और उसको अपने सुखसे भी अधिक समझना, (४) छोटीके प्रति कोमलता और दयाका तथा बड़ोंके प्रति आदरका बर्ताव करना और (५) खेलमें भी किसीके साथ चालाकी न करना ।

२४५८—वस्त्र और किसी वस्तुविशेषसे सौन्दर्य उधार लेनेकी चेष्टा न करो, हृदयकी शान्ति और प्रसन्नता, शरीरकी नीरोगता और चेहरेपर सात्विक सरल हँसी ही सच्चा सौन्दर्य है ।

२४५९—जिस मनुष्यकी अच्छे कर्म करनेपर भी निन्दा होती है, वह बड़ा भाग्यवान् है ।

२४६०—जो अपने अच्छे कर्मोंके बदलेमें धन्यवाद, वाहवाही अथवा किसी और फलकी चाह करता है, वह अत्यन्त अभागा है; क्योंकि वह बहुमूल्य सत्कर्मोंको थोड़ी कीमतपर बेच डालता है ।

२४६१—जिस मनुष्यकी भलाई की हो उसे सुखी देखनेमें प्रसन्नताका होना ही भलाई करनेवालेके लिये पूरा पुरस्कार है ।

२४६२—सबके साथ भलाई करो, यदि तुम्हारे साथ कोई बुराई करता है तो उसकी जिम्मेवारी उसपर है, तुम उसकी देखा-देखी अपने मनको कलुषित करके कर्तव्यसे न हटो ।

२४६३—दूसरोंको सुख पहुँचाना और उनका हित करना भगवान् ने तुम्हारे जिम्मे दिया है । दण्ड देना तो उनका अपना काम

है । किसीको दण्ड देनेकी चाह करके भगवान्‌के आसनको छीनने-की चेष्टा मत करो ।

२४६४—शुभ कर्म करनेका स्वभाव ऐसा सुन्दर धन है कि जिसे न शत्रु छीन सकता है और न चोर चुरा सकता है ।

२४६५—प्रेम सदा ही सहिष्णु और मधुर है । प्रेममें द्वेष, आत्मश्लाघा, गर्व, अनिष्ट आचरण, स्वार्थ, क्रोध, अपकार और अधर्म नहीं होता ।

२४६६—शत्रुपर भी प्रेम रखो; भगवान्‌को प्रसन्न करनेका यह बड़ा अच्छा साधन है ।

२४६७—वे मनुष्य धन्य हैं जिनमें दया है, क्योंकि परम पिताकी दयाके वे ही भागी हैं ।

२४६८—शत्रुको प्यार करो, अपराधीको क्षमा करो, प्रभुके लिये दान दो और अपने लिये कुछ भी न चाहो ।

२४६९—प्रभु कहते हैं कि जो नीच-से-नीच मनुष्यकी सेवा करता है, वही मेरी सेवा करता है ।

२४७०—जो किसीको दुःखमें देखकर उसपर दया नहीं करता, वह मालिकके कोपका पात्र होता है ।

२४७१—मनकी तरङ्गोंको रोकनेमें बड़ा आनन्द है । इस आनन्दका अनुभव नहीं हुआ, इसीलिये मनुष्य विषयोंके आनन्दके पीछे भटकता है ।

२४७२—जो श्रीकृष्ण नामके उच्चारणरूपी पथ्यका कलियुगमें कभी त्याग नहीं करता, उसके चित्तमें पापरूपी रोग पैदा नहीं होते । श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करते हुए मनुष्यकी आवाज सुनकर

दक्षिण दिशाके अधिपति यमराज उसके सौ जन्मोंके पापोंका परिमार्जन कर देते हैं ।

२४७३—जो दिन-रात श्रीकृष्णके नामोंका कीर्तन नहीं करती वह जिह्वा नहीं है, वह तो मुखमें कोई पापमयी लता है, जिसे जिह्वाके नामसे पुकारा जाता है । जो 'श्रीकृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-श्रीकृष्ण' इस प्रकार श्रीकृष्ण नामका कीर्तन नहीं करती, वह रोगरूपिणी जीभ सौ टुकड़े होकर गिर जाय ।

२४७४—तुम्हारे बलपर मन वशमें नहीं होगा, भगवान्‌के बलपर विश्वास करो और चुपचाप उनकी याद करते रहो ।

२४७५—भगवान्‌की यादसे बढकर कोई पुण्य नहीं है और उनको भूल जानेसे बढकर कोई पाप नहीं है ।

२४७६—पापका फल जो करनेवालेको होता है वही प्रायः उनको प्रकट करनेवालेको होता है, इसलिये दूसरेके पापोंको प्रकट न करो ।

२४७७—जो पाप प्रकट हो जाते हैं वे बदनामी देकर नष्ट हो जाते हैं, इसलिये हिम्मत करके अपने पापोंको प्रकट कर दो और बदनामीको सिर चढ़ाकर सुखी हो जाओ ।

२४७८—भजन होता है गरजसे । इसमें प्रारब्ध माननेवाला मूर्ख है ।

२४७९—भजन न करके जो विषयोंमें वैराग्य चाहता है, वह बड़े धोकेमें है । भजन करो तो विषयोंमें वैराग्य आप ही होगा ।

२४८०—भगवान्‌के प्रेमीकी यह पहचान है कि वह भगवान्‌के लिये सदा व्याकुल रहता है ।

२४८१—विरह-तापसे जबतक हृदय नहीं जलने लगता तबतक भगवान्की मुख-माधुरीके दर्शन नहीं होते ।

२४८२—जैसे भूखा अन्नके लिये और प्यासा जलके लिये जलता रहता है, उससे भी अधिक ताप तुम्हारे हृदयमें भगवान्के लिये होना चाहिये ।

२४८३—सच्चा गुरु वही है जो भगवान्की प्राप्ति करवा दे । शिष्यको चाहिये कि वह गुरुकी आज्ञाका पालन करे, केवल गुरु कहनेमात्रसे काम नहीं चलता ।

२४८४—भगवान्को छोड़कर केवल दैवी गुणोंसे मोक्षकी आशा रखना बच्चोंकी-सी व्यर्थ चेष्टा है । सत्य आदि सद्गुणोंके ठहरानेके लिये भगवद्विश्वासरूपी आधारकी अत्यन्त आवश्यकता है ।

२४८५—मनुष्यको चाहिये कि वह अपना काम देखे, दूसरोंके कामोंकी नुकताचीनी न करे ।

२४८६—जो दूसरोंके कामोंकी आलोचनामें ही लगे रहते हैं, वे अपना समय तो व्यर्थ खोते ही हैं, दोष देखनेकी उनकी आदत बन जाती है और जिनको दूसरोंमें दोष ही दीखते हैं उनके हृदयकी जलन कभी मिट ही नहीं सकती ।

२४८७—नम्रताके तीन लक्षण हैं—(१) कड़वी बातका मीठा जवाब देना, (२) क्रोधके अवसरपर भी चुप साधना और (३) किसीको दण्ड देना ही पड़े तो उस समय चित्तको कोमल रखना ।

२४८८—जो मनुष्य भगवान्से कृपा और स्नेहकी आशा रखता है, उसे अपने आश्रितों और अपनेसे छोटोंपर सदा कृपा और स्नेह रखना चाहिये ।

२४८९—अच्छे मार्गसे भटके हुए लोगोंको प्रेमसे समझाकर राहपर लाओ । दुर्जनोके सुधारके लिये भी कोमल व्यवहार कठोर दण्डसे बढ़कर उपयोगी है ।

२४९०—याद रखो, मनुष्य-जीवनकी सच्ची सफलता भगवान्-के प्रेमको प्राप्त करनेमें ही है ।

२४९१—भगवत्प्रेमकी प्राप्ति किसी भी साधनसे नहीं हो सकती । यह तभी मिलता है जब भगवान् स्वयं कृपा करके देते हैं ।

२४९२—भगवान्की कृपा सभीपर है, परंतु उस कृपाके तब-तक दर्शन नहीं होते जबतक मनुष्य उसपर विश्वास नहीं करता और भगवत्कृपाके सामने लौकिक-पारलौकिक सारे भोगों और साधनों-को तुच्छ नहीं समझ लेता । परंतु ऐसे विश्वासकी प्राप्ति और सबको तुच्छ समझनेकी स्थिति भी भगवत्कृपासे ही प्राप्त हो सकती है ।

२४९३—भगवत्कृपाकी, एकमात्र भगवत्कृपाकी ही बाट देखते हुए भगवान्का भजन करो ।

२४९४—मनके दोष, मनकी चञ्चलता, विषयोंमें आसक्ति आदि न मिटें तो निराश मत होओ, भजनके बलसे सब दोष अपने-आप दूर हो जायेंगे ।

२४९५—जो मनुष्य भजन न करके दोषरहित होनेकी चेष्टा करता है और दोषोंके रहते अपनेको भगवत्कृपाका अनधिकारी मानता है, वह तार्किकोंकी दृष्टिमें बुद्धिमान् होनेपर भी वस्तुतः भगवान्की अनन्त शक्तिमयी सहज कृपाकी अवहेलना करनेका अपराध ही करता है ।

२४९६—जहाँतक बन सके, बाहरके पापोंसे बिल्कुल बचकर भगवान्‌का भजन करो । जीवन बहुत थोड़ा है, विचारोंमें ही बिता दोगे तो भजनसे वञ्चित रह जाओगे ।

२४९७—भजन मन, वचन और तन तीनोंसे ही करना चाहिये । भगवान्‌का चिन्तन मनका भजन है, नाम-गुण-गान वचन-का भजन है और भगवद्भावसे की हुई जीव-सेवा तनका भजन है ।

२४९८—भजन सर्वोत्तम वही है कि जिसमें कोई शर्त न हो, जो केवल भजनके लिये ही हो ।

२४९९—तन-मनसे भजन न बन पड़े तो केवल वचनसे ही भजन करना चाहिये । भजनमें स्वयं ऐसी शक्ति है कि जिसके प्रतापसे आगे चलकर अपने-आप ही सब कुछ भजनमय हो जाता है ।

२५००—और भजनमें सबसे अधिक उपयोगी और लाभदायक है—भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन ! बस, जप और कीर्तनपर विश्वास करके नामकी शरण ले लो, नाम अपनी शक्तिसे अपने-आप ही तुम्हें अपना लेगा । और नाम-नामीमें अभेद है, इसलिये नामके द्वारा अपनाये जाकर नामी भगवान्‌के द्वारा तुम सहज ही अपनाये जाओगे । याद रखो, जिसको भगवान्‌ने अपना लिया, उसीका जन्म और जीवन सफल है, धन्य है ।

संत और सत्सङ्गोंकी जय-जय
क्रमांक १०

अटक जायगा । दूसरे शब्दोमे 'सत्त्वगुण बना रहे और इसमें वृद्धि भी हो'—यह इच्छा प्रगतिको अवरुद्ध करनेवाली है ।

अन्वय—

अस्मिन् देहे, यदा, सर्वद्वारेषु, प्रकाशः, ज्ञानम्, उपजायते, तदा, इति, विद्यात्, उत, सत्त्वम्, विवृद्धम् ॥ ११ ॥

पद-व्याख्या—

अस्मिन् देहे—इस (मनुष्य) देहमें (ही) ।

सत्त्वगुणकी विवेक आदि वृत्तियोंको विशेष रूपसे समृद्ध करनेका अवसर इस मनुष्य-शरीरमें ही मिलता है, अन्य शरीरोंमें नहीं । भगवान् ने तमोगुणसे बँधनेवालोके लिये 'सर्वदेहिनाम्' (१४ । ८) पदका प्रयोग किया है; क्योंकि रजोगुण-तमोगुण तो अन्य शरीरोमे भी बढ़ते हैं, जबकि सत्त्वगुण विशेष रूपसे मानव-शरीरमें ही बढ़ सकता है । अतः मानवको चाहिये कि रजोगुण, और तमोगुणपर विजय प्राप्त कर सत्त्वगुणसे भी ऊपर उठे, अर्थात् गुणातीत होनेका प्रयत्न करे । इसीमें मानव-जीवनकी सफलता है । स्वर्गके शरीरोंमे तीनो गुणोंसे ऊपर उठनेकी योग्यता होनेपर भी भोगोंकी अधिकताके कारण उनमें भोग भोगनेकी प्रवृत्ति ही अधिक रहती है, जो रजोगुणका कार्य है । शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंमे तमोगुणकी प्रधानता रहनेसे विवेकके लिये स्थान (सम्भावना) ही नहीं है । इसलिये इस मानव-शरीरमे जागरूक होनेकी विशेष आवश्यकता है, जिससे सत्त्वगुणकी वृत्तियोंका विकास हो, रजोगुण और तमोगुणका दमन कर हम सात्त्विक गुणकी वृत्तियोंमे भी न बँधे तथा गुणातीत अवस्थाको प्राप्त

करे । भगवान्ने कृपापूर्वक मानव-शरीर देकर इन तीनों गुणोंपर विजय प्राप्त करनेका पूरा अवसर दिया है ।

यदा सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानम् उपजायते—जिस कालमें अन्तःकरण और सम्पूर्ण इन्द्रियोमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है ।

सत्त्वगुणकी वृद्धिमें आलस्यका अभाव होकर अन्तःकरण और सम्पूर्ण इन्द्रियोमें एक चेतनता प्रस्फुटित होती है, जिससे वे अपने-अपने विषयोको ठीक-ठीक समझ सकते हैं, इसी चेतनताका नाम 'प्रकाश' है । ऐसे प्रकाशके उत्पन्न होनेपर तमोगुणके कार्य—निष्क्रियता, आलस्य, अतिनिद्रा आदि दोष दूर जाते हैं तथा अन्तःकरणमें कर्तव्य-अकर्तव्य, नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य और विहित-निषिद्ध आदिका यथार्थ विवेक प्रकट होता है । उस विवेककी जागृति को 'ज्ञान' कहते हैं । विवेक प्रकट होनेपर सत्त्वगुणके कार्य त्याग, सन्तोष, शान्ति, निस्पृहता, वैराग्य आदिको एव रजोगुणके कार्य लोभ, कामना, अशान्ति, स्पृहा, सासारिक सग्रह और भोगोंकी इच्छा आदिको दूर करता है तथा तमोगुणके कार्य प्रमादको विशेषतासे दूर करता है । ज्ञानके प्रकट होनेपर तमोगुणके कार्य अज्ञान, मूढ़ता, जडता, विपर्यय आदि दोषोंका अभाव हो जाता है । दुर्गुण-दुराचार मिटनेपर वह सत्त्वगुण प्रकट दीखने लगता है, जो दुर्गुण-दुराचारकी वृत्तियोंसे केवल ढक गया था ।

तदा—उस कालमें;

इति विद्यात्—ऐसा जानना चाहिये ।

सत्त्वगुणकी स्वच्छता, रजोगुणकी आसक्तियुक्त प्रवृत्ति और तमोगुणके प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदिका बढ़ना तथा एक गुणकी प्रधानताके कारण दूसरे दो गुणोंका बढ़ना आदि-आदि परिवर्तन गुणोंमें ही होते हैं। इस बातको मनुष्य-योनिमें ही ठीक तरहसे समझा जा सकता है। साथ ही गुणों और वृत्तियोंके परिवर्तनका वर्णन करनेका एक ऐसा आशय भी जान पड़ता है कि इस मनुष्य-शरीरको धारण करनेवाला वह तत्त्व अविनाशी, परिवर्तन-रहित एकरस रहता है। मनुष्य भगवान्‌के दिये हुए विवेक और भगवत्कृपासे प्राप्त अधिकारको मूल गुणों, गुणजन्य भावों और क्रियाओंके साथ अभिन्नता मानकर उनके सम्बन्धसे ही अपनेको सात्त्विक, राजस या तामस मानने लगता है। मनुष्यको चाहिये कि ऐसा न मानकर अपनेको सर्वथा निर्विकार, अपरिवर्तनशील और एकरस रहनेवाला तथा गुणोंके परिवर्तनका प्रकाशक जाने। भगवान् इस पदसे इसी भावका उद्घाटन करते हैं।

तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ अलग-अलग बनती-बिगड़ती हैं, इसका सबको अनुभव है। 'स्वयं' परिवर्तनरहित यह जीवात्मा इन सब वृत्तियोंको देखता है। यदि यह स्वयं भी बदल जाता तो इन वृत्तियोंके बनने-बिगड़नेके परिवर्तनको कौन देखता ? उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि परिवर्तनको परिवर्तनरहित (एकरस रहनेवाला) ही जान सकता है।

उत सत्त्वम् विवृद्धम्—कि सत्त्वगुण बढ़ा है।

सत्त्वगुणके बढ़नेपर रजोगुण, तमोगुणकी वृत्तियाँ सर्वथा शान्त रहती हैं। विशेष सावधानी रखने हुए सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय

मनुष्यको अपना अधिकाधिक समय परमार्थ-तत्त्वको जाननेमें ही लगाना चाहिये । ऐसे समयमें किये गये अल्प प्रयाससे भी शीघ्र ही महान् लाभ हो सकता है । अतः ऐसा अवसर प्राप्त होनेपर मनुष्यको सदैव विशेषरूपसे सावधानीपूर्वक भगवच्चिन्तन आदि परमार्थ-साधनमें लग जाना चाहिये ।

सम्बन्ध—

सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता हूँ । अब रजोगुण-वृद्धिके लक्षण वारहवें श्लोकमें बताये जाते हैं—

श्लोक—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भावार्थ—

भरतवशमे श्रेष्ठ अर्जुन ! रजोगुणकी वृद्धि होनेपर अधिक धन प्राप्त करने और उसके संग्रहकी लिप्सा (इच्छा), कार्य करनेकी प्रवृत्ति, नये-नये कार्य करनेकी स्फुरणा, अशान्ति एवं अनेक प्रकारकी वस्तुओं, क्रियाओं और व्यक्तियोंकी आवश्यकताका अनुभव होना—ऐसी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।

अन्वय—

भरतर्षभ ! रजसि, विवृद्धे, लोभः, प्रवृत्तिः, कर्मणाम्, आरम्भः, अशमः, स्पृहा, एतानि, जायन्ते ॥ १२ ॥

पद-व्याख्या—

भरतर्षभ !—भरतवशमे श्रेष्ठ अर्जुन !

रजसि विवृद्धे—रजोगुण अर्थात् राग, आसक्ति, कामना, आशा, तृष्णा आदिके बढ़नेपर ।

लोभः—लोभ ।

जिस वृत्तिके कारण मनुष्य अधिक वनोपार्जन और उसके संग्रहका संकल्प करता है, उस वृत्तिका नाम लोभ है । लोभ उत्पन्न होनेसे उचित अवसर प्राप्त होनेपर भी धनका व्यय नहीं करता एवं अन्यायपूर्वक अनुचित उपायोके द्वारा भी धनका संचय कर लेता है । लोभ सत्त्वगुणकी वृत्ति—‘त्याग’को दबा देता है ।

प्रवृत्तिः—प्रवृत्ति ।

नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये अन्तःकरणमें जो आसक्तिपूर्वक भाव उत्पन्न होते हैं, वे ‘प्रवृत्ति’ नामसे कहे गये हैं । प्रवृत्ति तमोगुणके कार्य आलस्य या निष्क्रियता (अप्रवृत्ति) की विरोधिनी है ।

कर्मणामारम्भः—नये-नये कार्य आरम्भ करना ।

अशमः—हृदयमें क्षोभ, अशान्ति ।

रजोगुणके बढनेपर प्राप्त पदार्थोंमें ममता और उनके नाश न होनेकी इच्छा एव अप्राप्त पदार्थोंकी कामना होती है । ऐसी कामना ही चित्तमें अशान्तिको जन्म देती है । सम्पूर्ण सासारिक पदार्थ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं, इसलिये उनमें ममता-वासना रखनेसे कोई शान्त कैसे रह सकता है ? मनुष्यकी सम्पूर्ण मनचाही कभी होती नहीं और मनचाही न होनेसे ही अशान्तिका जन्म होता है ।

स्पृहा—आवश्यकता (अभिलाषा) ।

किसी भी प्रकारके सासारिक पदार्थोंको अपने लिये आवश्यक मानना स्पृहा है ।

एतानि जायन्ते—ऐसी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।

इस श्लोकमें वर्णित रजोगुणके पाँचों कार्यों—लोभ, प्रवृत्ति, नये-नये कामोंमें लगना, अशान्ति और स्पृहाका इस पदमें सम्प्रहार किया गया है ।

सम्बन्ध—

पहले दो श्लोकोंमें सत्त्व और रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण बताये गये हैं । अब सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण कैसे बढ़ता है, इसका तथा तमोगुणकी वृद्धिके उन लक्षणोंका निरूपण किया जा रहा है—

श्लोक —

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

भावार्थ—

कुरुनन्दन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोमें अखच्छता, किसी कार्यको करनेका मन न होना, आवश्यक लौकिक, पारलौकिक कार्योंकी अवहेलना और न करने योग्य कार्य करना एव मूढ़ता तथा विपरीत निर्णय करना इत्यादि वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।

अन्वय—

कुरुनन्दन ! तमसि, विवृद्धे, अप्रकाश, अप्रवृत्तिः, च, प्रमादः च, मोहः, एतानि, एव, जायन्ते ॥ १३ ॥

पद-व्याख्या—

कुरुनन्दन—कुरुवशी अर्जुन ।

तमसि विवृद्धे—तमोगुणके बढ़नेपर ।

सत्त्वगुण और रजोगुणके कार्योंको रोककर तमोगुणका अपने कार्यकी प्रवृत्ति रखना ही उसका बढ़ना है । सत्त्वगुणके समय अन्त करण और इन्द्रियोकी वृत्तिमें स्वच्छता और सावधानी रहती है । फिर सासारिक स्फुरणा आदि रजोगुणके आनेपर यह स्वच्छता कुछ मलिन हो जाती है । तदुपरान्त आलस्य आदि तमोगुणके आ जानेसे यह स्वच्छता सर्वथा दब जाती है । तमोगुणके बढ़नेका यह क्रम है । उदाहरणार्थ, सत्सङ्ग सुनते समय (नींद आ जाय तब) पहले सासारिक बातोंका चिन्तन होता है, फिर नींद या आलस्य आता है ।

तमोगुणकी वृत्तिको दूर करनेके लिये सीधे सत्त्वगुणसे सम्बन्ध जोड़नेकी अपेक्षा रजोगुण (क्रियाओ-)से सम्बन्ध जोड़ना होगा । वही क्रिया (रजोगुण) अगर ससारकी तरफ होगी तो तमोगुणमें ले जायगी और परमात्माकी तरफ होगी तो सत्त्वगुणकी तरफ ले जायगी । जैसे, गाना-बजाना राजसी क्रिया है, जो भगवान्के लिये होगी तो सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ पैदा होगी, और संसारके लिये होगी तो तमोगुणकी वृत्तियाँ पैदा होगी ।

अप्रकाशः—इन्द्रियोद्वारा अपने-अपने विषयोको यथार्थतः न समझनेकी वृत्ति । यह वृत्ति प्रकाशको दबा देती है ।

अप्रवृत्तिः—किसी भी कार्यको करनेका मन न होना । केवल निरुद्देश्य लेटे-वैठे रहकर ही समय बितानेकी इच्छा करना । 'अभी नहीं, फिर कर लेंगे'—इस भावका उदय होना ।

अप्रवृत्तिको मिटानेके लिये प्रवृत्तिका आह्वान करना चाहिये । पहलेसे ही दृढ निश्चय करे कि मुझे 'अप्रवृत्ति'में समय लगाना

ही नहीं है । यह उद्देश्य पहलेसे ही बनाया हुआ होनेसे अप्रवृत्तिके समय याद आ सकता है । यदि याद नहीं आयेगा तो समय आलस्य आदिमें चला जायेगा, परंतु सावधानी होते ही पुनः पश्चात्ताप होगा ।* पश्चात्ताप (जलन) के सदुपयोगमें वह शक्ति है, जो इस स्वभावमें परिवर्तन ला देगी । इससे शीघ्र सुधार हो सकता है । बलपूर्वक यह निश्चय होना चाहिये कि अब 'अप्रवृत्ति'में समय बिताना ही नहीं है । उद्देश्यकी टिळाई और सुखासक्तिके कारण इस निश्चयमें कर्मा आती है ।

च—और ।

प्रमादः—कृतव्यकर्मकी अवहेलना अर्थात् कर्तव्यकर्म न करना और अकर्तव्यमें लगना । शरीर आदिद्वारा निरुद्देश्य चेष्टा करते रहना । यह (प्रमाद) सत्त्वगुणकी 'ज्ञान' वृत्तिका विरोधी है ।

च—तथा (अनुक्त समुच्चय अर्थमें है ।)

* पश्चात्तापका दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों हो सकते हैं । बीती हुई (भूतकालकी) गल्तीपर चिन्ता करना पश्चात्तापका मुख्य दुरुपयोग है, जिससे आगे पुनः वैसी गल्ती होती है, क्योंकि चिन्ता करनेसे वृत्तियोंका प्रवाह भूतकालकी गल्तीकी ओर हो जाता है । इसके विपरीत भविष्यमें पुनः यह गल्ती नहीं करूंगा—ऐसी सावधानी (दृढ निश्चय) रखना पश्चात्तापका मुख्य सदुपयोग है, जिससे आगे पुनः वैसी गल्ती होनेकी सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि सावधानीमें वृत्तियोंका प्रवाह भविष्यमें गल्ती न करनेकी ओर हो जाता है । भूतकालके विचारमें तमोगुण एवं भविष्यके विचारमें सत्त्वगुण उत्पन्न होता है ।

† 'प्रमाद'की व्याख्या इसी अध्यायके ८वें श्लोकके अन्तर्गत देखिये ।

तमोगुणकी आलस्य और अज्ञानादि वृत्तियोंका (जिनका वर्णन इस श्लोकमें नहीं किया गया) समुच्चय इस पदसे किया गया है ।

मोहः—मूढ़ता ।

मोहके कारण विवेकका अभाव हो जानेसे मनुष्यपर मूढ़ता छा जाती है और वह कुमतिवश विपरीत निर्णय करने लगता है । तब वह कर्तव्यको अकर्तव्य, पवित्रको अपवित्र, नित्यको अनित्य, शुचिको अशुचि और हितको अहित मानने लगता है ।
(गीता १८ । ३२)

मनका मोहित हो जाना, किसी बातकी स्मृति न रहना, अतिनिद्रा, आलस्य आदिसे अन्तःकरण और इन्द्रियोमें चेतनाशक्तिका शिथिल हो जाना—यहाँ 'मोह' कहा गया है ।

तमोगुणके बढ़नेपर बुद्धिमें निश्चय ही विपरीत वारणा (मूढ़ता) आती है और उस समय मनुष्य सासारिक और पारमार्थिक—दोनों ही प्रकारके कार्योंमें प्रमाद करता है । अतः तमोगुणकी उपर्युक्त वृत्तियोंसे किसीका भी लक्षण अपनेमें दिखायी दे तो साधकको विशेषरूपसे सावधानी बरतनी चाहिये अर्थात् इनका शमन ही उसका कर्तव्य है ।

एतानि एव जायन्ते—ऐसी वृत्तियाँ भी पैदा होती हैं ।

इस श्लोकमें वर्णित तमोगुणकी चारों वृत्तियों—अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोहका इन पदोंमें समाहार किया गया है ।

विशेष बात—सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ स्वाभाविक उत्पन्न, नष्ट तथा न्यूनाधिक होती रहती हैं । ये सभी

परिवर्तनशील हैं। साधक इन वृत्तियोंके परिवर्तनका अपने जीवनमें अनुभव भी करता है—इससे यह सिद्ध होता है कि एक वस्तु परिवर्तनशील (बदलनेवाली) है और एक तत्त्व अपरिवर्तनशील (न बदलनेवाला) है। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ—प्रकाश, ज्ञान, स्नेह, प्रवृत्ति, अशान्ति, स्पृहा, अप्रकाश, अप्रवृत्ति और मोह आदि सभी बदलनेवाली हैं और इनके परिवर्तनको जाननेवाले पुरुषमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ दृश्य हैं और पुरुष इनको देखनेवाला होनेसे द्रष्टा है। द्रष्टा दृश्यसे सर्वथा भिन्न होता है—यह नियम है। दृश्यकी तरफ दृष्टि होनेसे ही द्रष्टा सज्ञा होती है। परंतु दृश्यपर दृष्टि न रहनेपर द्रष्टा सज्ञारहित रहता है। भूल यह होती है कि दृश्यको अपनेमें आरोपित कर 'मैं कामी हूँ, 'मैं क्रोधी हूँ' आदि मान लेता है।

काम-क्रोधादि विकारोंसे सम्बन्ध जोड़कर उन्हें अपनेमें मान लेता उन विकारोंको निमन्त्रण देना है और उन्हें स्थायी बनाना है। मनुष्य भूलसे क्रोध आनेके समय क्रोधको उचित समझता है (कि यह तो सभीको आता है) और अन्य समय 'मेरा क्रोधी स्वभाव है'—ऐसा भाव रखता है। इस प्रकार 'मैं क्रोधी हूँ' ऐसा मान लेनेसे अहंता परिवर्तित होकर वैसी ही बन जाती है। फिर क्रोधरूप विकारसे छूटना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि साधक प्रयत्न करनेपर भी क्रोधादि विकारोंको दूर नहीं कर पाता, उनसे अपनी हार मान लेता है।

काम-क्रोधादि विकारोंको दूर करनेका मुख्य और सुगम उपाय है कि साधक इन्हें अपनेमें माने ही नहीं। वास्तवमें क्रोध निरन्तर

नहीं रहता; अपितु क्रोधसे रहित अवस्था निरन्तर रहती है । कारण कि क्रोधादि विकार आते और चले जाते हैं, पर स्वयं निरन्तर निर्विकार रहता है । क्रोधादि विकार भी अपनेमें नहीं, अपितु वृत्तियोंमें आते हैं । पर साधक वृत्तियोंसे तद्रूप होकर विकारोको भूलसे अपनेमें मान लेते हैं । विकारोको अपनेमें न माननेसे उनसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है । फिर विकारोको दूर करना नहीं पड़ता, अपितु वे अपने-आप दूर हो जाते हैं । जैसे, क्रोधके आनेपर ऐसा विचार करे कि 'मैं तो वही हूँ, मैं आने-जानेवाले क्रोधसे कैसे मिट गया ?' ऐसा विचार दृढ़ होनेपर क्रोधका वेग कम हो जायगा और पहलेकी अपेक्षा कम बार आयेगा । फिर अन्तमें वह सर्वथा दूर हो जायगा ।

भगवान् उपर्युक्त तीन श्लोकोमें क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन करके साधकको सावधान करते हैं कि गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ उसे अपनेमें प्रतीत होती हैं, वस्तुतः साधकका इनसे किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है । ये सभी वृत्तियाँ बदलती रहती हैं और स्वयं इन वृत्तियोंको देखनेवाला (गुणातीत) है । गुण एवं गुणोंकी वृत्तियाँ प्रकृतिका कार्य होनेसे परिवर्तनशील हैं और स्वयं 'पुरुष' परमात्माका अश होनेसे अपरिवर्तनशील है । प्रकृति और पुरुष—दोनों विजातीय हैं । बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेका एकात्मभाव ही कैसे सकता है ? इस वास्तविकताकी ओर ध्यान रखनेसे तमोगुण और रजोगुण दब जाते हैं तथा साधकमें सत्त्वगुणकी वृद्धि स्वतः होती है । सत्त्वगुणमें भोग-बुद्धि होनेसे

अर्थात् उससे प्राप्त सुखमें राग होनेपर यह (सत्त्वगुण) भी गुणातीत होनेमें अवरोध उत्पन्न कर देता है । अतः जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साधकको सत्त्वगुणसे उत्पन्न सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये । सात्त्विक सुखका उपभोग करना रजोगुण-अंश है । रजोगुणमें राग बढ़नेपर रागमें बाधा देनेवालेके प्रति क्रोध पैदा होकर सम्मोह हो जाता है (२ । ६२-६३) और रागके अनुसार पदार्थ मिलनेपर लोभ पैदा होकर सम्मोह हो जाता है । इस प्रकार सम्मोह पैदा होनेसे वह रजोगुणसे तमोगुणमें चला जाता है और उसका पतन हो जाता है ।

सम्यन्ध—

तीनों गुणोंकी वृद्धिमें क्रमशः कौन-कौन-सी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, यह विवेचन पिछले तीन (११, १२, १३) श्लोकोंमें किया गया है । अब सत्त्व, रज और तमोगुणकी तात्कालिक वृद्धिमें प्राण त्यागनेवालोंकी गतिका वर्णन अगले दो (१४, १५) श्लोकोंमें किया जाता है—

श्लोक—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

भावार्थ—

जिस कालमें सत्त्वगुण बढ़ा हुआ हो, उस कालमें प्राणोंको त्यागनेवाला प्राणी उच्च और उत्तमवेत्ताओंके पवित्र लोकोंको

(जिन लोकोमें पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले जाते हैं*,) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

जो रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होता है, वह जीव कर्मोंमें आसक्तिवाले मनुष्योमें जन्म लेता है तथा जो तमोगुण बढ़नेके समय मृत्युको प्राप्त होता है, वह शूकर-कूकर, कीट-पतङ्ग, सोंप-बिच्छू-जैसी मूढ योनियोंमें जाता है ॥ १५ ॥

अन्वय—

यदा, सत्त्वे, प्रवृद्धे, देहभृत्, प्रलयम्, याति, तदा, तु, उत्तम-विदाम्, अमलान्, लोकान्, प्रतिपद्यते । रजमि, प्रलयम्, गत्वा, कर्म-सङ्गिषु, जायते, तथा, तमसि, प्रलीनः, मूढयोनिषु, जायते ॥ १४-१५ ॥

पद-व्याख्या—

यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे देहभृत् प्रलयं याति—जिस कालमें सत्त्वगुण बढ़ा हो, उस कालमें यदि मनुष्य प्राणोंको त्यागता है, (जिस समय स्थूल-शरीरका सूक्ष्म शरीर—इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिसे वियोग होता है, उसी समयका बोध इस पदसे कराया जा रहा है ।) तो उसकी इन सात्त्विक वृत्तियोंके अनुसार गति होती है, किंतु जो पुरुष गुणातीत हो जाता है, उस गुणातीत पुरुषका गुणोंकी वृत्तियोंसे सम्बन्ध ही नहीं रहता । अतः वृत्तिके अनुसार

* पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करना द्रव्य और श्रमसाध्य है, सत्त्वगुण-प्रधान वृत्तियोंका अर्जन उतना कठिन नहीं, फिर भी सत्त्वगुणकी वृद्धिमें शरीर छोड़नेवाले जीव पुण्यात्माओंके प्राप्तव्य उच्च लोकोंमें जाते हैं । इसका तात्पर्य—गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली वृत्ति कर्मकी अपेक्षा निर्बल नहीं है—ऐसा समझना चाहिये । सात्त्विकवृत्ति भी पुण्यकर्मोंके समान ही श्रेष्ठ है ।

गति न होनेसे उसके लिये फलाफलकी कोई बात ही नहीं उठ सकती ।

तदा—उस कालमें

तु—तो (वे)

उत्तमविदाम् अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते—उत्तम-वेत्ताओके निर्मल लोकोको प्राप्त होते हैं ।

वास्तवमें भगवान्‌के सम्मुख और ससारसे विमुख होनेवाला ही उत्तम वेत्ता है, पर यहाँ श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंमें वर्णित कर्म और उपासना करनेवाले पुण्यात्माओको भी 'उत्तमवित्' कहा गया है । ऐसे कर्म तथा उपासनावाले प्राणियोको तो उच्चलोकोमें जानेका अधिकार प्राप्त है ही, किंतु जो स्वाभाविक रूपसे जीवनपर्यन्त रजोगुण अथवा तमोगुणमें स्थित रहा हो, वह भी मरणकालमें सत्त्वगुणकी वृद्धि अर्थात् सत्सङ्ग, महापुरुषोकी कृपा, तीर्थस्थल और शुद्ध वातावरणके प्रभावसे (जो इस जन्म अथवा पूर्व-जन्मके अच्छे सस्कारोंके उदय होनेसे मिलते हैं) उत्तम वेत्ताओके लोकोको प्राप्त हो जाता है । इस दृष्टिसे शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंमें भी भावका महत्त्व ही अधिक है, पुण्यकर्मविशेषका नहीं । इसलिये सात्त्विक भावका स्थान बहुत ऊँचा है । पदार्थ, क्रिया, भाव और उद्देश्य—ये चारो क्रमशः एक दूसरेसे ऊँचे होते हैं । रजोगुण और तमोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुणका वृत्ति मूक्ष्म और व्यापक होती है । लोकमें भी स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मका आहार कम होता है, जैसे देवता सूक्ष्म होनेसे केवल सुगन्धिसे ही तृप्त हो जाते हैं । हाँ, स्थूलकी अपेक्षा

सूक्ष्ममें शक्ति अवश्य अधिक होती है । यही कारण है कि सूक्ष्म-भावकी प्रधानतासे अन्त समयमें सत्त्वगुणकी वृद्धि मनुष्यको उच्च पुण्यवानोके लोकोमें ले जाती है ।

रजसि प्रलयं गत्वा, कर्मसङ्गिषु जायते—रजोगुणके बढनेपर (जो) प्राणोका त्याग करता है, वह (कर्माधिकारी) मनुष्योंमें जन्म लेता है ।

रजोगुणकी तात्कालिक वृद्धि होनेपर प्राणोंको त्यागनेवाले मनुष्योको (चाहे वे तामसी स्वभाववाले अथवा-सात्त्विक स्वभाववाले ही क्यों न हो) रजोगुणके प्रभावसे मनुष्यलोककी ही प्राप्ति होती है, (जैसे कि सत्त्वगुणकी वृद्धिसे उच्चलोकोकी प्राप्ति बतलायी गयी है) ।

मनुष्यलोकमें मनुष्योको सब प्रकारके शुभकर्म करनेका अधिकार है । मनुष्य-योनि ही कर्मयोनि है । अन्य योनियोंमें तो केवल प्रारब्धानुसार फलभोग ही होता है । अतः वे भोगयोनियाँ हैं ।

मनुष्ययोनि 'कर्मसङ्गी' तो है, परंतु वास्तवमें साधनयोनि ही है—सत्सङ्ग, स्वाध्याय, सात्त्विक कर्म, जपादि करनेवाले साधक कर्मफलासक्ति, कामनाके मिटनेसे परमात्माकी प्राप्तिके पात्र हो जाते हैं ।

अहता, ममतापूर्वक किये हुए कर्म मनुष्यको बाँधनेवाले होते हैं । कामनापूर्वक देवादिकी उपासनाद्वारा मनुष्य स्वर्गादिके श्रेष्ठ भोग प्राप्त कर सकता है । कर्म करनेका अधिकार बहुत ऊँचा और व्यापक (इष्ट, अनिष्ट, मिश्र—तीन प्रकारका) है तथा कर्मोंद्वारा

ही फल प्राप्त किया जा सकता है। 'कर्मसङ्गी' पद इसी भावको व्यक्त करता है।

तथा—तथा (और)

तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते—तमोगुणके बढनेपर प्राणोंका त्याग करनेवाला मूढयोनियोमें उत्पन्न होता है। तमोगुणकी तात्कालिक वृद्धिमें प्राण त्यागनेवाले सात्विक अथवा राजसी पुरुषोको भी मूढयोनियाँ प्राप्त होती हैं। ये योनियाँ दुःखप्रद होती हैं।

विशेष बात—सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंकी तात्कालिक वृद्धिके समय मरनेवाले प्राणी क्रमशः उत्तम तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके लोको, मनुष्ययोनि एवं मूढयोनियोको प्राप्त होते हैं और इन गुणोंमें स्वभावतः स्थित मनुष्योंको मृत्युके पश्चात् ऊर्ध्व, मध्य और अधोगति निश्चित रूपसे प्राप्त होती है (गीता १४ । १८) स्वाभाविकरूपसे तमोगुणमें स्थित मनुष्योंकी गतिके विषयमें 'अथो गच्छन्ति' कहा गया है, जब कि तमोगुणकी तात्कालिक वृद्धिमें मरनेवालोंके लिये 'मूढयोनिषु जायते' कहा है। तमोगुणी मनुष्योंके विषयमें उपर्युक्त दो प्रकारकी गतियोंके विधानमें विशेष तात्पर्य है। ऐसे मूढयोनि और अधोगतिको प्राप्त होनेवाले दोनों प्रकारके ही प्राणियोंके नरकोमें जानेकी आशङ्का रहती है।

नरक दो प्रकारके हैं—(१) योनिविशेष नरक 'आसुरीष्वेव योनिषु' (गीता १६ । २०) और (२) स्थानविशेष नरक—'पतन्ति नरकेऽशुचौ' (गीता १६ । १६)। योनिविशेष नरकमें उतना दुःख-संताप नहीं मिलता, जितना

स्थानविशेष नरकमें मिलता है । मूढयोनिवाले प्राणी स्थानविशेष नरक—कुम्भीपाक, रौरवादिमें—(जिन नरकोका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत, पञ्चम स्कन्धके छव्वीसवे अध्यायमें हुआ है) नहीं ले जाये जाने, किंतु सत्त्वगुणमें स्वभावतः स्थित होने एवं केवल मरणकालमें तमोगुणकी तात्कालिक वृद्धिके हो जानेसे मूढयोनिमें जन्म तो प्राप्त करते हैं, पर उनमें पूर्वजन्मका विवेक बराबर बना रहता है; जैसे भरत मुनिको बना रहा (श्रीमद्भा० ५।८।९) ।

गति गुणोंके अनुसार होती है अथवा कर्मके अनुसार ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि—भावी जन्म अन्त समयके प्रभावक गुणोंके अनुसार होता है (गीता १४।१४, १५।१८) और भावी जन्ममें होनेवाली सुख-दुःखकी परिस्थितियाँ कर्मके अनुसार आती हैं । इस बातका पुष्ट प्रमाण कई बार प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मूढयोनियोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको भी अनेक बार ऐसे सुख भोगनेकी सामग्री, साधन मिलते हैं, जो सामान्य मनुष्योंके लिये दुर्लभ होते हैं । पर यह भी ध्यान देनेकी बात है कि प्रायः अन्तसमयकी वृत्ति पूर्वजन्म और वर्तमान जन्मके कर्मके अनुसार एवं तात्कालिक सङ्गके अनुसार होती है ।

[विशेष—इस प्रकरणमें एक बात यह भी विचारणीय है कि सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी तात्कालिक वृद्धिमें प्राण त्यागनेवालोंकी गतियोंका वर्णन करनेमें भगवान्‌का ऐसा संकेत भी है कि परिवारमें अर्थात् जहाँ आप रहते हों, वहाँ किसी भी मरणासन्न प्राणीके पास सत्त्वगुणी और भगवत्सम्बन्धी वायुमण्डल

वनानेका हर सम्भव प्रयास करना चाहिये । जैसे गीता, रामायणादिका पाठ, भगवन्नाम-कीर्तनादि करने-कराने चाहिये, जिससे मरणासन्न प्राणीको भगवत्स्मृति बनी रहे । यह उस प्राणीकी अन्तिम और परम सेवा है* ।]

* यहाँ परमश्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित 'तत्त्व-चिन्तामणि' प्रथम भागमें 'मृत्यु-समयके उपचार' लेखसे कुछ प्रधान-प्रधान बातें सर्वसाधारणकी जानकारी-हेतु दी जा रही हैं । प्रायः इन बातोंको हम भूलते जा रहे हैं । (पूरा लेख उसी पुस्तकमें पढ़ना चाहिये ।)

(१) इस अवस्थामें गङ्गाजल और भगवान्को चढ़ा हुआ तुलसीदल देना अति उत्तम है, परन्तु उसे निगलनेमें क्लेश होता हो तो तुलसीका पत्ता पीसकर गङ्गाजलमें मिलाकर पिला देना चाहिये ।

(२) रोगीके पास बैठकर घरका रोना नहीं रोना चाहिये और ससारकी बातें उसे याद नहीं दिलानी चाहिये ।

(३) डाक्टरों या जिसमें अपवित्र पदार्थोंका सयोग हो, ऐसी दवा न दें ।

(४) यदि रोगी भगवान्के साकार या निराकार किसी रूपका प्रेमी हो तो साकारवाले भक्तको भगवान्की छवि या मूर्ति दिखानी चाहिये और उसके रूप-लीला तथा प्रभावका वर्णन सुनाना चाहिये ।

(५) प्राण निकलनेके बाद भी कम-से-कम पंद्रह-बीस मिनटतक किसीको खबर न दें, क्योंकि प्रायः कई बार ऐसा भी होता है कि नाड़ी और हृदय-गति बंद हो जानेपर भी शरीरमें प्राण रहते हैं, अतः भगवन्नाम-कीर्तन करते रहे, जिससे वहाँका वायुमण्डल सात्त्विक बना रहे । रोनेका हल्ला न हो, क्योंकि उस समयका रोना प्राणीके लिये अच्छा नहीं है ।

(६) शोक-चिह्न बारह दिनसे अधिक नहीं रखना चाहिये । (१२ दिनोंमें एव उसके बाद सत्सङ्ग, कथा-कीर्तन, मन्दिर, तीर्थ आदि धार्मिक जगहोंपर जानेमें सकोच-लज्जा त्रिभुल नहीं करनी चाहिये । घरवालोंको

जो मनुष्य एकमात्र अपने कल्याणके उद्देश्यसे ही दूसरोंकी सेवा, भगवद्भजन, ध्यान, ईश्वर-चिन्तन और परमार्थ-विचार आदि करता है, उसकी मृत्यु चाहे किसी भी गुणकी वृद्धिके समयमें क्यों न हो, उसकी दुर्गति हो नहीं सकती (गीता ६ । ४०) ।

सम्बन्ध—

कर्मोंकी विभिन्नतामें मुख्य कारण 'गुणोंकी वृत्तियाँ हैं' । वृत्तियाँ जैसी होंगी, वैसे ही कर्म होंगे । पिछले श्लोकोंमें यह वर्णन किया गया कि गुणोंके अनुसार ही जीवकी गति होती है, किंतु साधारण लोगोंकी यह मान्यता है कि गति और फलभोग कर्मानुसार ही होते हैं । अतः अब श्रीभगवान् सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके कर्मोंका फल बतलाते हैं । तात्पर्य यह है कि गुणोंका वृत्तियोंसे और वृत्तियोंका कर्मोंसे परस्पर सम्बन्ध है ।

चाहिये कि विधवा माता, बहन, भौजाईको अपने साथ सत्सङ्गमें ले जायें ।)

(७) मृतकके लिये शोक-सभा न कर अपनी सावधानीके लिये सभा करनी चाहिये । यह बात याद करनी चाहिये कि इसी प्रकार एक दिन हमारी भी मृत्यु होगी ।

(८) जीवन्मुक्त पुरुषकी मृत्युपर शोक न करे, ऐसा करना उनका अपमान करना है । (वस्तुतः शोक तो किसीकी भी मृत्युपर नहीं करना चाहिये ।)

(९) यदि मृतक व्यक्तिकी ज्यादा याद आती हो तो उसके निमित्त भगवन्नाम-जप, गीता-पाठ आदि करें और उस व्यक्तिको भगवान्के चरणोंमें बैठा देखें । समय-समयपर गरीब लोगोंके छोटे बच्चोंको मिठाई, कपड़े, खिलौने देने चाहिये, जिससे मृतक प्राणीकी याद आना बंद हो सकता है और इससे मृतक प्राणीको भी शान्ति मिलेगी ।

श्लोक—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

भावार्थ—

(महर्षियोने) श्रेष्ठ कर्मका सात्त्विक (सुख और ज्ञानादि) निर्मल फल कहा है । राजस-कर्मका फल दुःख, अशान्ति और असतोष तथा तामस-कर्मका फल अज्ञान और मूढ़ता कहा है ।

वर्तमान जीवनमें कर्मोंके अनुसार स्फुरणा, प्रेरणा होती है और पूर्वजन्मके कर्मोंके फलरूप घटनाएँ अथवा परिस्थितियाँ आती हैं । उपर्युक्त श्लोकमें वर्णित 'फल'में मरणोपरान्त सत्त्व, रज, तम-गुणप्रधान कर्मोंसे मिलनेवाले फलके साथ ही पूर्वजन्मोंके कर्मोंका फल भी सम्मिलित मानना चाहिये ।

अन्वय—

सुकृतस्य, कर्मणः, तु, सात्त्विकम्, निर्मलम्, फलम्, आहुः, रजसः, फलम्, दुःखम्, (आहुः,) तमसः, फलम्, अज्ञानम्, (आहुः) ॥ १६ ॥

पद-व्याख्या—

सुकृतस्य कर्मणः तु, सात्त्विकम् निर्मलम् फलम् आहुः— महर्षियोने श्रेष्ठ-कर्मका तो सात्त्विक निर्मल फल कहा है ।

श्रेष्ठ (सात्त्विक) कर्मोंके* संस्कारोंसे जीवितावस्थामें अन्तः-करणमें सुख, ज्ञानादिके भाव एव स्वच्छता, निर्मलताका उत्पन्न होना तथा मरणोपरान्त उच्च और निर्मल लोकोकी प्राप्ति होती है, ये ही उन कर्मोंके सात्त्विक और निर्मल फल हैं ।

* सात्त्विक कर्मोंका विवेचन गीता १८ । २३वें श्लोकमें इस प्रकारसे हुआ है—

ध्यान देने योग्य बात यह है कि पहले भाव बनता है, फिर क्रिया होती है, उसके बाद कर्मोंके अनुसार भाव दृढ़ होता है । 'आहुः'का तात्पर्य सामान्यतः ऐसी प्रसिद्धिसे भी है । जन्म होता है—अन्तकालकी स्मृतिसे ('यं यं वापि स्मरन्' ८ । ६) और स्मृति होती है भावसे; फिर जन्म होनेपर कर्मोंके अनुसार फलकी परिस्थिति मिलती है; जैसे—अन्तकालकी स्मृतिसे कोई कुत्तेकी योनिमें चला जाय तो वहाँ भी उसे सुख-सुविधा साधारण मनुष्यसे भी अच्छी मिल सकती है, दूसरी ओर मनुष्य होनेपर भी हो सकता है कि रोटी भी न मिले, अपितु मार पड़े ।

रजसः फलम् दुःखम् (आहुः)—राजस-कर्मका फल दुःख कहा गया है ।

नियतसङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते ॥

अर्थात्—'जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ हो और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो, वह सात्त्विक-कर्म कहा जाता है ।'

१. क्वचित् पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः ।

देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुण भवः ॥

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृह गृहम् ।

चरन् विन्दति यद्विष्ट दण्डमोदनमेव वा ॥

(श्रीमद्भा० ४ । २९ । २९-३०)

इस प्रकार अपने कर्म और गुणोंके अनुसार देव, मनुष्य अथवा पशु-पक्षि-योनियोंमें जन्म लेकर वह अज्ञानान्ध जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री और कभी नपुंसक होता है । जिस प्रकार बेचारा भूखसे व्याकुल कुत्ता दर-दर भटकता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कहीं डडा खाता है और कहीं भात, वैसे ही जीवात्मा भी अपने प्रारब्धानुसार फल पाता है ।

२. राजस-कर्मका लक्षण—

राजस-कर्मोंकी सम्पन्नतामे शारीरिक सुखभोगकी इच्छाके कारण अधिक परिश्रमके रूपमें दुःख होता है, इतनी ही बात नहीं है, अपितु राजस-कर्मका फल भी दुःखका हेतु बनता है । राजस-कर्मोंके संस्कारानुसार जीवित अवस्थामें भी मनुष्योंके अन्तःकरणमें प्राणियो, पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्ति रहनेसे बार-बार भोग, काम, क्रोध और लोभकी प्रवृत्तियाँ अर्थात् राजसभाव उत्पन्न होते रहते हैं, जिनसे मनमें क्षोभ होता है और परिणामतः संताप, अशान्ति तथा दुःखोकी अनुभूति होती है । राजस-कर्मोंके संस्कारों एवं उनके वशीभूत होकर किये गये कर्मोंके अनुसार फल भोगनेके लिये बारंबार जन्म-मरण—‘पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्’ होता रहता है । यह महान् दुःख है । वास्तवमें तो सुखका भ्रममात्र है, वस्तुतः सब दुःखरूप ही है—‘दुःखमेव सर्वं विवेकिनः’ । (पातञ्जलयोगदर्शन २ । १५) दादकी खुजली और जलन दोनों बीमारीके ही रूप हैं । अतः दुःखोका कारण महापापी रजोगुण ही है ।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

(गीता १८ । २४)

जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ।

१. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

गुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला

तमसः फलम् अज्ञानम् (आहुः)—तामस-कर्मका फल अज्ञान कहा है ।

पूर्वकृत तामसकर्मोंके संस्कारोंसे वर्तमान जीवनमें मूढ़ता होती है और इस मूढ़तासे किये गये कर्मोंका फल पापोंके रूपमें संचित होता है । मनुष्य-शरीर छूटनेके बाद स्थान-विशेष नरक (कुम्भीपाक आदि) एवं योनि-विशेष नरक (शूकर-कूकर, साँप-विच्छू आदि योनियो)की प्राप्ति होती है ।

कर्म मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं शुभ और अशुभ । ये दोनों ही कर्म फल और संस्कार देनेवाले होते हैं । संस्कारोंसे कार्य करनेकी योग्यता आती है और स्फुरणा भी होती है । फलसे भावी परिस्थिति अथवा घटनाका निर्माण होता है । संस्कार और (कर्म-) फल दोनों ही अपनी-अपनी जगह पृथक्-पृथक् महत्त्व रखते हैं । दोनोंमें अन्तर यही है कि संस्कार तो सत्सङ्ग, शास्त्रोंके स्वाध्याय और विचार आदिसे बदले जा सकते हैं, किंतु फल प्रारब्ध बनकर 'सुख-दुःख'की परिस्थिति पैदा कर ही देते हैं । साधकों

अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको तू इस विषयमें बैरी जान ।'

१. तामस-कर्मके लक्षण—

अनुबन्ध क्षय हिंसा मनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत्तामसमुच्यते ॥

(गीता १८ । २५)

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचाकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है—वह तामस कहा जाता है ।'

विशेष ध्यान देना चाहिये कि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ तो प्रारब्धानुसार आयेंगी ही, परंतु उन परिस्थितियोसे सुखी-दुःखी होनेमें केवल अज्ञान ही कारण है; क्योंकि सभी कर्म बाह्य (व्यक्ति, पदार्थ, देश, कालादिके) सघटनसे होते हैं; अतः ये कर्म बाह्य परिस्थिति ही बना सकते हैं । आपमें हलचल कर दें, यह प्रारब्धके हाथकी बात नहीं है । अतः अनुकूल और प्रतिकूल दोनो परिस्थितियोका सदुपयोग कर सुख-दुःखसे ऊपर उठना साधकका काम है । अपने उद्धार (कल्याण)की उत्कट जिज्ञासा होनेपर प्रारब्ध-कर्म बाधा डाल ही नहीं सकते; क्योंकि मनुष्य-जन्म इसी कार्य (आत्म-कल्याण) के लिये मिला है ।

प्रारब्ध एवं संचितके पुराने संस्कार होते हैं और क्रियमाणके (इस जन्मके) नये संस्कार होते हैं । फल तो मुख्यतः प्रारब्धानुसार ही होता है । वर्तमानमें जो क्रियमाण-कर्म कर रहे हैं, उनका (अर्थात् सकामभावसे किये गये शुभ कर्मानुष्ठानका शुभ फल और उग्र पाप—अन्यायका अशुभ कर्मफल प्रारब्ध बनकर उसके अनुसार) इस जन्ममें भी फल मिल सकता है । अधिकांश क्रियमाण-कर्म जन्म-जन्मान्तरोके कर्मोंके पुञ्ज (संचित)में जुड़ जाते हैं, जिनका फल प्रारब्ध बनकर भावी जन्म मिलनेपर भोगना पड़ता है । मनुष्य-शरीरमें भी यह फल भोगे जाते हैं, किंतु मनुष्यमें परमात्माने कृपाकर यह एक विशेषता दी है कि वह चाहे तो अपने प्रारब्धका सदुपयोग करके अर्थात् प्रारब्धको साधन-सामग्री बनाकर मुक्त हो सकता है । जैसे प्रारब्ध-कर्मसे दुःखकी परिस्थिति आनेपर—‘मुझे सुख कैसे मिले’—इस इच्छाका त्याग करना चाहिये और सोचना चाहिये कि

दुःखसे पाप नष्ट होकर शुद्धता हो रही है तथा पुनः ऐसा पाप नहीं करना है—यह चेतानेके लिये ही दुःखकी परिस्थिति आयी है। अनुकूल परिस्थितिमें सुख-भोग न करके निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये, जिससे दुःख-सुखसे मुक्त हो सकते हैं। कर्मके अनुसार गुण अर्थात् भाव होता है और जैसा गुण होता है, वैसी ही वृत्ति तथा वृत्तिके अनुसार कर्म बनता है। इसलिये ये (गुण-कर्म) एक-दूसरेपर आश्रित हैं।

कर्म करनेकी स्फुरणा संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध—तीनों प्रकारके कर्मोंसे होती है। संचित और क्रियमाण-कर्मोंसे होनेवाली स्फुरणाएँ आती और चली जाती हैं। ऐसी स्फुरणाएँ प्रायः कर्ममें प्रवृत्त नहीं करतीं एवं फल भी उत्पन्न नहीं करतीं। हाँ, कहीं-कहीं सङ्ग, विचार, परिस्थिति आदि स्फुरणाके अनुकूल होनेसे प्रवृत्ति भी हो सकती है। प्रारब्ध-कर्मसे होनेवाली स्फुरणाएँ बार-बार आती ही रहती हैं और वे मनुष्यको फल भोगनेके लिये बाध्य करती हैं। मनुष्य उसके अनुसार कर्म करे, तो उसे प्रारब्धके अनुसार फल मिलना है। जबतक मनुष्य कर्म नहीं करता तथा उसे प्रारब्धका फल (अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें) नहीं मिल जाता, तबतक वे स्फुरणाएँ समाप्त नहीं होतीं।

विशेष बात—भगवान् परमकृपालु हैं। वे जीवका कल्याण चाहते हैं। अतः उन्होने इस प्रकरणमें गुणोंके साथ गुणजन्य कर्मोंके फलोंका यथातथ्य विवेचन किया है। भगवान् यही बतलाना चाहते हैं कि मूलमें जीवकी भूल कहीं हुई है, इस तरफ वह ध्यान दे तो

प्रसन्नता, प्रकाश, प्रीति, निर्मलता, उत्साह और धैर्य आदिका होना भी मानना चाहिये ।

च—और

रजसः एव लोभः—रजोगुणसे नि.संदेह लोभ उत्पन्न होता है ।

रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाले 'लोभ'से भी उस (रजोगुण) की सभी वृत्तियोंका होना मान लेना चाहिये । जैसे—आसक्ति, कामना, तृष्णा, ममता, स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति, अशान्ति, स्पृहा, सांसारिक सग्रह और भोगमें लिप्सा आदि । रजोगुणकी इन वृत्तियोंमें प्रधानतः लोभ-वृत्तिका संकेत करनेका यह तात्पर्य है कि मनुष्यका व्यक्ति-पदार्थादिकी तरफ जो आकर्षण होता है, वह रजोगुणका ही मुख्य कार्य है; क्योंकि 'रजो रागात्मकं विद्धि' रजको रागरूप कहा गया है ।

च—तथा

तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानम् एव—तमोगुणसे प्रमाद और मोह (उत्पन्न) होते हैं (और) अज्ञान भी (होता) है ।

अज्ञानसे बुद्धिमें जडता आती है, जिससे प्रमाद, आलस्य, निद्रा, भ्रम, विपरीत निश्चय, शरीरको ही अपना स्वरूप मानना, अकरणीय कार्योंको करना और कर्तव्य कर्मोंका न करना आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।

सम्बन्ध—

(इसी अध्यायके) पाँचवें श्लोकसे सत्रहवें श्लोकतक जिन गुणोंका विस्तृत विवेचन किया गया, उन्हीं गुणोंमें प्रधान रूपसे

स्थित पुरुषोंकी गतिका वर्णन कर आगे अठारहवें श्लोकमें गुणोंके विषयका उपसंहार करते हैं—

श्लोक—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

धन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

भावार्थ—

गुणोंकी तात्कालिक वृद्धिमें मरनेवाले पुरुषोंकी गतिका वर्णन इसी अध्यायके चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकोंमें किया जा चुका है, जिन पुरुषोंकी सत्त्वादि गुणोंमें प्रधान स्थिति है, मरणोपरान्त उनकी गतिका निरूपण इस प्रकार किया गया है ।

सत्त्वगुणकी वृत्तियोंमें स्थित पुरुष ऊर्ध्वलोकोको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित पुरुष मरनेके बाद मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणकी (प्रमाद, मोह, अज्ञानादि) वृत्तियोंमें प्रधानतः स्थित पुरुष (तमोगुणी) पशु, पक्षी आदि मूढयोनियो और नरकोको प्राप्त होते हैं ।

अन्वय—

सत्त्वस्थाः, ऊर्ध्वम्, गच्छन्ति, राजसाः, मध्ये, तिष्ठन्ति, धन्यगुण-वृत्तिस्थाः, तामसाः, अधः, गच्छन्ति ॥ १८ ॥

पद-व्याख्या—

सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वम् गच्छन्ति—सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष ऊर्ध्व-लोकोको जाते हैं । ऊर्ध्वगतिके दो भेद हैं ।^१ जिन सत्त्वगुणी पुरुषोंमें

१. ऊर्ध्वलोकोमें जानेवालोंकी गतियोंका वर्णन गीतामें दो प्रकारसे हुआ है—प्रथम जो सर्वथा सत्त्वगुणमें स्थित रहते हैं, वे ऊर्ध्वलोकोसे वापस लौटकर नहीं आते । ऐसे पुरुषोंके विषयमें कहा है कि 'य प्राप्य

रहनेके पश्चात् ब्रह्माजीके साथ ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं । ऐसे महापुरुष लौटकर नहीं आते—‘न निवर्तन्ते’ । (२) भोगोकी इच्छावाले, जो ब्रह्मलोकके सुख-भोगकर वापस मृत्युलोकमें आ जाते हैं (८ । १६) । यही कारण है कि सकाम कर्मके फलस्वरूप वे बार-बार जनमते-मरते हैं ।

जो साधक परम तत्त्वके लिये साधन कर रहा है, वह यदि साधन-कालमें ही योगसे विचलित होकर प्राण छोड़ता है तो सुखेच्छा रहनेके कारण स्वर्गादि पुण्यलोकोमें जाकर पुनः अधूरा योग पूरा करनेके लिये लौट आता है (६ । ४१) यद्यपि सकाम कर्म करनेवाले तथा योगभ्रष्ट साधक—इन दोनोंका ऊर्ध्वलोक मार्ग एक ही है, फिर भी योगभ्रष्टका उद्देश्य तत्त्वकी प्राप्ति होनेसे सकाम पुरुषोसे वह कितना ही श्रेष्ठ है ।

राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति—(सत्त्वगुणमिश्रित) रजोगुणमें स्थित राजसपुरुष मध्यलोकमें (ही) रहते हैं ।

रजोगुणी पुरुष वे हैं, जो पाप करना नहीं चाहते और व्यर्थ आचरण भी नहीं करते; किंतु आसक्तिके रहनेसे जिनकी पाप एवं व्यर्थ आचरणोंमें लग जानेकी आशङ्का रहती है । मध्यलोकमें आसक्ति, कामनाके कारण पाप, पुण्य दोनों बनते रहते हैं; अतः दुःख-सुख दोनों भोगने पड़ते हैं । केवल कामनापूर्वक शुभ-कर्ममें ही लगे रहते हैं अर्थात् सकामभावसे शास्त्रीय कर्म करते हैं, उनके मनमें भी संग्रह करने और सुख भोगनेके भाव रहते हैं । इसलिये शास्त्रीय सकाम अनुष्ठान करनेवालोंकी भी राजसी वृत्ति बनी रहती है । ऐसी राजसी वृत्तिवाले पुरुष मरनेके बाद पुनः मध्यलोक

(मनुष्यलोक) मे आते है । सकामकर्मी (सत्त्वगुणमिश्रित रजोगुणी) एव योगभ्रष्ट साधक (रजोमिश्रित सत्त्वगुणी) भी स्वर्गादिसे लौटकर पुन मनुष्यलोकमे आते है, जिनका वर्णन पहले हो चुका है ।

जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति—तमोगुणके कार्य—प्रमाद आदिमें स्थित (रजोगुणमिश्रित) तमोगुणी पुरुष अवोगतिको प्राप्त होते है ।

प्रमाद, आलस्य, मूढता, जडता, अविवेक, अप्रवृत्ति आदि निन्दनीय वृत्तियोमे स्थित एव शरीर और धन-सम्पत्ति ही सब कुछ है, ऐसे निश्चयवाले पुरुष (रजोगुणमिश्रित) तमोगुणी कहलाते है । इन तमोगुणी वृत्तिवालोको अवोगतिमें जाना पडता है ।

ऊर्ध्वगतिकी तरह अवोगतिके भी दो भेद हैं* । एक योनिविशेष नरकमे जन्म होना—जैसे शूकर, कूकर आदि और दूसरा स्थान-विशेष (रौरवादि) नरकमे जाना—जहाँ भोगायतन शरीरसे पापोंका फल भोगाया जाता है । [रौरव, कुम्भीपाक आदि स्थानविशेष नरकोंका श्रीमद्भागवतके पाँचवें स्कन्धके छत्तीसवें अध्यायमे विस्तृत वर्णन हुआ है ।]

विशेष वात—गुणोंके सङ्गके अनुसार ही गति होती है, अर्थात् मरणकालमे जिस गुणमे स्थिति होती है, उसीकी वृत्तिके

* ऊर्ध्वगतिके दो, मध्यगतिका एक और अवोगतिके दो भेद हुए । इस प्रकार कुल पाँच प्रकारकी गतियोंका वर्णन हुआ है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामे दो विषयोंका विशेष रूप और विस्तारसे विचार किया गया है । एक तो साधन (निर्गुण, सगुणादि उपासना)का और दूसरा जीवोंकी अन्तकालमे क्या दशा होती है उस गतिका ।

अनुसार पुरुषकी गति (ऊँच, नीच, मध्य योनियोमें) होती है । कर्मके अनुसार गति कहनेका तात्पर्य है—गुणोंके अनुसार गति का होना; क्योंकि गुणोंकी वृत्तियोंके अनुसार ही कर्म होते हैं । अन्त समयकी स्मृतिके अनुसार गति होनेका भी वही तात्पर्य है—गुणोंके अनुसार गति । गुणोंकी वृत्तियोंके अनुसार जैसा सहायक—निमित्त* मिलता है, वैसी स्मृति बन जाती है । अतः तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें गुणोंके सङ्गसे जो गति बतलायी है, वही गति चौदहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें कर्मके फलस्वरूप बतलायी गयी है और उसी गतिके विषयमें आठवें अध्यायके छठे श्लोकमें भी अन्त समयकी स्मृतिके अनुसार फल कहा गया है । उपर्युक्त तीनों श्लोकोंका तात्पर्य गुणोंके अनुसार गति बतलानेमें ही है ।

भावोजन्म होनेमें अन्त समयका चिन्तन प्रधान कारण होता है (गीता ८ । ६) । अतः भगवान् ने—‘सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर’—नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण कर, ऐसी आज्ञा दी है (गीता ८ । ७) । जीवनका कौन-सा अन्तिम क्षण होगा, यह क्या पता ? इसलिये

* आगमोऽयः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।

व्यान मन्त्रोऽयं सस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १३ । ४)

शास्त्र, जल, जनता, देश, काल, कर्म, योनि, चिन्तन, मन्त्र और सस्कार—ये दस गुणोंके हेतु हैं अर्थात् गुणोंको बढ़ानेवाले हैं । अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थ और व्यक्तिविशेष जिस गुणसे युक्त होते हैं, उनका सङ्ग उसी गुणको बढ़ा देता है । अतः उपर्युक्त रजोगुणी-तमोगुणी शास्त्रादिका मेव नही करना है यह सावधानी रहनी चाहिये ।

प्रतिक्षण प्रभुका स्मरण-चिन्तन होना चाहिये । अब परमात्मासे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध (निरन्तर) मान लेनेपर कल्याण होनेमे कोई संदेह नहीं रहना । स्वयं भगवान्ने श्रीमुखसे कहा है—

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(गीता ८ । १६)

कुन्तीपुत्र । मुझको प्राप्त कर लेनेपर (साधकका) पुनर्जन्म नहीं होता ।

सम्बन्ध—

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्ने ‘पर भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्’ पदोंसे जिस सर्वश्रेष्ठ ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उस ज्ञानकी भूमिकामें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक प्रकृतिके कार्य गुणोंका परिचय देकर अब अगले दो (उन्नीसवें और बीसवें) श्लोकोंमें स्वयंको तीनों गुणोंसे अतीत अनुभव करनेरूप ज्ञानका वर्णन करते हैं ।

इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि तीनों गुण ही ‘अविनाशी देहीको बाँधते हैं । इन गुणोंके बन्धनसे छूटनेपर ही जीवका कल्याण हो जाता है ।’ अतः उन्नीस और बीस—दो श्लोकोंमें भगवान् गुणातीत होनेके उपाय और उसके फलस्वरूप अमरताकी प्राप्ति का कथन करते हैं ।

श्लोक—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

भावार्थ—

जिस समय विवेकी पुरुष तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् परमात्माके प्रकाश-ज्ञानसे ही सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ प्रकाशित हो रही हैं, गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं या सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंमें हो रही हैं, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं—इस प्रकार अपने आपको तीनों गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त जानता है तथा तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दधनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है. उस समय वह अर्थात् समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साधक पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।

अन्वय—

यदा, द्रष्टा, गुणेश्च, अन्यम्, कर्तारम्, न, अनुपश्यति, च, गुणेश्च, परम्, वेत्ति, सः, मद्भावम्, अधिगच्छति ॥ १९ ॥

पद-व्याख्या—

यदा—जिस समय ।

उस समय—जब कि साधक मनुष्य सावधानी-अवस्थामें शरीरके साथ अपने माने हुए, सम्बन्धको अर्थात् अपने और शरीरके वास्तविक भेदको समझकर उन्हें पृथक्-पृथक् देखता है ।

द्रष्टा—विवेकी (विचारवान्) पुरुष ।

मनुष्य स्वभावतः शरीरको ही 'मैं' मानकर कर्मेन्द्रियोंकी प्रधानतासे अपनेको कर्ता और ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानतासे भोक्ता मानता रहता है, परंतु वही जब विवेकपूर्वक पारमार्थिक मार्गमें अग्रसर होता है, तब उसे यह अनुभूति होती है कि मैं शरीर नहीं हूँ । अतः

कर्ता, भोक्ता भी मैं कैसे हो सकता हूँ ? वस्तुतः स्वरूपमें स्थित जो पुरुष गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता, उसी द्रष्टाकी ओर इस पदसे संकेत किया गया है ।

गुणेभ्यः अन्यम् कर्तारम् न अनुपश्यति—
तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता ।

सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुण प्रकृतिजन्य होनेसे स्वभावतः न्यूनाविक होते रहते हैं । आकाशादि पञ्चमहाभूत, अहकार, मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच (इन्द्रियोंके) विषय और अन्तःकरणकी सात्त्विकादि वृत्तियाँ (वृत्तियोंका घटना-वढ़ना और विकार उत्पन्न होना भी) ये सब इन्हीं तीनों गुणोंके कार्य हैं ।

देखना, सुनना, खाना, पीना, सोना-जागना, चिन्तन-मनन और व्यवहार आदि स्वाभाविक चेष्टाएँ इन्द्रियो, अन्तःकरण और प्राणादिसे होती हैं । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—इन्द्रियाँ आदि सभी करण तीनों गुणोंके कार्य हैं । अतः सम्पूर्ण क्रियाएँ तीनों गुणोंमें हो रही हैं । पुरुष सर्वथा गुणोंसे असङ्ग और निर्लिप्त है ।

विचारवान् पुरुष जब सम्पूर्ण क्रियाओंको गुणोंके द्वारा गुणोंमें हुई मानता है एवं अपनेको अकर्ता-अभोक्ता देखता है, तब उसका देखना सही अर्थोंमें देखना है । जब उस द्रष्टाकी दृष्टि सामान्य प्रकाशकी सत्तासे ही होनेवाली क्रियाओंकी ओर जाती है (अर्थात् जब वह ऐसा देखता है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्मतत्त्वकी सत्तासे हो रही हैं) तब उसका यह देखना अनुपश्यति है* ।

* 'पश्यति' पद दृश्यकी ओर देखनेसे सम्बन्ध रखता है और

च—और ।

गुणेभ्यः परम् वेत्ति—तीनो गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्द-
घनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वतः अर्थात् गुणोंसे अतीत जानता है ।

यहाँ 'परम्' पदका अर्थ दूर नहीं है, किंतु 'गुणोंके साथ रहते हुए भी जो सर्वथा निर्लिप्त है' यह उसका अर्थ है । अर्थात् अपने द्वारा जोड़े हुए गुणोंके सम्बन्धसे स्वयं अपनेको सर्वथा निर्लिप्त अनुभव करता रहे, यह 'परम्' पद उसी वास्तविकताकी ओर इङ्गित करता है ।

यद्यपि सत्, चित्, आनन्द शब्द परमात्माके बोधक हैं और जीव भी उन्हींका अंश होनेसे उन्हींका स्वरूप है (जीवका वास्तविक सम्बन्ध भी परमात्माके ही साथ है), परंतु इस जीवने भूलसे मोहवश ससारके अंश शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया तथा प्रकृतिजन्य गुणोंके बन्धनसे गुणोंके कार्य शरीरको ही सत् मान लिया । चित्तसे मान्यता कर ली कि सम्पूर्ण ससारको जान जाऊँ और आनन्द पदसे मान लिया कि भोग भोगनेसे सुखी हो जाऊँ । इस प्रकार इसकी चाहना तो है परमात्माकी (अथवा परमात्माके साथ अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचाननेकी) और मूर्खतासे भोगोंमें सुख मानकर उनमें फँस रहा है । जबतक भोगोंकी इच्छा करेगा, तबतक दुःख पाता ही

‘अनुपश्यति’ पद ब्रह्म (सामान्य चेतन) में अभिन्नभावसे स्थितिका बोधक है अर्थात् क्रियाओंको प्रकृतिद्वारा होते हुए देखनेमें ‘पश्यति’ पदका और परमतत्त्वकी सत्तासे क्रियाओंको होते हुए देखनेमें ‘अनुपश्यति’ पदका प्रयोग किया गया है, यह समझना चाहिये ।

रहेगा; * क्योंकि भोग नष्ट होते रहेंगे और इस (स्वय) का नाश नहीं होता । इसलिये भोगोंसे कभी इसकी तृप्ति नहीं होती ।

साधक यदि साहस करके निश्चय कर ले कि अब मुझे तो केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है तो वह महान् सुखी हो जाय; क्योंकि परमात्माकी तरफ चलनेपर भोग तो नाशवान् होनेसे छूट जायेंगे और परमात्मा जो स्वतःसिद्ध, नित्य-प्राप्त है उनका अनुभव हो जानेपर वह प्राप्त-प्राप्त्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और कृत-कृत्य हो जायगा । यही परमात्मतत्त्वको गुणोंसे अतीत जानना है ।

(तदा—उस समय ।)

सः—वह (विचारवान् पुरुष) ।

प्राय मनुष्य बिना विचारे अन्यान्योकी देखादेखी क्रियाएँ करते रहते हैं । ऐसे करनेका क्या परिणाम होगा, इस तरफ बहुत कम लोगोंका ध्यान जाता है । विचारवान् पुरुष कभी निरर्थक—प्रमाद, आलस्यमें समय नहीं खोता ।

मद्भावम् अधिगच्छति—मेरे भाव (स्वरूप) को प्राप्त होता है ।

* दुःखोंसे तभी छूटा जा सकता है कि या तो स्वय (आत्मा) शरीरके साथ ही मर जाय अथवा शरीर ही स्वयके साथ अमर हो जाय, परंतु इन दोनों बातोंमेंसे एक भी बातका पूरा होना सम्भव ही नहीं । कारण कि स्वय चेतन और सत् है एव शरीर जड़ और असत् है । इसलिये दुःखोंसे छूटनेका उपाय यही है कि (स्वय) शरीरसे अपना सम्बन्ध न माने । ऐसा करनेमें यह सर्वथा स्वतन्त्र है ।

भगवद्भाव सभीको नित्य प्राप्त है । जो नित्य स्वतः प्राप्त है, उसीका अनुभव करना है, फिर भी उसकी प्राप्ति का अनुभव नहीं हो रहा है, कारण कि प्राप्त को अप्राप्त मान रखा है । अनेक प्रकारकी मनःकल्पित (जैसे—हम योग्य नहीं, अधिकारी नहीं, समय ही ऐसा है, इतना जल्दी कैसे हो सकता है, आदि) बाधाएँ स्वयं ही लगाकर बन्धित रह जाता है । जो ससार-शरीर अप्राप्त है, वह तो कभी प्राप्त होनेका नहीं, किंतु अप्राप्त को प्राप्त माननेसे जो वास्तवमें नित्य प्राप्त है, उन (परमात्मा) का अनुभव नहीं हो रहा है ।

‘मद्भावम् अधिगच्छति’ पदोंसे भगवान् का यही कहना है कि विचारवान् पुरुष जब ऐसा देखता है कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं और इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तब उसे नित्यप्राप्त परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव हो जाता है; अर्थात् यह स्वयं परमात्माका अंश होनेसे मद्भावको प्राप्त ही है ।

श्लोक—

गुणानेतानतीत्य जीन् देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

भावार्थ—

विचार-कुशल पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप (बुद्धि, अहंकार और मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच इन्द्रियोके विषय—इस प्रकार इन तीनों (२३) तत्वोंका पिण्डरूप यह शरीर प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका ही कार्य है, इसलिये इन तीनों गुणोंको इसकी उत्पत्तिका कारण कहा गया है)

देनेकी बात यह है कि जिस प्रकृतिसे ये गुण उत्पन्न होते हैं, उस प्रकृतिके साथ भी पुरुषका सम्बन्ध नहीं है, फिर गुणोंके साथ तो उसका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है ?

जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः—जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ ।

जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और सब प्रकारके दुःख देह (शरीर)में ही होते हैं । इसलिये भगवान् ने उपर्युक्त पदोंके साथ 'दुःखैः' (बहुवचन) पदका प्रयोग किया है । देहसे तादात्म्य नष्ट होनेपर अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव होनेपर गुणातीत जीवन्मुक्त महापुरुषका (जो वास्तवमें देहसे अलग है) देहमें होनेवाले जरा-मृत्यु आदि सब दुःखोंसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता । अतः उसे यहाँ सब दुःखोंसे सर्वथा मुक्त कहा गया है ।

जरा और मृत्युके साथ जन्मको भी दुःख बतानेका तात्पर्य—मनुष्यको चाहिये कि वह गुणोंसे उत्पन्न देहके साथ अपना सम्बन्ध मानकर जरा, मृत्यु आदि दुःखोंमें न पड़े तथा पुनर्जन्मरूप दुःखके कारण—गुणोंका सङ्ग न करे । इसीलिये कहा गया है—'हेयं दुःखमनागतम्' (योगदर्शन) अर्थात् आगे आनेवाले दुःखका प्रतीकार पहलेसे ही करना चाहिये ।

विशेष बात

श्रीमद्भगवद्गीतामें 'जरामरणमोक्षाय' (७ । २९); 'जन्म-मृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्' (१३ । ८) और यहाँ 'जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः' (१४ । २०) पद आये हैं । इन पदोंपर त्रिहङ्गमदृष्टिसे विचार किया जा रहा है ।

सातवें अध्यायमें 'जरा' और 'मरण' इन दोनोंसे ही मुक्त होनेके लिये कहा गया है, जिसका तात्पर्य ऐसा समझना चाहिये कि मनुष्यका जन्म तो हो ही चुका। अब बुद्धावस्था (जरा) और मरण ही शेष है। बुद्धावस्थामें प्रायः तरह-तरहकी व्याधियाँ हुआ करती हैं, इसलिये 'व्याधियों' 'जरा'के अन्तर्गत लिखा गया है— ऐसा प्रतीत होता है। जब जरा-मरणके दुःखसे मुक्त हो जायगा तब पुनर्जन्मका प्रश्न ही नहीं रहेगा।

तेरहवें अध्यायमें जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधियोंके दुःखरूप दोषके कारणको बार-बार देखनेके लिये कहा गया। यहाँ ज्ञानका प्रकरण होनेसे साधक जब इन चारों (जन्मादि)के दुःखरूप दोषके कारणपर बार-बार गहरा विचार करेगा, तो समस्त दुःखोंके कारणरूप जरीरके साथ माने हुए सन्तानका सर्वथा अभाव हो जायगा। फिर पुनर्जन्म होनेका प्रश्न ही नहीं रहेगा।

यहाँ (चौदहवें अध्यायमें) जन्म, मृत्यु और जरा तथा सब प्रकारके दुःखोंसे विमुक्त होनेपर अमरताकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। व्याधिका दुःख सब प्रकारके दुःखोंके अन्तर्गत आ ही जाता है। जब इन चारों (जन्मादि)के दुःखोंसे छुटकारा पा जानेपर अमरताका अवसर्ग हो जाता है। फिर पुनर्जन्मका प्रश्न ही नहीं रहता।

गीताके उपर्युक्त तीनों चरणोंमें आये हुए इन चारों—जन्म-मृत्यु, जरा और व्याधियोंपर गहरा विचार करके देखा जाय तो पुनर्जन्मका न होना ही मुख्य विषय है। पुनर्जन्म होनेसे अर्थात् जरीर धारण करनेसे ही व्याधि, जरा आदि दुःख आते हैं। आठवें अध्यायके

सातवें अध्यायमें 'जरा' और 'मरण' इन दोनोंसे ही मुक्त होनेके लिये कहा गया है, जिसका तात्पर्य ऐसा समझना चाहिये कि मनुष्यका जन्म तो हो ही चुका। अब वृद्धावस्था (जरा) और मरण ही शेष हैं। वृद्धावस्थामें प्रायः तरह-तरहकी व्याधियाँ हुआ करती हैं, इसलिये 'व्याधि'को 'जरा'के अन्तर्गत लिया गया है—ऐसा प्रतीत होता है। जब जरा-मरणके दुःखोंसे मुक्त हो जायगा तब पुनर्जन्मका प्रश्न ही नहीं रहेगा।

तेरहवें अध्यायमें जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःखरूप दोषके कारणको बार-बार देखनेके लिये कहा गया। यहाँ ज्ञानका प्रकरण होनेसे साधक जब इन चारों (जन्मादि)के दुःखरूप दोषके कारणपर बार-बार गहरा विचार करेगा, तो समस्त दुःखोंके कारणरूप शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा अभाव हो जायगा। फिर पुनर्जन्म होनेका प्रश्न ही नहीं रहेगा।

यहाँ (चौदहवें अध्यायमें) जन्म, मृत्यु और जरा तथा सब प्रकारके दुःखोंसे विमुक्त होनेपर अमरताकी प्राप्ति की बात कही गयी है। व्याधिका दुःख सब प्रकारके दुःखोंके अन्तर्गत आ ही जाता है। अतः इन चारों (जन्मादि)के दुःखोंसे छुटकारा पा जानेपर अमरताका अनुभव हो जाता है। फिर पुनर्जन्मका प्रश्न ही नहीं रहता।

गीताके उपर्युक्त तीनों चरणोंमें आये हुए इन चारों—जन्म-मृत्यु, जरा और व्याधिपर गहरा विचार करके देखा जाय तो पुनर्जन्मका न होना ही मुख्य विषय है। पुनर्जन्म होनेसे अर्थात् शरीर धारण करनेसे ही व्याधि, जरा आदि दुःख आते हैं। आठवें अध्यायके

पद्रहवें श्लोकमें भी 'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः ॥' पदोंसे भगवान् कहते हैं कि मुझे प्राप्त होकर महात्माजन दुःखालय एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ।

वर्तमानमें शरीरके साथ स्वयंकी एकता (तादात्म्य) माननेसे ही पुनर्जन्म होता है और शरीरमें होनेवाले जरा, व्याधि आदिके दुःखोंको प्राणी अपनेमें मान लेता है । शरीर गुणोंके सङ्गसे उत्तम होता है (१३ । २१) । गुणातीत महापुरुष देहके उत्पादक गुणोंसे रहित होनेसे देहमें होनेवाले सभी दुःखोंसे मुक्त हो जाता है । अतएव प्रत्येक मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले गुणातीत हो जाना चाहिये । गुणातीत होनेसे जरा, व्याधि, मृत्यु आदि सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्ति हो जाती है और मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है । फिर उसका पुनर्जन्म होता ही नहीं ।

अमृतम् अश्नुते—(वह) अमृत (अमरता) का अनुभव करता है ।

देहसे तादात्म्य (एकता) माननेसे ही प्राणी अपनेको मरणधर्मा समझता है । देहके सम्बन्धसे होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोंमें सबसे बड़ा दुःख मृत्यु ही माना गया है । पुरुष स्वरूपसे है तो अमर ही, किंतु भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त होनेसे और नाश होनेवाले शरीरको अमर रखनेकी इच्छासे इसे अमरताका अनुभव नहीं होता । विचारकुशल पुरुष देहसे तादात्म्य नष्ट होनेपर अमरताका अनुभव करता है ।

पूर्व श्लोकमें 'मद्भावम् अधिगच्छति' पदोंसे भगवद्भावकी प्राप्ति कही गयी एवं यहाँ 'अमृतमश्नुते' पदोंसे अमरताका अनुभव करनेको कहा गया—वस्तुतः दोनों एक ही बात है। इसी प्रकार कर्मयोगी भी अमरताका अनुभव करता है 'यश्च शिष्टां अमृतं भुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' (गीता ४ । ३१) ।

गुणोंके विषयमें ज्ञातव्य बातें—

भगवान् कहते हैं कि पुरुष (जीव) मेरा ही अंश, अविनाशी है। मेरा अंश होनेसे मेरी (भगवान्की) सहधर्मता (सत्-चित्-आनन्द) की प्राप्तिमें इस (जीव) का पूर्ण अधिकार है। प्रकृतिजन्य गुणोंका सङ्ग करके यह अपनेको पराधीन मानने लगता है। वह अविनाशी तथा मुक्त होता हुआ भी बन्धनमें पड़ जाता है, प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे अपनेमें वृद्धिपनका अनुभव करता है, अपनेको बनी-मानी मानता है और इन पदार्थोंके आने-जानेसे अपना गरिमाकी कसौटी लगाता है। सिक्केका अधिक संग्रह होनेपर और पदार्थोंसे भोग भोगनेपर अपनेमें सुखका अनुभव करता है एवं राजी होता है। इन पदार्थ, योग्यता, अधिकार आदिसे अपनेको बड़ा मानकर और इनके अभावमें छोटापनका अनुभव कर सुखी-दुखी होना, राजी-नाराज होना—यही जीवका गुणोंके द्वारा बंध जाना है। बन्धन तभीतक है, जबतक यह अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपकी तरफ नहीं देखता।

प्रकृतिजन्य गुणोंके साथ तादात्म्य एवं अनेक प्रकारके भावों और क्रियाओंमें तदाकारता तथा उनसे लाभ लेनेकी भावनासे यह

पद्महवे श्लोकमें भी 'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः ॥' पदोंसे भगवान् कहते हैं कि मुझे
प्राप्त होकर महात्माजन दुःखालय एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं
प्राप्त होते ।

वर्तमानमें शरीरके साथ स्वयंकी एकता (तादात्म्य) माननेसे
ही पुनर्जन्म होता है और शरीरमें होनेवाले जरा, व्याधि आदिके
दुःखोंको प्राणी अपनेमें मान लेता है । शरीर गुणोंके सङ्गसे उत्तम
होता है (१३ । २१) । गुणातीत महापुरुष देहके उत्पादक गुणोंसे
रहित होनेसे देहमें होनेवाले सभी दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ।
अतएव प्रत्येक मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले गुणातीत हो जाना
चाहिये । गुणातीत होनेसे जरा, व्याधि, मृत्यु आदि सब प्रकारके
दुःखोंसे मुक्ति हो जाती है और मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता
है । फिर उसका पुनर्जन्म होता ही नहीं ।

अमृतम् अश्नुते—(वह) अमृत (अमरता)का अनुभव
करता है ।

देहसे तादात्म्य (एकता) माननेसे ही प्राणी अपनेको
मरणधर्मा समझता है । देहके सम्बन्धसे होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोंमें
सबसे बड़ा दुःख मृत्यु ही माना गया है । पुरुष स्वरूपसे है तो
अमर ही, किंतु भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त होनेसे और नाश
होनेवाले शरीरको अमर रखनेकी इच्छासे इसे अमरताका अनुभव
नहीं होता । विचारकुशल पुरुष देहसे तादात्म्य नष्ट होनेपर
अमरताका अनुभव करता है ।

पूर्व श्लोकमें 'मद्भावम् अधिगच्छति' पदोंसे भगवद्भावकी प्राप्ति कही गयी एव यहाँ 'अमृतमश्नुते' पदोंसे अमरताका अनुभव करनेको कहा गया—वस्तुतः दोनों एक ही बात है। इसी प्रकार कर्मयोगी भी अमरताका अनुभव करता है 'यश्च शिष्टमृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' (गीता ४ । ३१) ।

गुणोंके विषयमें ज्ञातव्य बातें—

भगवान् कहते हैं कि पुरुष (जीव) मेरा ही अंश, अविनाशी है। मेरा अंश होनेसे मेरी (भगवान्की) सहधर्मता (सत्-चित्-आनन्द) की प्राप्तिमें इस (जीव) का पूर्ण अधिकार है। प्रकृतिजन्य गुणोंका सङ्ग करके यह अपनेको पराधीन मानने लगता है। वह अविनाशी तथा मुक्त होता हुआ भी बन्धनमें पड़ जाता है, प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है, अपनेको बनी-मानी मानता है और इन पदार्थोंके आने-जानेसे अपना गरिमाकी कसौटी लगाता है। सिक्केका अधिक सग्रह होनेपर और पदार्थोंसे भोग भोगनेपर अपनेमें सुखका अनुभव करता है एव राजी होता है। इन पदार्थ, योग्यता, अधिकार आदिसे अपनेको बड़ा मानकर और इनके अभावमें छोटापनका अनुभव कर सुखी-दुःखी होना, राजी-नाराज होना—यही जीवका गुणोंके द्वारा बँध जाना है। बन्धन तर्मांतक है, जबतक यह अपने स्वतः सिद्ध स्वरूपकी तरफ नहीं देखता।

प्रकृतिजन्य गुणोंके साथ तादात्म्य एव अनेक प्रकारके भावों और क्रियाओंमें तदाकारता तथा उनसे लाभ लेनेकी भावनासे यह

पद्महवे श्लोकमें भी 'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः ॥' पदोंसे भगवान् कहते हैं कि मुझे प्राप्त होकर महात्माजन दुःखालय एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ।

वर्तमानमे शरीरके साथ स्वयंकी एकता (तादात्म्य) माननेसे ही पुनर्जन्म होता है और शरीरमे होनेवाले जरा, व्याधि आदिके दुःखोको प्राणी अपनेमें मान लेता है । शरीर गुणोके सङ्गसे उत्तम होता है (१३ । २१) । गुणातीत महापुरुष देहके उत्पादक गुणोसे रहित होनेसे देहमे होनेवाले सभी दुःखोसे मुक्त हो जाता है । अतएव प्रत्येक मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले गुणातीत हो जाना चाहिये । गुणातीत होनेसे जरा, व्याधि, मृत्यु आदि सब प्रकारके दुःखोसे मुक्ति हो जाती है और मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है । फिर उसका पुनर्जन्म होता ही नहीं ।

अमृतम् अश्नुते—(वह) अमृत (अमरता) का अनुभव करता है ।

देहसे तादात्म्य (एकता) माननेसे ही प्राणी अपनेको मरणधर्मा समझता है । देहके सम्बन्धसे होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोमे सबसे बड़ा दुःख मृत्यु ही माना गया है । पुरुष स्वरूपसे है तो अमर ही, किंतु भोग और ऐश्वर्यमे आसक्त होनेसे और नाश होनेवाले शरीरको अमर रखनेकी इच्छासे इसे अमरताका अनुभव नहीं होता । विचारकुशल पुरुष देहसे तादात्म्य नष्ट होनेपर अमरताका अनुभव करता है ।

आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य इसपर ध्यान ही नहीं देता कि उसके सामने ही गुणो (शरीर, ससार) में परिवर्तन हो रहा है, किंतु वह स्वयं कभी नहीं बदलता । घटना और क्रियाएँ अनेक होती हैं, पर 'मैं' एक (सवका द्रष्टा) हूँ । वस्तुतः गुणोसे पृथक् होते हुए भी वह अपनी पृथक्ताका अनुभव नहीं करता । यही जीवकी महान् भूल एवं भटकनेका खास कारण है ।

भगवान् गुणोके परिवर्तनका वर्णनकर यह लक्षित कराते हैं कि गुणोका घटना, बढ़ना, ऊँच-नीच योनियोमें जन्म होना, गुणोके द्वारा प्रकाश, ज्ञान, प्रवृत्ति, लोभ, प्रमाद और मोह आदि वृत्तियोका होना—यह सब दृश्य (कार्य) है । इनका परिवर्तन अपने सामने है । जन्म-मरण, व्याधि, वृद्धावस्था, हलचल आदि एवं सुखी-दुखी होना अपने स्वरूपमें नहीं है ।

अन्तमें भगवान् कहते हैं कि 'जैसे मैं इन गुणोसे सर्वथा असम्बद्ध, असस्पृष्ट और निर्लिप्त हूँ, वैसे ही मनुष्य (जीवमात्र) भी है ।' अतः मनुष्योको इसका अनुभव करना चाहिये । इसके पूर्ण अनुभवका नाम ही अमरता है । भगवान् ने (गीता १४ । २ में) 'मम साधर्म्यमागताः' पदोद्वारा जो बात कही है, उसे ही यहाँ 'मद्भावम्' तथा 'अमृतमश्नुते' पदोसे दोहराया है । तात्पर्य है कि जो मनुष्य इस कथनकी ओर ध्यान देगा, उसका मनुष्य-जन्म सफल हो जायगा ।

शङ्का—इन गुणोके वर्णनका क्रम पाँचवें श्लोकसे दसवेतक जैसा भगवान् ने रखा है, वैसे न रखकर निम्नलिखित प्रकारसे रखा जाता तो ठीक लगता । दसवे श्लोकसे पाँचवें श्लोकतकका

प्राणी सुखी, दुःखी होता रहता है । क्रिया और भावनाकी अपेक्षा सुख मिलनेकी इच्छा ही बन्धनमें मुख्य हेतु है ।

यद्यपि गुणजन्य वृत्तियोसे सुख मिलता हुआ दीखता है, पर इनसे वास्तविक सुख मिलना असम्भव है, क्योंकि इनमें सुख है ही नहीं, प्रत्युत भगवान् ने तो इन्हे दुःखोका हेतु बताया है* । सांसारिक सुखकी चाहके कारण उस (स्वयं) की दृष्टि अपने स्वरूपानन्दकी ओर जाती ही नहीं । वह (स्वयं) नहीं जान पाता कि मैं इन तीनों गुणोंसे अतीत, अविनाशी, साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माका अंश हूँ, प्रत्युत प्रकृतिजन्य गुणों एवं इनके कार्य (पदार्थादि) की ओर आकृष्ट होता रहता है । फल-स्वरूप कभी (सात्त्विक) सुखमें, कभी (राजस) कर्मों और कभी (तामस) मोह, प्रमाद एवं आलस्यमें रहता हुआ संतुष्ट नहीं हो पाता और कभी संतुष्ट हो सकता भी नहीं, क्योंकि तीनों गुण तो बदलते रहते हैं और स्वयं एक रूप रहता है, फिर इन आगन्तुक गुणोंसे सुखी कैसे हो सकता है ? इस प्रकार यह तीनों गुणोंमें मोहित होनेके कारण जन्म-मृत्युरूप जालमें फँसा रहता है ।

* ये हि ससर्गजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

‘जो (ये) इन्द्रिय तथा विषयोंके मयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे (यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी) निःमदेष्ट दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, अतः हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उन (भोगों) में नहीं रमता ।’

आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य इसपर ध्यान ही नहीं देता कि उसके सामने ही गुणो (शरीर, ससार) में परिवर्तन हो रहा है, किंतु वह स्वयं कभी नहीं बदलता । घटना और क्रियाएँ अनेक होती हैं, पर 'मैं' एक (सवका द्रष्टा) हूँ । वस्तुतः गुणोसे पृथक् होते हुए भी वह अपनी पृथक्ताका अनुभव नहीं करता । यही जीवकी महान् भूल एव भटकनेका खास कारण है ।

भगवान् गुणोके परिवर्तनका वर्णनकर यह लक्षित कराते हैं कि गुणोका घटना, वदना, उँच-नीच योनियोमें जन्म होना, गुणोके द्वारा प्रकाश, ज्ञान, प्रवृत्ति, लोभ, प्रमाद और मोह आदि वृत्तियोका होना—यह सब दृश्य (कार्य) है । इनका परिवर्तन अपने सामने है । जन्म-मरण, व्याधि, वृद्धावस्था, हलचल आदि एव सुखी-दुखी होना अपने स्वरूपमें नहीं है ।

अन्तमें भगवान् कहते हैं कि 'जैसे मैं इन गुणोसे सर्वथा असम्बद्ध, असस्पृष्ट और निर्लिप्त हूँ, वैसे ही मनुष्य (जीवमात्र) भी है ।' अतः मनुष्योको इसका अनुभव करना चाहिये । इसके पूर्ण अनुभवका नाम ही अमरता है । भगवान् ने (गीता १४ । २ मे) 'मम साधर्म्यमागता.' पदोद्वारा जो बात कही है, उसे ही यहाँ 'मद्भावम्' तथा 'अमृतमश्नुते' पदोसे दोहराया है । तात्पर्य है कि जो मनुष्य इस कथनकी ओर ध्यान देगा, उसका मनुष्य-जन्म सफल हो जायगा ।

शङ्का—इन गुणोके वर्णनका क्रम पाँचवें श्लोकसे दसवेतक जैसा भगवान् ने रखा है, वैसे न रखकर निम्नलिखित प्रकारसे रखा जाता तो ठीक लगता । दसवे श्लोकसे पाँचवे श्लोकतकका

क्रम—सर्वप्रथम दो गुणोंको द्वाकर एक गुणके बढ़नेकी बात (गीता १४ । १०), गुणोंद्वारा विजय किये जानेपर मनुष्यको क्रमशः विशिष्ट कर्ममें लगाना (१४ । ९), देहाभिमानी पुरुषका गुणोंद्वारा बाँधा जाना (१४ । ५) और अन्तमें प्रत्येक गुण पृथक्-पृथक् किस प्रकारसे बाँधता है (१४ । ६-८) इसका वर्णन; किंतु भगवान्ने इससे ठीक विपरीत क्रम रखा है, इसका क्या कारण है ? और इसी अध्याय (चौदहवें) में गुणोंका वर्णन करनेका उद्देश्य क्या है ?

समाधान—उपर्युक्त प्रश्नोंके समाधानके लिये इस अध्यायमें आये श्लोकोंके सम्वन्ध-क्रमको विहगमदृष्टिसे, किंतु ध्यानपूर्वक देखना चाहिये—दूसरे श्लोकमें भगवान् परमोत्तम ज्ञानकी महिमा बताने हुए कहते हैं कि इस ज्ञानको धारण करनेवाले महापुरुष महाप्रलयकालमें भी व्यथित नहीं होते एव महासर्गके आदिमें पुनः उनका जन्म नहीं होता और जिनका जन्म होता है, उनका वर्णन तीसरे-चौथे श्लोकोंमें हुआ है कि जबतक प्रकृति-पुरुषका माना हुआ संयोग बना हुआ है, तबतक महासर्ग और महाप्रलय होनेपर भी जीवको जन्म-मृत्युसे छुटकारा नहीं मिलेगा । अब यह जानना स्वाभाविक हो जाता है कि पुरुषको प्रकृति कैसे बाँधती है, ताकि यह जानकर प्रकृतिके बन्धनसे छूटा जा सके । तब यह बताया गया कि प्रकृतिके कार्य तीनो गुण ही देहधारी पुरुषको बाँधते हैं (१४ । ५) । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि गुणोंका क्या है और वे कैसे बाँधते हैं ? इसके उत्तरमें श्रीभगवान्को

छ., सात और आठ—इन तीनों श्लोकोंमें क्रमशः सत्त्व, रज और तमोगुणका स्वरूप तथा उनके द्वारा जीवको बाँधे जानेका प्रकार बताना पड़ा। 'कौन-सा गुण जीवको किस व्यापारमें लगाकर बाँधता है?'—इस प्रश्नके उत्तरमें नवम श्लोकमें बताया गया कि प्रत्येक गुण मनुष्यपर अधिकार कर अपने-अपने कार्योंमें लगाता है। अपने-अपने विशिष्ट व्यापारमें एक ही गुण कैसे लगाता है? इसके समाधानमें दसवें श्लोकमें कहा गया कि किन्हीं भी दो गुणोंको दबाकर तीसरा गुण अपना अधिकार जमा लेता है, फिर अपने विशिष्ट कार्योंमें लगाता है। इस प्रकारसे पर्यालोचन करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि पाँचवेंसे दसवें श्लोकतक जो क्रम भगवान् ने रखा है, वही ठीक है।

मूलमें यह गुणोंका प्रकरण तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकसे बीजरूपमें कहा गया, जिसका विशद वर्णन चौदहवें अध्यायके चौदह श्लोकोंमें (पाँचवेंसे अठारहवेंतक) हुआ है। गुणोंके वर्णनमें भगवान् का यह भी लक्ष्य है कि मनुष्यमात्रको अन्त समयसे पहले ही किसी प्रकारसे अपने कल्याणका साधन (अपने गुणातीत स्वरूपका अनुभव) कर लेना चाहिये। गुणोंकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन ग्यारह, बारह और तेरहवें श्लोकोंमें हुआ है। फिर चौदह और पंद्रह दोनों श्लोकोंमें तीनों गुणोंकी वृद्धिमें प्राण त्यागनेवालेकी गति का विवेचन किया गया है। आगे कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, अतः सोलहवें श्लोकमें कर्मफल बताकर गुणोंके कार्य—वृत्तियोंका लक्षण सत्रहवें श्लोकमें वर्णित किया है। इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें गुणोंद्वारा प्रकृतिस्थ पुरुषको बाँधे जानेका उपक्रम

किया था, उसका अठारहवें श्लोकमें गुणोंकी स्थितिमें गति बताते हुए उपसंहार किया गया है । भगवान् चाहते हैं कि समस्त जीव गुणातीत होकर मुझे प्राप्त हो जायें । इस हेतु उन्नीसवें और बीसवें (१४ । १९-२०) दोनों श्लोकोंमें क्रमशः गुणातीत होनेका उपाय एवं फल बताया गया है ।

वस्तुतः यह प्रकरण सगुण-निर्गुण उपासनाका है, जो बारहवें अध्यायसे प्रारम्भ है, बारहवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुनद्वारा किये गये सगुण-निर्गुण उपासना-विषयक प्रश्नके उत्तरमें उन्नीस श्लोक बारहवें अध्यायके, चौतीस श्लोक तेरहवें अध्यायके और बीस श्लोक चौदहवें अध्यायके—इस प्रकार कुल तिहत्तर (७३) श्लोक भगवान् लगातार बोलते ही गये । जैसे भक्तिका विशेष वर्णन होनेके कारण बारहवाँ और पंद्रहवाँ अध्याय 'गीताका भक्तियोग' कहलाता है, वैसे ही तेरहवें अध्यायके चौतीस श्लोक और चौदहवें अध्यायके बीस श्लोक तथा चौदहवें अध्यायके अन्तिम सात श्लोक (२१ से २७ तक) में वर्णित गुणातीत पुरुषविषयक प्रश्नोत्तर भी ज्ञानयोगसे सम्बन्धित होनेके कारण कुल इकसठ (६१) श्लोकोंका प्रकरण 'गीताका ज्ञानयोग' कहलाता है । गुणातीतके लक्षणोंका प्रकरण भी बड़े महत्त्वका है ।

सम्बन्ध—

गुणातीत पुरुष दुःखोंसे मुक्त होकर अमरताको प्राप्त कर लेता है—भगवान् के श्रीमुखसे ऐसी महत्त्वपूर्ण बात सुनकर अर्जुनके मनमें गुणातीत पुरुषके लक्षण जाननेकी जिज्ञासा हुई । अतः वे

अगले श्लोकमें भगवान्से गुणातीत पुरुषके विषयमें तीन प्रश्न करते हैं ।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

कैलिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

भावार्थ—

पिछले श्लोकमें भगवान्के रहस्ययुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुन पूछते हैं कि—‘हे सर्वसमर्थ प्रभो ! जो इन तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है, वह किस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त होता है ? अर्थात् हम कैसे जानें कि उसने तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर लिया है ? उसका आचरण कैसा होता है तथा जिन तीन गुणोंकी बात आप अभीतक कहते आये हैं, उनका भलीभाँति अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् गुणातीत होनेका उपाय क्या है ?’

अन्वय—

प्रभो ! एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतीतः, कै., लिङ्गैः, भवति, च, किमाचारः (भवति), कथम्, एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतिवर्तते ॥ २१ ॥

पद-व्याख्या—

प्रभो—हे सर्वसमर्थ प्रभो !

गुणातीत पुरुषके विषयमें जैसा आप जानते हैं, वैसा दूसरा कौन जाननेवाला है, क्योंकि आप गुणोंसे रहित हैं ।

सातवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें ‘मामेभ्यः परमव्ययम्’ पदोंसे भगवान्ने स्वयं अपने लिये कहा है कि मैं तीनों गुणोंसे परे अविनाशी हूँ ।

एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः कैः लिङ्गैः भवति—
इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है ।

अर्जुनका प्रश्न है कि जो पुरुष गुणातीत हो जाता है, वह गुणोंके कार्य, शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदिके द्वारा कैसे जाना जायगा; क्योंकि गुणातीत अगोचर है । इन्द्रियों आदिसे तो गुणोंके कार्य शरीरादि ही दिखायी देते हैं । अतः साधारण मनुष्य कैसे जाने कि अमुक पुरुष गुणातीत है ?

किमाचारः (भवति)—(वह) किस प्रकारके आचरणवाला होता है ?

अर्जुनका दूसरा प्रश्न है कि गुणातीत पुरुष और साधारण मनुष्यके आचरणमें क्या अन्तर है ? अर्थात् गुणातीत पुरुषसे निषिद्ध आचरण तो स्वाभाविक ही होने सम्भव नहीं; क्योंकि निषिद्ध आचरणोंके मूलमें राग, आसक्ति और कामना ही कारण हैं । गुणातीतके आचरण सर्वथा ग्राह्य होनेसे अर्जुनके मनमें उन्हें सुननेकी जिज्ञासा हो रही है ।

च-तथा

कथम् एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते—किस उपायसे इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण किया जा सकता है ?

श्रीभगवान्से अर्जुन पूछते हैं कि गुणातीत होनेके विषयमें आपने अभी उन्नीसवे और बीसवे श्लोकोमें जो उपाय बताया उन्हें तो मैं समझ गया, पर इन उपायोंके अतिरिक्त क्या कोई और भी ऐसा उपाय है, जिससे गुणातीत हुआ जा सके ?

अर्जुनके इस तीसरे प्रश्नसे ऐसा भाव भी प्रतीत होता है कि इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करने हेतु (मेरे लिये) उत्तम उपाय कौन-सा है ?

सम्बन्ध—

अर्जुनके प्रश्नोंमेंसे पहले प्रश्नके उत्तरमें सर्वप्रथम निम्न दो श्लोकोंमें श्रीभगवान् गुणातीत पुरुषके निर्विकाररूप लक्षणोंका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

भावार्थ—

हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! साधक जबतक गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक उसमें सत्त्वगुणको समृद्ध करने और रजोगुण एवं तमोगुणको हटानेकी इच्छा तथा चेष्टा स्वाभाविकरूपसे विद्यमान रहती है । परंतु जब उसका गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब अन्तःकरणमें सत्त्व, रज और तम (तीनों गुणों) के कार्यों (क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह)की वृत्तियाँ (पूर्णतः) आनेपर भी गुणातीतके किंचिन्मात्र भी राग-द्वेषका विकार नहीं होता । व्यवहारकालमें (बाहरसे) लोकसंग्रह या लोकहितार्थ राग-द्वेष करता हुआ दीखनेपर भी वास्तवमें (गुणातीत होनेसे) उसमें राग-द्वेष होते नहीं । कहनेका तात्पर्य यह है कि भोक्तारूपसे

जिसे इन वृत्तियोका अभिमान था, उसने पूर्णताका अनुभव कर लिया ।
अतः वह वृत्तियोंसे कोई हानि-लाभ नहीं मानता ।

एकमात्र अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित होने एवं दूसरी स्वतन्त्र सत्ता न रहनेसे वह उदासीन किसके प्रति हो ? इसलिये ही लोकदृष्टिमें उसे उदासीनकी तरह 'स्थित' कहा गया है । गुण तो वहाँ (स्वरूप) तक पहुँचते ही नहीं तो फिर वे उसे कैसे विचलित कर सकते हैं ? 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' (गीता ३ । २८)—इस प्रकार समझता हुआ गुणातीत पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित रहता है और उस स्थितिसे कभी चलायमान नहीं होता ।

उपर्युक्त दोनो श्लोकोमें गुणातीत महापुरुषके निर्विकार-रूप लक्षणोंका वर्णन हुआ है ।

अन्वय—

पाण्डव, प्रकाशम्, च, प्रवृत्तिम्, च, मोहम्, एव, सम्प्रवृत्तानि, न, द्वेष्टि, च, न, निवृत्तानि, काङ्क्षति ॥ २२ ॥

यः, उदासीनवत्, आसीनः, गुणैः, न, विचाल्यते, गुणाः, एव, वर्तन्ते, इति, यः, अवतिष्ठति, न, इङ्गते ॥ २३ ॥

पद-व्याख्या—

पाण्डव—हे पाण्डुपुत्र अर्जुन !

प्रकाशम्—प्रकाश ।

इन्द्रियो और अन्तःकरणमें स्वच्छताका नाम प्रकाश है, जिससे विषयको याथातथ्य समझा जाता है ।

गुणातीत पुरुषमें ज्ञान और शान्तिका कभी अभाव नहीं होता, यहाँ सत्त्वगुणके कार्यमें केवल 'प्रकाश' ही लिया गया है । 'प्रकाश'के अन्तर्गत सात्त्विक ज्ञानको भी समझना चाहिये; क्योंकि स्वच्छतामें स्वतः ज्ञान प्रकाशित होता है । गुणातीत पुरुषका गुणोंके साथ सम्बन्ध न रहनेसे उसे उस (प्रकाश) वृत्तिसे रागरूप विकार नहीं होता । तत्त्वका अनुभव होनेसे स्वयंमें कोई अन्तर* नहीं पड़ता, किंतु इन्द्रियो और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलताका बोध होता है और इनका अपने स्वरूपके साथ सम्बन्ध है—ऐसा भ्रम मिट जाता है ।

च—और

प्रवृत्तिम्—कार्य करनेका भाव और क्रिया ।

यद्यपि रजोगुणके अन्य कार्य लोभ, अशान्ति, स्पृहा और आसक्ति आदि गुणातीत पुरुषमें नहीं होते, किंतु रजोगुणके बढ़नेपर प्रवृत्ति (कार्य करनेका भाव और क्रियाएँ) उसके द्वारा भी होती हैं । ऐसी प्रवृत्तिकी वृत्ति उत्पन्न होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें स्थित रहता है । अतः उसके अन्तःकरणमें प्रवृत्तिके प्रति राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न नहीं होते ।

च—तथा

मोहम्—आलस्य, निद्रा और व्यावहारिक कार्यमें भूल होना ।

* साधनावस्थामें साधक स्वयंको जैसा—देहसे निर्लिप्त, असम्बद्ध, निर्विकार मानता था (जो कि वास्तवमें है), गुणातीत होनेपर उसे वैसा ही अनुभव होता है । अतः उसमें मान्यता मिटनेके सिवाय कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि जैसा पहले मानता था, वैसा ही अनुभव हुआ है ।

यद्यपि तमोगुणकी अन्य वृत्तियाँ—अज्ञान, प्रमादादिका गुणातीत पुरुषमें सर्वथा अभाव हो जाता है (स्वरूप-ज्ञानके नित्य रहनेसे शरीरमें मै-मेरारूप अज्ञान तो उसके पास आ ही नहीं सकता (गीता ४ । ३७) और बिना कर्ताकि* प्रमाद करे ही कौन ?) तथापि तमोगुणके बढ़नेपर गुणातीत पुरुषके शरीरमें भी आलस्य, निद्रा और व्यावहारिक कार्योंमें भूल आदि वृत्तियाँ होती हैं। शरीर-इन्द्रियो आदिमें इन वृत्तियोंके आनेपर उसकी इनके प्रति राग-द्वेषरूप विकारकी वृत्ति नहीं होती। तात्पर्य—गुणातीत पुरुषकी स्थिति सदैव एक-सी ही रहती है।

एव—भी

सम्प्रवृत्तानि न द्वेष्टि—(प्रकाशादि) वृत्तियोंके आनेपर उनसे द्वेष नहीं होता।

‘ये ऐसी वृत्तियाँ क्यों उत्पन्न हो रही हैं या हुई, ऐसी वृत्तियाँ नहीं आनी चाहिये’—इस प्रकारकी द्वेषवृत्ति गुणातीत पुरुषमें कभी उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि वृत्तियोंमें होनेवाले परिवर्तनोंके साथ वह अपना किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं मानता। इन वृत्तियोंके आने-जानेमें वह लाभ-हानि नहीं मानता; क्योंकि लाभ-हानि माननेमें

* वह पहले शरीरको मै-मेरा मानकर उससे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता (मूढतासे) अपनेको मानता था एवं अपने सुख-भोगके लिये प्रमाद करता था। परंतु जब शरीरके कारण प्रकृतिजन्य गुणोंसे अतीत (गुणातीत) हो गया (अर्थात् उसे गुणातीत अवस्थाका अनुभव हो गया), तब लोगोंकी दृष्टिमें क्रियाओंका कर्ता दीखनेपर भी वस्तुतः कर्ता नहीं है। फिर प्रमाद करनेका प्रश्न ही नहीं !

सम्बन्ध ही कारण है । साधारण प्राणी भी स्वरूपतः वृत्तियोंमें न मिलनेपर भी केवल अपनेको मिले हुए मान लेते हैं । यह मान्यता न माननेसे ही मिट सकती है, किसी अभ्याससे नहीं । जबतक संसारके साथ लिप्त रहता है, तबतक 'कैसे बचा जाय ?' इस जिज्ञासाकी अत्यावश्यकता है ।

च—और

न निवृत्तानि काङ्क्षति—वृत्तियोंके चले जानेपर उनके पुनरागमनकी इच्छा नहीं होती । गुणातीत पुरुष इन वृत्तियोंके प्रभावसे मुक्त होता है । अतः इनके चले जानेपर उसको ऐसी इच्छा कभी नहीं होती कि ये वृत्तियाँ पुनः आ जायँ । गुणातीत पुरुषमें जड-चेतनसे माने हुए सम्बन्धसे होनेवाले विकार नहीं होते ।

यः—जो ।

उदासीनवत् आसीनः—उदासीनकी तरह स्थित दीखता है ।

गुणातीत पुरुष तीनों गुणों तथा उनके कार्यरूप शरीरादि एवं वस्तु, व्यक्ति, घटना और परिस्थिति आदिसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है । उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणमें अन्तःकरण-सहित संसारका अभाव एवं परमात्माका भाव रहता है । अतः पक्षपात-रहित व्यवहार होनेसे वह उदासीनकी तरह स्थित कहा जाता है । वास्तवमें तो उसकी दृष्टिमें एक तत्त्वके सिवाय अन्य स्वतन्त्र सत्ता होती ही नहीं ।

शरीरका संसारसे एवं आत्माका परमात्मासे अटूट सम्बन्ध है; क्योंकि शरीर संसारका एवं आत्मा परमात्माका ही अंश है । जिस

प्रकार समुद्र और लहर—दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अपितु वे जलकी सत्तासे ही सत्तावाले हैं अर्थात् तत्त्वसे जलरूप ही हैं; उसी प्रकार शरीर और संसार—दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; अपितु वे परमात्माकी सत्तासे ही सत्तावाले हैं अर्थात् तत्त्वसे परमात्मस्वरूप ही हैं । इस प्रकार एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य कोई स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे गुणातीत पुरुषका संसारमें कोई आकर्षण नहीं रहता । इस कारण लोगोंकी दृष्टिमें वह उदासीनकी तरह दीखता है । उसकी दृष्टिमें 'नहीं' (जड संसार) है ही नहीं और 'है' (परमात्मतत्त्व) है ही, फिर वह किससे उदासीन हो !

मैं साधक, जिज्ञासु अथवा सेवक हूँ और मैं गृहस्थ, सम्पत्तिवान् अथवा भोगी हूँ—इन दोनों प्रकारकी मान्यताओंमें प्रथम मान्यता—'मैं साधक, जिज्ञासु अथवा सेवक हूँ'का प्रधान लक्ष्य चेतन परमात्माकी तरफ रहेगा और 'मैं गृहस्थ, सम्पत्तिवान् अथवा भोगी हूँ' इस मान्यतामें प्रधान लक्ष्य जड़ताकी तरफ रहेगा । जिसका लक्ष्य चेतन है, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति और निवृत्ति साधन होगी जिससे (वह जैसे-जैसे साधन करता जायगा, वैसे-वैसे) जड़ता सुगमतासे छूटती जायगी और अन्तमें चिन्मय तत्त्व परमात्मा ही रह जायगा । जिसका लक्ष्य जड़ताकी प्राप्ति है, वह चेतन तत्त्वकी तरफ तो ध्यान ही नहीं देगा और जड़ (नाशवान् होनेसे) स्वतः नष्ट हो जायगा, उसके पास रहेगी—आसक्ति, कामना, राग-द्वेषादि आसुरी सम्पत्ति; जिसके कारण उसे जन्मना-मरना पड़ेगा । सार यह निकला कि साधकका लक्ष्य चेतन होना चाहिये, न कि जड़ ।

लक्ष्य चेतन होनेसे उसे परमात्म-तत्त्वका अनुभव हो जाता है और वह लोगोकी दृष्टिमें उदासीनकी भाँति दीखता है ।

गुणैः न विचाल्यते—गुणोके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता ।

सम्पूर्ण क्रियाएँ, परिवर्तन और विकार गुणोमें होते हैं । गुणातीत पुरुष जब अपनेको गुणोसे परे अर्थात् उनसे सर्वथा निर्लिप्त (अतीत) अनुभव कर लेता है, तब गुणोमें होनेवाले परिवर्तन और क्रियाओ आदिसे उसमें राग-द्वेष आदि कोई विकार उत्पन्न नहीं होते, वह गुणोके द्वारा किसी प्रकार भी विचलित नहीं किया जा सकता* ।

गुणाः एव वर्तन्ते इति, यः अवतिष्ठति—गुण ही (गुणोमें) वर्तते हैं†—ऐसा (अनुभव करता हुआ) जो (सच्चिदानन्दधन परमात्मामे एकीभावसे) स्थित रहता है ।

इन्द्रियों और अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियोंके शब्दादि विषय—ये सभी गुणोके कार्य हैं । अतः इन्द्रियो आदिकी क्रिया—देखना,

* य लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिक ततः ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(गीता ६ । २२)

जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और (परमात्मप्राप्तिरूप) जिस अवस्थामें स्थित (योगी) बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता ।

† प्रकृतिजन्यगुणोसे उत्पन्न अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोका अपने-अपने विषयोमें विचरना ही 'गुणोका गुणोमें वर्तना' है ।

सुनना आदि ही 'गुणोंका गुणोमे' वरतना है। ऐसा अनुभवकर गुणातीत पुरुष गुणोंके कार्यों तथा उनकी परस्पर क्रियाओंसे सर्वथा निर्लिप्त अपने स्वरूपमें स्थित रहता है।

न इद्वते—(वह) उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता।

इस पदका तात्पर्य यह है कि गुणातीत पुरुषको गुण तो विचलित कर ही नहीं सकते, वह स्वयं भी अपने स्वरूपसे किसी कालमें विचलित नहीं होता; क्योंकि अविनाशी शुद्ध स्वरूपमें कभी कोई क्रिया होती ही नहीं (१४ । २)।

सम्बन्ध—

इसी अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनद्वारा पूछे गये तीन प्रश्नोंमेंसे दूसरे प्रश्नके उत्तरमें अगले दो श्लोकोंमें गुणातीत पुरुषके समतारूप आचरणका निरूपण करते हैं।

श्लोक—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

भावार्थ—

'गुणातीत पुरुष सुख-दुःख दोनों परिस्थितियोंमें सम तथा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें यथोचित व्यवहार-भेद रहते हुए भी उसकी दृष्टिमें ये (तीनों ही) प्रकृतिके कार्य (तत्त्वतः प्रकृति) ही हैं। फलस्वरूप इनकी प्राप्ति-अप्राप्ति, संयोग-वियोगमें उसे हर्ष-शोक नहीं होता। प्रिय-अप्रियकी

प्राप्तिमें उसकी बुद्धि सम रहती है। वह पुकारे जानेवाले अपने नामकी निन्दा-स्तुतिमें भी सम रहता है। वह सत्-असत्, हेय-उपादेय, सार-असारको ठीक-ठीक तत्त्वसे जाननेवाला होनेके कारण धीर अर्थात् अविचलित है।

वह 'अपने' कहे जानेवाले शरीरके मान-अपमानमें सम रहता है। उसकी दृष्टिमें अपना कोई शत्रु-मित्र है ही नहीं, किंतु अन्य लोग अपनी मान्यताके अनुसार उसे अपना शत्रु या मित्र मान सकते हैं। उस समय उसका व्यवहार अपने शत्रु-मित्र कहे जानेवालेमें भी पक्षपातरहित ही होता है। उसका सम्पूर्ण कर्मेभि कर्तृत्वका अभाव होता है। गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त होनेसे वह गुणातीत कहा जाता है।'

अन्वय—

समदुःखसुखः, स्वस्थः, समलोष्टाश्मकाञ्चनः, तुल्य-
प्रियाप्रियः, तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः, धीरः ॥ २४ ॥

सः, मानापमानयोः, तुल्यः, मित्रारिपक्षयोः, तुल्यः,
सर्वारम्भपरित्यागी, गुणातीतः, उच्यते ॥ २५ ॥

वद-व्याख्या—

समदुःखसुखः—सुख-दुःखकी परिस्थितियोंमें समान भाववाला।

सुख-दुःखका भोक्ता प्रकृतिस्थ पुरुष (प्रकृति और उसके कार्य गुणोंको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेवाला) ही होता है (गीता १३।२१)। गुणातीत पुरुषका प्रकृति और प्रकृतिके कार्य गुणोंका अपने स्वरूपसे यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रहता। अतः व्यवहारमें सुख-दुःखरूप बाह्य परिस्थितियों उसके कहे

जानेवाले अन्तःकरणमें विकार पैदा नहीं कर सकतीं, अर्थात् वह सुखी-दुःखी नहीं होता ।

स्वस्थः—निरन्तर अपने स्वरूपमें स्थित ।

सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिके संयोग-वियोगमें समान भाव-वाला होनेके कारण गुणातीत पुरुषको 'स्वस्थः' पदसे लक्षित किया गया है । तात्पर्य यह है कि वह कभी (किसी कालमें भी) अपने स्वरूपसे चलायमान नहीं होता । उसकी अपने स्वरूपमें ही एक-रस स्थिति रहती है जो कि पहलेसे ही थी ।

सम* लोष्टाश्मकाञ्चनः—मिट्टीका डेला, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला ।

चिन्मयताकी प्राप्ति होनेपर गुणातीत पुरुषका जड़पदार्थोंकी ओर आकर्षण नहीं रह जाता । इसलिये सोना, पत्थर और मिट्टीसे यथोचित व्यवहार करते हुए भी उसकी उनमें राग-द्वेषपूर्ण बुद्धि नहीं होती ।

तुल्यप्रियाप्रियः—प्रिय और अप्रियमें समान बुद्धिवाला ।

व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, घटना, स्वकृत-परकृत क्रियाएँ, देश-कालादि सभीके वाचक प्रिय-अप्रिय शब्द हैं । साधारण मनुष्योंका प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धके कारण इनके संयोग-वियोगमें प्रिय-अप्रियका भाव होता ही है, साथ ही उनके अन्तःकरणमें राग-द्वेष और हर्ष-

* छठे अध्यायके आठवें श्लोकमें 'कर्मयोगसे तत्त्वकी प्राप्ति करनेवाले महापुरुषोंके लिये भी इस पदका प्रयोग हुआ । यथा—'युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥'

शोकादि विकार भी होते हैं । किंतु गुणातीत पुरुषमें इनके संयोग-वियोगसे (अपने कहे जानेवाले शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिके विचारसे) अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान तो होता है, किंतु शरीरादिमें 'मै'-'मेरे'का भाव न रहनेके कारण इस अनुकूलता-प्रतिकूलतासे उत्पन्न राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते—यही तुल्यप्रियाप्रियता है ।

तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः—निन्दा-स्तुतिमें समान भाववाला ।

निन्दा-स्तुति वस्तुतः नामकी होती है । गुणातीत पुरुष नामसे अपना आसक्तिपूर्ण कोई सम्बन्ध नहीं रखता । अतः निन्दा करनेवालोंके प्रति उसका द्वेष नहीं होता और स्तुति करनेवालोंके प्रति उसका राग नहीं होता । इसी प्रकार स्तुति-निन्दासे उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक भी नहीं होते । इसीलिये गुणातीतको निन्दा-स्तुतिमें समान भाववाला कहा जाता है ।

धीरः—धैर्यवान् ।

नित्य-अनित्य, सार-असार आदिके तत्त्वको जानकर स्वतः सिद्धस्वरूपमें स्थित होनेसे गुणातीत पुरुष धैर्यवान् कहलाता है ।

सः—वह (गुणातीत)

मानापमानयोः तुल्यः—मान-अपमानमें समान भाववाला ।

मुख्यतः शरीरको लेकर ही मान-अपमानका अनुभव होता है । साधारण मनुष्योंकी शरीरमे अहंता-ममता होती है, इसलिये मान-अपमानसे उन्हें सुख-दुःख तो होता ही है, साथ ही मान-अपमान करनेवालोंके प्रति इष्ट-अनिष्टकी भावना भी उत्पन्न हो जाती है ।

अपने वास्तविक स्वरूपका बोध होनेसे गुणातीत पुरुषका शरीरके साथ अहंता-ममतायुक्त सम्बन्ध नहीं रहता । अतः शरीरके सम्बन्धसे होनेवाले मान-अपमान उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणमें सुख-दुःखका भाव उत्पन्न नहीं कर सकते । इसलिये मान-अपमान करने-वालोंके प्रति उसके अन्तःकरणमें राग-द्वेषकी वृत्ति उत्पन्न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता ।

मित्रारिपक्षयोः तुल्यः—मित्र-शत्रुके साथ व्यवहारमें पक्षपातरहित ।

यद्यपि गुणातीत पुरुषकी दृष्टिमें अपने कोई मित्र और शत्रु नहीं होते, किंतु दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसे अपना शत्रु अथवा मित्र मान भी सकते हैं । साधारण मनुष्यको भी दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार शत्रु या मित्र मान सकते हैं; किंतु इस बातका पता लगनेपर उस मनुष्यपर इस बातका असर पड़ता है, जिससे उसमें राग-द्वेष उत्पन्न हो सकते हैं । परंतु गुणातीत पुरुषपर (इस बातका पता लगनेपर भी) कोई असर नहीं पड़ता । वस्तुतः शत्रु-मित्रकी भावनाके कारण ही व्यवहारमें पक्षपात होता है । गुणातीत पुरुषके अन्तःकरणमें शत्रु-मित्रकी भावना ही नहीं होती । अतः अपने लौकिक मित्र, शत्रु या औरके प्रति उसके व्यवहारमें पक्षपात नहीं होता ।

समझौता कराते समय बाँटवारेमें गुणातीत पुरुषद्वारा अपने कहे जानेवाले पक्षवालेको कम (उतना ही, जितना वह प्रसन्नतापूर्वक सहन कर सकता है) और विपक्षवालेको कुछ अधिक पदार्थादि

देनेपर भी वह समता ही कहलायगी; क्योंकि अपने पक्षवालोंके प्रति न्याय और विपक्षवालोंके साथ उदारता होनी चाहिये । यह आदर्श और उत्तम व्यवहार है ।

सर्वारम्भपरित्यागी—सम्पूर्ण क्रियाओंको करते हुए भी कर्तृत्वरहित ।

सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके गुणोद्वारा ही होती हैं । गुणातीत पुरुष (अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभवहोनेके कारण) अपनेको किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं मानता । उसके सम्पूर्ण कर्म फलजनक अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते । अतः वह सम्पूर्ण कर्मोंके करते हुए भी कर्तृत्वरहित ही है, क्योंकि गुणातीत होनेके कारण उसका सम्बन्ध गुणोंसे तथा उनसे होनेवाली वृत्ति और क्रियाओंसे भी नहीं होता ।

गुणातीत उच्यते—गुणातीत कहा जाता है ।*

* गुणातीत होनेका सुगम उदाहरण और उसकी बाधाएँ—हमारे (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) द्वारा जो भी क्रियाएँ होती हैं, उनमें प्रथम क्रियाके समाप्त होने और दूसरी क्रियाके प्रारम्भ होनेसे पहले जो सधि-फल आता है, थोड़ा विश्राम होता है, वही निर्विकार गुणातीत (अक्रिय) अवस्था है । इस सधि-विश्राम, निर्विकार गुणातीत अवस्थाके लिये हमें कोई उद्योग-परिश्रम या चेष्टा नहीं करनी पड़ती, अपितु यह अवस्था सबकी नित्य स्वतः सिद्ध है । केवल प्रमादवश हम उस तरफ ध्यान नहीं देते और कुछ साधक ध्यान देने भी हैं तो इस अवस्थाका आदर नहीं करते । यही साधकसे भूल होती है, जो गुणातीत अवस्थामा अनुभव नहीं होने देती ।

जैसे शूला प्रत्येक स्थिति (आगे, पीछे या मध्य) में सम (जहाँसे शूलेकी रस्ती बँधी है, उसकी सीधमें) रहता है, उसी तरह गुणातीत

गुण प्रकृतिके कार्य है और गुणोके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि है। मन-बुद्धि आदिद्वारा अपने कारण गुणोका भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता, तो फिर गुणोके भी कारण प्रकृतिका वर्णन हो ही कैसे सकता है। जो प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है अर्थात् गुणातीत है, उसका वर्णन करना तो उन (बुद्धि आदि) के द्वारा सम्भव ही नहीं। वास्तवमें गुणातीतके ये लक्षण तात्त्विक स्वरूपमें तो होते ही नहीं, किंतु अन्तःकरणमें मानी हुई अहता, ममताके नष्ट हो जानेपर उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणके माध्यमसे ही ये लक्षण—गुणातीतके लक्षण कहे जाते हैं। इसीसे 'गुणातीत है' ऐसा न कहकर 'गुणातीतः स उच्यते' पदका प्रयोग किया गया।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो गुणातीत पुरुषके लक्षण-आचरण होते ही नहीं। नाशवान् जड़ (शरीरादि) से सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणके माध्यमसे ही ये (लक्षण-आचरण) गुणातीतके कहे जाते हैं। ये लक्षण-आचरण गुणातीत पुरुषको पहचाननेके सकेतमात्र हैं कि गुणातीत अवस्थाका अनुभव होनेके बाद अन्तःकरणके क्या लक्षण होते हैं। इसीलिये यहाँ 'गुणातीत है'—ऐसा न कहकर 'गुणातीत कहा जाता है' (गुणातीत उच्यते) ऐसा कहा गया है।

अवस्था (समता) क्रियामात्रके आरम्भसे पूर्व, आरम्भकाल, समाप्ति तथा समाप्तिके पश्चात् एक समान रहती है, ओर मध्यकाल (क्रियावस्था) में भी एक समान रहती है। परन्तु सावककी दृष्टि उस नित्य-निरन्तर रहने-वाली साम्यावस्थाकी ओर न होनेके कारण वह उस अवस्थाका अनुभव नहीं कर पाता।

गुणातीतके विषयमें महत्त्वपूर्ण बात —

उपर्युक्त चारो श्लोकोमे गुणातीत पुरुषके निर्विकाररूप लक्षणो और समतारूप आचरणोका जो वर्णन किया गया है, उसका आशय यह है कि साधकके अन्तःकरणमें जबतक राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार होते हैं, तबतक उसे सन्तोष नहीं करना चाहिये (यद्यपि उसका स्वरूप तो पहलेसे ही गुणातीत है) ।

विवेकशील साधक वैयर्थपूर्वक बुद्धिके द्वारा कई स्थलोपर समता रख सकता है, परंतु उपर्युक्त श्लोकोमे भगवान्ने गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोके प्रसङ्गमे ऐसे पाँच नाम (परिस्थिति, वस्तु, नाम, शरीर और न्याय) गिनाये हैं, जहाँ अच्छे-अच्छे साधक भी समतासे विचलित हो सकते हैं । यदि कोई साधक विवेकपूर्ण बुद्धिद्वारा इन पाँचो अवस्थाओमे विचलित नहीं होता, तो फिर वह भी सदा-सर्वदा, सर्वत्र 'सम' रह सकता है, अर्थात् गुणातीत हो जाता है—जो पहलेमे ही है । सामान्य साधककी दृष्टि बुद्धिकी समतातक होती है, जबकि गुणातीतकी समता स्वरूपगत होती है । गीताके पाँचवे अव्यायके उन्नीसवें श्लोकमें इन दोनो (साधक एवं गुणातीत) की समताका वर्णन इस प्रकार किया है—

इहैव नैर्जित. सर्गो येषां साम्ये स्थितं मन ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता. ॥

अर्थात् जिनका मन (बुद्धि) समभावमे स्थित है, उसके द्वारा जीवित-अवस्थामे ही सम्पूर्ण ससार जीन लिया गया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इससे वे ब्रह्ममे ही स्थित हैं ।

उपर्युक्त श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पदोंमें बुद्धिकी समता एवं 'ब्रह्मणि ते स्थिताः' पदोंसे स्वरूपकी समताकी ओर लक्ष्य है । तात्पर्य यह है कि साधक बुद्धिकी समताके लिये प्रयत्न करता है अर्थात् उसकी दृष्टि बुद्धिकी समतातक ही होती है । बुद्धिकी समता होनेपर स्वन स्वरूपगत समता प्राप्त हो जाती है । तात्पर्य यह है कि बुद्धि (शरीरादि) में सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर बुद्धिमें स्वाभाविक समताका अनुभव होता है, जो स्वरूपगत समता कहलाती है । वस्तुतः स्वरूप कभी विषम होता ही नहीं । साधक बुद्धिमें समता लानेका प्रयत्न करता है, जबकि गुणातीत पुरुषमें स्वाभाविक समता है ।

सम्बन्ध

इसी (चौदहवें) अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने श्रीभगवान्में गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेके उपाय पूछे थे । बाईसवेंसे पच्चीसवें श्लोकतक गुणातीतके निर्विकाररूप लक्षणों और समतारूप आचरणोंका वर्णन करके श्रीभगवान् अब तीसरे प्रश्नके उत्तरमें गुणातीत होनेका उपाय बताते हैं ।

श्लोक--

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

भावार्थ--

गुणातीत होनेकी जिज्ञासावाला साधक सत्सारासे पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेदका उद्देश्य रखकर, स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग कर भगवान्का अनन्यभावसे भजन करना है । अव्यभिचारी भक्तियोगके सेवनसे वह

तीनो गुणोंका भलीभाँति अतिक्रमण करके ब्रह्मकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है ।

अन्वय—

च, यः, अव्यभिचारेण, भक्तियोगेन, माम्, सेवते, स, एतान्, गुणान्, समतीत्य, ब्रह्मभूयाय, कल्पते ॥ २६ ॥

पद-व्याख्या—

च—और

य —जो (जीवन्मुक्ति चाहनेवाला मुमुक्षु) ।

अव्यभिचारेण भक्तियोगेन माम् सेवते—अव्यभिचारी भक्ति-रूप योगके द्वारा मेरा ही भजन करता है ।

अव्यभिचारिणी भक्तिका अर्थ है—अनन्यभक्ति । स्मरण रहे कि ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें श्रीभगवान्ने अर्जुनको बताया था कि अनन्य भक्तिद्वारा मुझे प्राप्त किया जा सकता है । तदनन्तर बारहवें अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देने हुए ही श्रीभगवान्ने यह बताया कि—निर्गुण-उपासको और अनन्य भक्तिवाले सगुण-उपासकोमेंसे अनन्य भक्तियुक्त सगुण उपासक ही श्रेष्ठ हैं । यहाँ भी श्रीभगवान्ने गुणातीत होनेके लिये अनन्यभक्तिको ही परमोत्तम साधन बताया है । तात्पर्य यह कि अनन्यभक्ति श्रीभगवान्के साकार-रूपके दर्शन और गुणातीत अवस्थाकी प्राप्ति—दोनोंको सुलभ बना देती है (गीता ११ । ५४) ।

यदि साधक ससारको महत्त्व दे और ससारकी वासना रखे तो उसकी वह भक्ति 'व्यभिचारिणी' है । इसके विपरीत यदि वह संसारसे

सर्वथा विमुख (ससारके नाशवान् सुखोसे उपरत—विरक्त) होकर एकमात्र परमात्मासे ही अनन्य प्रेम करता है तो उसकी वह भक्ति 'अव्यभिचारिणी' है । यदि वह (भक्त) ससारके प्राणियोंकी सेवा करता है, तो भगवत्स्वरूप या भगवान्की प्रजा समझकर करता है । जैसे पतिव्रता स्त्री सास-ससुर, देवर-जेठ आदिकी सेवा पतिके नातेसे ही करती है, क्योंकि वह जानती है कि इनकी सेवासे पति प्रसन्न होंगे, उसी प्रकार भगवद्भक्त भगवान्के नाते ही ससारके प्राणियोंकी सेवा करता है ।

इस प्रकार अव्यभिचारिणी भक्तिमें केवल एक परमात्माका ही लक्ष्य रहता है । साधक अपने लक्ष्यसे कभी किञ्चिन्मात्र विचलित नहीं होता । उसके उपास्य और आश्रय श्रीभगवान् ही होते हैं ।

'मुझे परमात्माको ही प्राप्त करना है' इस निश्चयमें इतनी शक्ति है कि साधक शीघ्र ही वर्मात्मा बनकर परमात्माकी प्राप्तिके योग्य बन जाता है (गीता ९ । ३०-३१) । अतएव प्रत्येक साधकको ऐसा निश्चय तो अवश्य ही कर लेना चाहिये ।

वास्तवमें अनन्य भक्तिमार्गके साधककी पारमार्थिक क्रियाएँ तो परमात्माकी प्राप्तिके लक्ष्यको लेकर ही होती हैं, पर उसकी व्यावहारिक, क्रियाएँ भी परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही होंगी । जो लोग धन, मानादि सासारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये श्रीभगवान्का भजन-पूजन करते हैं, उनकी इन सात्त्विक क्रियाओंको अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं कहा जा सकता । मुख्य बात यह है कि साधककी पारमार्थिक और व्यावहारिक क्रियाओंमें भेद होनेपर भी लक्ष्यका भेद

नहीं होता । अनन्य-भक्त एकमात्र श्रीभगवान्‌का ही पूर्ण आश्रय लेता है और अनन्य भक्तिसे गुणोंका सुगमतापूर्वक अतिक्रमण कर जाता है ।

सः एतान् गुणान् समतीत्य—वह इन तीनों गुणोंको मली-प्रकार अतिक्रमण कर ।

पूर्वोक्त गुणोंको (जिनका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकसे अठारहवें श्लोकतक हुआ) अच्छी प्रकार अतिक्रमण करनेके लिये ही उक्त पदका प्रयोग किया है ।

ब्रह्मभूयाय कल्पते—ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बन जाता है ।*

वस्तुतः परमात्मा सबको सर्वदा प्राप्त है । उनकी किसीसे देश, कालकी किञ्चिन्मात्र भी दूरी नहीं है । मनुष्य जब ससारके सम्मुख हो, उसका महत्त्व मानकर उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तभी वह परमात्मासे देश-कालकी दूरीका अनुभव करता है । जबतक परमात्मासे दूरीका अनुभव होता रहे, तबतक (ससारमें) राग—आसक्तिको दूर करनेके लिये साधन करना अत्यावश्यक है । सासारिक पदार्थों और क्रियाओंमें होनेवाली आसक्ति तभी मिटती है, जब साधक समस्त ससारसे सर्वथा विमुख होकर अनन्य भक्तिरूप योगमें संलग्न हो जाता है; तात्पर्य यह है कि निष्काम भगवद्भक्तके उपाय और उपेय दोनों एक भगवान् ही होते हैं । इसलिये अनन्य भक्तियोगका साधक भगवान्‌के आश्रित होकर संसारसे विमुख और परमात्माके सम्मुख परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही होता है ।

* दूसरे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'अमृतत्वाय कल्पते' पदसे भी अमरता अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिकी पात्रताका ही कथन हुआ है ।

मार्मिक बात

श्रीभगवान् ने यहाँ गुणातीत होनेके साधनरूप अपनी अनन्य भक्ति और उससे ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होनेका कथन किया है । इसपर सावकोके मनमें यह जिज्ञासा हो सकती है कि सगुण उपासनाके फलस्वरूप निर्गुण तत्त्वके प्राप्तिकी बात क्यों कही गयी ?

इसका समाधान यह है कि परमात्माके निर्गुण और सगुण स्वरूपमें परमार्थतः कुछ भी भेद नहीं है । गीतामें श्रीभगवान् ने निर्गुण उपासकोको अपनी प्राप्ति (१२ । ४में), गुणातीत पुरुषको भगवद्भावकी प्राप्ति (१४ । १९में) और ज्ञान-निष्ठावालेको पराभक्तिकी प्राप्ति (१८ । ५४ में) बतलायी है । इसी प्रकार (७ । २९में) श्रीभगवान् के अनन्य आश्रितोको ब्रह्मकी प्राप्ति और (१० । १०-११ में) सगुण उपासना (भक्ति) से तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होना बतलाया है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण, निर्गुण दोनों ही प्रकारके उपासकोको अन्तमें एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है । रुचि, योग्यता, श्रद्धा और विश्वासके अनुसार उत्साह तथा तत्परतापूर्वक चाहे जिस साधन-मार्गसे चला जाय, अन्तिम प्रापणीय वस्तु एक ही है । अतः साख्ययोग और कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवालेके लिये भी एक ही ध्येयकी प्राप्ति बतलायी गयी है (गीता ५ । ४-५) । श्रीभगवान् के किसी भी स्वरूपको इष्ट मानकर उनपर ही पूर्ण निर्भर होनेपर वे अपनी अहैतुकी कृपासे पूर्णताकी प्राप्ति करा देते हैं ।

गम्भीरतासे विचार किया जाय तो परमात्मतत्त्वको सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि रूपोसे पूर्णतया निरूपित नहीं किया जा सकता । वह (परमात्मा) अपार, असीम और अनन्त होनेके कारण मन, वाणी, इन्द्रियाँ आदिका विषय ही नहीं—
 ‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।’ (तैत्तिरीय उ० २ । ९) ।
 गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—‘मन समेत जेहि जान न बानी ।’
 उसी परमात्मतत्त्वको लक्ष्य करके सगुण और निर्गुण दो रूपोसे उसका कथन किया जाता है । सगुण और निर्गुण दोनों उसी परमात्मतत्त्वके विशेषण हैं । जो गुणरहित है, उसीमे सम्पूर्ण गुण रहते हैं और जिसमे सम्पूर्ण गुण रहते हैं, वह गुणोसे रहित है । वह तत्त्व ऐसा अलौकिक और विलक्षण है कि जितने ऋषि, मुनि, महात्मा, तत्त्वज्ञ, जीवनमुक्त, आचार्य महापुरुष हुए, वे सब उसके विषयमें जो कुछ कह गये, वह समग्र वर्णन यथार्थ है । इतना वर्णन होनेपर भी परमात्माका पूरा वर्णन हो चुका हो, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परमात्मा अपार, असीम तथा अनन्त है । इन्द्रियो, मन आदिके सीमित शक्तियुक्त होनेसे इनके द्वारा असीम परमात्मतत्त्वका पूर्णतया वर्णन हो पाना सम्भव नहीं है । उस तत्त्वकी तो बात ही क्या, उसकी विलक्षण शक्ति प्रकृति (माया) का भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके कार्य हैं । (ऐसा नियम है कि कार्य अपनेमे कारणको छीन नहीं कर सकता) जब इन्द्रियाँ आदिसे प्रकृतिका भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता, तब उनके द्वारा परमात्मतत्त्व (जो प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है) का पूरा वर्णन कैसे हो सकता है ? अतः इन्द्रियाँ, मन आदि भी अपने कारण—प्रकृतिसे परे परमात्मतत्त्वक

मार्मिक बात

श्रीभगवान् ने यहाँ गुणानीत होनेके साधनरूप अपनी अनन्य भक्ति और उससे ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होनेका कथन किया है । इसपर साधकोंके मनमें यह जिज्ञासा हो सकती है कि सगुण उपासनाके फलस्वरूप निर्गुण तत्त्वके प्राप्तिकी बात क्यों कही गयी ?

इसका समाधान यह है कि परमात्माके निर्गुण और सगुण स्वरूपमें परमार्थतः कुछ भी भेद नहीं है । गीतामें श्रीभगवान् ने निर्गुण उपासकोंको अपनी प्राप्ति (१२ । ४में), गुणातीत पुरुषको भगवद्भावकी प्राप्ति (१४ । १९में) और ज्ञान-निष्ठावालोंको पराभक्तिकी प्राप्ति (१८ । ५४ में) बतलायी है । इसी प्रकार (७ । २९में) श्रीभगवान् के अनन्य आश्रितोंको ब्रह्मकी प्राप्ति और (१० । १०-११ में) सगुण उपासना (भक्ति) से तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होना बतलाया है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण, निर्गुण दोनों ही प्रकारके उपासकोंको अन्तमें एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है । रुचि, योग्यता, श्रद्धा और विश्वासके अनुसार उत्साह तथा तत्परतापूर्वक चाहे जिस साधन-मार्गसे चला जाय, अन्तिम प्रापणीय वस्तु एक ही है । अतः साख्ययोग और कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवालोंके लिये भी एक ही ध्येयकी प्राप्ति बतलायी गयी है (गीता ५ । ४-५) । श्रीभगवान् के किसी भी स्वरूपको इष्ट मानकर उनपर ही पूर्ण निर्भर होनेपर वे अपनी अहैतुकी कृपासे पूर्णताकी प्राप्ति करा देते हैं ।

अपनी मानते हैं, पर उस मङ्गलमय विधान करनेवाले प्रभुको अपना नहीं मानते ! ऐसा करनेपर भी श्रीभगवान् हमसे रुष्ट नहीं होते । हम ही प्रभुसे विमुख होकर नाना प्रकारके दुःख पाते हैं ।

जब मनुष्य किसी साधारण व्यक्तिसे स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, तब वह याचक दाताके प्रति वृणा-द्वेष आदि न करके (चाहे दाताके आचरण, भाव आदि कैसे भी क्यों न हो) अपने अभीष्टको देखता है । फिर सच्चे हृदयसे परमात्म-प्राप्तिरूप साधनमे लगे हुए केवल सगुण और निर्गुण उपासक ही नहीं, अपितु अन्य धर्मावलम्बी साधक (बौद्ध, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि जो सच्चे भावसे अपने उद्धारकी इच्छासे स्व-स्व सम्प्रदायाचार्यों, महापुरुषोंके कहे अनुसार अनुष्ठानमे लगे हैं, वे) भी जिस स्वरूपकी उपासना करते हैं, उसमे अवश्य ही अपने इष्ट परमात्माको देखेंगे । अन्य उपासको एव उपासनाओंके प्रति हृदयमे आदरभाव रखकर साधकको केवल अपने साधन-मार्ग और पद्धतिका अनन्य भावसे अनुसरण करना चाहिये, क्योंकि उपासनामे अनन्य निष्ठासे ही शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है । इस प्रकार साधनानीसे साधन करते रहनेसे उसे सबमें अपने इष्टदेव—परमात्माके (जो वास्तविक तत्त्व है) दर्शन होते हैं । ऐसा साधक साधारण-से-साधारण प्राणीके प्रति भी अनादर और वृणाका भाव नहीं रख सकता ।

निर्गुण-उपासकोको अपनी प्राप्ति एव सगुण-उपासकोको निर्गुण-तत्त्वकी प्राप्ति कहनेका एक रहस्य यह भी हो सकता है कि उपासनाकी पृथक्-पृथक् प्रणालियोंको लेकर परस्पर न तो किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष करना चाहिये और न किसी

नहीं जान सकते । सभी महापुरुष कहते हैं कि वह तत्त्व सर्वव्यापक और सर्वसुद्ध है तथा सम्पूर्ण देश, काल, प्राणी, पदार्थोंसे अतीत होते हुए भी इनमें एकरस रहता है । ‘वह परमात्मतत्त्व सर्वत्र पूर्णरूपसे व्याप्त है’ इसी भावसे यदि सावक छोटी-से-छोटी प्रतिमामें परमात्माको परिपूर्ण मानकर उपासना करता है तो वह भी उसी तत्त्वको प्राप्त हो जाता है ।

परमात्मा ऐसे विलक्षण है कि हम उन्हें पूर्णतया नहीं जानते, परंतु वे हमें जानते हैं । श्रीभगवान्की यह महती कृपा है कि हम तो केवल उन्हें अपना मानते ही हैं, जब कि श्रीभगवान् हमें अपना जानते और मानते भी हैं । हम चाहे उनका स्मरण न भी करें, पर उनकी स्मृतिमें हम हैं । हम चाहे उनसे प्रेम न करें, पर वे हमारे परम सुद्ध, हमसे अवश्य प्रेम करते हैं । यदि हम परमात्माकी ओर अग्रसर होते हैं तो वे हमारा योग-क्षेम वहन करते हैं (गीता ९ । २२) और यदि हम उनसे विमुख होकर उनकी आज्ञा और विधानके विरुद्ध आचरण करते हैं तो भी हमें शुद्ध करनेके लिये वे प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हैं—इसे भी योग-क्षेम ही समझना चाहिये ।

श्रीभगवान् पक्षपातसे रहित हैं । वे आस्तिकोंका तो योगक्षेम वहन करते ही हैं, नास्तिक-से-नास्तिकका भी भलीभाँति पालन करते हैं । श्रीभगवान् हमेशा उसी कार्यमें खतः लगे रहते हैं, जिसमें जीवका कल्याण हो, अर्थात् उनका प्रत्येक विधान प्राणीके परम मङ्गलके लिये ही होता है । आश्चर्य यह है कि हम भगवत्प्रदत्त वस्तुओंको तो

अध्याय (गुणत्रयविभाग-ज्ञान-योग)के अन्तिम श्लोकमें स्पष्ट किया गया है ।

श्लोक—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं—क्योंकि ब्रह्म और अविनाशी—अमृत, शाश्वतधर्म, ऐकान्तिक सुख—इन सबका आश्रय मैं हूँ । अतः ये सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं ।

साधकोकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण प्रापणीय तत्त्व (परमात्मा) का भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन होनेपर भी वस्तुतः प्रापणीय तत्त्व एक ही है । अतः साधक किसी भी नामसे (उसे सर्वोपरि समझकर) उपासना करे, परिणाममें उसे एक ही तत्त्व (परमात्मा)का अनुभव होगा ।

अन्वय—

हि, ब्रह्मणः, च, अव्ययस्य, अमृतस्य, च, शाश्वतस्य, धर्मस्य, च, ऐकान्तिकस्य, सुखस्य, अहम्, प्रतिष्ठा ॥ २७ ॥

पद-व्याख्या—

हि—क्योंकि ।

ब्रह्मणः—ब्रह्म अर्थात् निर्गुण तत्त्व ।

च—और ।

अव्ययस्य अमृतस्य—अविनाशी अमृतका ।

जिस अविनाशी अमृतको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है, उसी अमृतका द्योतक है । वैसे देवता भी कालविशेषके मर तो हैं, किन्तु वे भी अन्ततः विनाशको प्राप्त होते हैं ।

सम्प्रदायवालोको हीन अथवा वृणाकी दृष्टिसे देखना चाहिये; क्योंकि सभी उपासनाओसे अन्तमे उर्सी एक तत्त्वकी प्राप्ति होगी । सम्प्रदायका आग्रह, आसक्ति, पक्षपात और अभिमान आदि वे ही लोग करते हैं, जो अपने सम्प्रदायके नियमोंका पालन न कर केवल बाहरसे देखा-देखी समारोहके समय जय-घोषमें लगे रहते हैं । ऐसे लोग अपना कल्याण न चाहकर लौकिक सुख-भोगमें फँसे रहते हैं । अतः साधकको चाहिये कि वह स्व-सम्प्रदायके नियमोंके अनुसार अपना जीवन बनाये, जो साधनमे अत्यन्त सहायक है ।

मन्त्रन्ध—

स्वाभाविक ही साधककी रुचि, योग्यता, श्रद्धा और विश्वासके अनुसार साधनाका रूप पृथक्-पृथक् होता है । गीताके तेरहवें ओर चौदहवें अध्यायोंके साधनाके फलस्वरूप अपनी प्राप्तिका वर्णन श्रीभगवान् ने विभिन्न स्थलोंपर अनेक पदोंसे किया है* । इससे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि भिन्न-भिन्न साधनोंमे प्राप्त फलमें भी विभिन्नता होती है, पर वस्तुस्थिति यह है कि नाम-भेद होनेपर भी प्राप्त होनेवाले तत्त्वमें कोई भिन्नता नहीं है । इसी एकताको इस चौदहवें

* तेरहवें अध्यायमे—‘अमृतमश्नुते’ (१३ । १२)

‘मद्भावायोपपद्यते’ (१३ । १८), ‘न स भूयोऽभिजायते’ (१३ । २३), ‘परा गतिम्’ (१३ । २८), ‘ब्रह्म सपद्यते’ (१३ । ३०) और ‘ये विदुर्यान्ति ते परम्’ (१३ । ३८) पदोंसे तथा चौदहवें अध्यायमे—‘परा सिद्धिमितो गताः’ (१४ । १), ‘मम साधर्म्यमागताः’ एव ‘सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च’ (१४ । २), ‘मद्भावं सोऽविगच्छति’ (१४ । १९) और ‘अमृतमश्नुते’ (१४ । २०) पदोंमे श्रीभगवान् अपनी प्राप्ति कहते हैं ।

अध्याय (गुणत्रयविभाग-ज्ञान-योग) के अन्तिम श्लोकमें स्पष्ट किया गया है ।

श्लोक—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं—क्योंकि ब्रह्म और अविनाशी—अमृत, शाश्वतधर्म, ऐकान्तिक सुख—इन सबका आश्रय मैं हूँ । अतः ये सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं ।

साधकोकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण प्रापणीय तत्त्व (परमात्मा) का भिन्न-भिन्न नामसे वर्णन होनेपर भी वस्तुतः प्रापणीय तत्त्व एक ही है । अतः साधक किसी भी नामसे (उसे सर्वोपरि समझकर) उपासना करे, परिणाममें उसे एक ही तत्त्व (परमात्मा) का अनुभव होगा ।

अन्वय—

हि, ब्रह्मणः, च, अव्ययस्य, अमृतस्य, च, शाश्वतस्य, धर्मस्य, च, ऐकान्तिकस्य, सुखस्य, अहम्, प्रतिष्ठा ॥ २७ ॥

पद व्याख्या—

हि—क्योंकि ।

ब्रह्मणः—ब्रह्म अर्थात् निर्गुण तत्त्व ।

च—और ।

अव्ययस्य अमृतस्य—अविनाशी अमृतका ।

जिस अविनाशी अमृतको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है, यह पद उसी अमृतका द्योतक है । वैसे देवता भी कालविशेषके लिये अमर तो हैं, किन्तु वे भी अन्ततः विनाशको प्राप्त होते हैं ।

(३२२) पद, पुष्पिकामे तेरह (१३) पद हैं, उवाचमे छ (६) पद एवं 'अथ चतुर्दशोऽध्यायः' ये तीन (३) पद हैं । इस प्रकारसे पदोका पूर्ण योग तीन सौ चौवालीस (३४४) है ।

(२) २७ श्लोकोमें आठ सौ चौसठ (८६४) अक्षर हैं, पुष्पिकामे इक्यावन (५१) अक्षर है, उवाचमे बीस (२०) अक्षर हैं एवं 'अथ चतुर्दशोऽध्यायः' आठ (८) अक्षरोमें है । अक्षरोंका पूर्ण योग नौ सौ तैतालीस (९४३) है । इस अध्यायके सभी श्लोक वत्तीस (३२) अक्षरोंके हैं ।

(३) इस अध्यायमे तीन उवाच हैं—दो 'श्रीभगवान् उवाच' और एक 'अर्जुन उवाच' ।

चौदहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके सत्ताईस श्लोकोमेंसे—पाँचवे श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला', छठे श्लोकके प्रथम चरणमे 'रगण' 'र-विपुला,' दसवे श्लोकके प्रथम चरण, पंद्रहवे श्लोकके तृतीय चरण और सत्रहवे श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला' एवं उन्नीसवे श्लोकके प्रथम चरणमे 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला' अनुष्टुप सज्ञावाले छन्द है ।

नवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' और तीसरे चरणमे 'नगण' प्रयुक्त हुआ है । इसलिये यह एक श्लोक संकीर्ण विपुलासंज्ञक छन्दका है । अन्य बीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
भारती युक्त
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणव्योचि
क्रमानु चतुर्दशोऽध्यायः

योगशास्त्रे
नाम

